वलेरी अलेक्सेयेव

मानवजाति की उत्पत्ति

प्रगति प्रकाशन

वलेरी अलेक्सेयेव

मानवजाति की उत्पत्ति

प्रगति प्रकाशन • मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

अनुवादक :
योगेन्द्र नागपाल, बुद्धिप्रसाद भट्ट (अध्याय २, ४, ६)

В. П. Алексеев
ПРОИСХОЖДЕНИЕ ЧЕЛОВЕЧЕСТВА
на языке хинди

Valery Alexeev
THE ORIGIN OF THE HUMAN RACE
in Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

A $\frac{0504000000-475}{014(01)-87}$ 350–87

विषय-सूची

प्रकाशकीय

सोवियत विज्ञान अकादमी के सहसदस्य वलेरी अलेक्सेयेव मानवविज्ञान और आदिम समाज के इतिहास के जाने-माने विशेषज्ञ हैं। विवेचनीय विषय से संलग्न सभी विषयों की सामग्रियों और तथ्यों का उपयोग तथा गहन विश्लेषण करते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें और लेख लिखे हैं। उनकी कई रचनाएं समस्याओं की प्रस्तुति और समाधान की दृष्टि से मानवोत्पत्ति विषयक विज्ञान में नयी दिशाएं प्रवर्तित करती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मानव की उत्पत्ति की समस्या से संबंधित विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

मानव के वानराभ पूर्वजों द्वारा सरलतम श्रम संक्रियाएं आरंभ करने की प्रक्रिया के नाना पक्षों पर ग़ौर करते हुए लेखक ने यह दिखाया है कि इस प्रक्रिया का मानवोत्पत्ति के आगे के क्रम पर, भाषा और चिंतन के उद्भव, सरलतम क़िस्म के सामाजिक संबंधों और सामाजिक संगठन के निर्माण तथा मानवजाति के इतिहास के आरंभिक चरणों में जीवन-यापन के रूपों पर क्या प्रभाव पड़ा। जीवविज्ञान, भूविज्ञान, भूगोल, भाषाविज्ञान तथा अन्य कई ज्ञान-शाखाओं की सामग्री का उपयोग करते तथा विचाराधीन समस्याओं की गहराई में पैठते हुए लेखक ने अनेक मौलिक और रोचक प्रेक्षण एवं सामान्यीकरणं किये हैं।

पुस्तक में नवीनतम तथ्यात्मक सामग्री का यथासंभव पूर्ण उपयोग करने तथा सामान्य संकल्पनाओं को उनके अनुरूप परि-शोधित करने का प्रयास किया गया है और साथ ही अनावश्यक ब्योरों से बचते हुए आदिम इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक चिंतन का विहंगम दृश्य प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। इसीलिए लेखक

ने सर्वत्र ही अपने-अपने क्षेत्र में विज्ञान की विभूतियों का उल्लेख किया है, आज भी जो प्रश्न हल नहीं हो पा रहे हैं उन पर चल रहा वादानुवाद दिखाया है। मानवजाति के जैविक विकास को सामाजिक विकास के प्रिज़्म से ही देखा गया है। इसके साथ ही अनेक ऐसी परिघटनाओं के जैविक उत्सों को उभारा गया है, जो आगे चलकर अपने जैविक आधार से अलग हो गयीं और जिन्हें मानव समाज की सच्ची सामाजिक उपलब्धियां माने बिना नहीं रहा जा सकता। आज भी यह लिखा जाता है कि मनुष्य में जो कुछ भी पाशविक है वह पशु समुदायों का अभिन्न अंग है, और प्राचीनतम लोगों की सामाजिक इकाइयों में जैविक व्यष्टिकता का बोलबाला था; कि सामाजिक जैविक के निषेध के रूप में प्रकट होता है। लेखक ने यह दिखाया है कि सामाजिक विकास का उच्चतम चरण है, जिसमें जैविक के सभी आधारभूत लक्षण समाविष्ट और उसके द्वारा शासित होते हैं।

पुस्तक में जिन समस्याओं का विवेचन किया गया है वे अपार विश्वदृष्टिकोणात्मक महत्व रखती हैं। ब्रह्मांड में मानव का स्थान, प्रकृति में मनुष्य की स्थिति, अनेक मानव संस्थाओं के उत्स, हमारे ग्रह पर लोगों के पहले क़दम, मनुष्य द्वारा अपने चारों ओर के संसार का संज्ञान – ये सब सभी युगों में लोगों के दार्शनिक और वैज्ञानिक अन्वीक्षण के शाश्वत विषय हैं, जो स्वयं अपने को और अपने इतिहास को समझने की मानव आत्मा की अनबुझ प्यास को ही प्रतिबिंबित करते हैं। इसलिए जब भी ऐसे तथ्य संचित होते हैं, जिनकी बदौलत इन विषयों को पहले से कुछ भिन्न दृष्टि से देखा जा सकता है, इन पर नया प्रकाश डाला जा सकता है, तो यह समाज के वैचारिक जीवन के तात्कालिक प्रश्नों, उसके वैज्ञानिक, धार्मिक और दार्शनिक विचारों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। इस प्रकार, प्राचीन होमिनिडों की आकृति और मानव संस्कृति के पहले अंकुरों को मानवजाति और उसकी संस्कृति के इतिहास की सर्वाधिक प्रासंगिक समस्याओं से जोड़नेवाला सेतु बनता है।

भूमिका

सृष्टि में मानवजाति का स्थान

ब्रह्मांड में जीवन का प्रसार

पृथ्वी जीवन का ग्रह है। अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा सारी मानवजाति के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते हैं, हालांकि जीवन क्या है – इसके बारे में हमारी समसामयिक धारणाएं अभी वांछनीय पूर्णता से दूर ही हैं।

विगत शती के उत्तरार्द्ध में तत्कालीन विज्ञान के स्तर के अनुरूप एंगेल्स ने जीवन की निम्न व्याख्या प्रस्तुत की थी : जीवन प्रोटीन पिंडों के अस्तित्व का रूप है। इस परिभाषा में जीवन के एक आधारभूत गुण पर बल दिया गया है : अपने रूपों और अभिव्यक्तियों की सारी विविधता के बावजूद पृथ्वी की परिस्थितियों में जीवन उन संकर अणुओं की अन्योन्यक्रिया पर ही आधारित होता है, जिनके प्रमुख रासायनिक घटक कार्बन और आक्सीजन होते हैं। मानव द्वारा पृथ्वी की सीमा लांघे जाने की पृष्ठभूमि में जीवन की आधारभूत समस्याओं पर हुए सैद्धांतिक कार्यों में यह प्राक्कल्पना प्रस्तुत की गयी है कि सजीव प्रणालियां सिद्धांततः भिन्न आधार पर भी काम कर सकती हैं, उदाहरणतः, ऐसे अणुओं की अन्योन्यक्रिया के आधार पर जिनमें कार्बन के स्थान पर सिलिकन हो सकता है (ज्ञात है कि सिलिकन के संकर यौगिक बनते हैं)। नये अनुसंधानों से इस विचार की पुष्टि हुई है कि संकर अणुओं की, जो जीवन के हमें ज्ञात सभी रूपों के आधार – प्रोटीन यौगिक – का निर्माण करते हैं, अन्योन्यक्रिया होती है। सो, एंगेल्स द्वारा दी गयी जीवन की परिभाषा पर्याप्त हद तक पूर्ण है, इसलिए भी कि जीवन के प्रोटीन-इतर रूपों की संभावना की जो सैद्धांतिक कल्पना की गयी है उसकी अभी तक न तो खगोलवैज्ञानिक प्रेक्षणों से और न ही

प्रयोगों से पुष्टि हुई है। बहरहाल, १९२४ में अ० ओपारिन तथा १९२९ में आई० हॉल्डेन की पथप्रदर्शक रचनाओं के प्रकाशन के साथ जीवन के आधारभूत सिद्धांतों के प्रायोगिक अध्ययन में जो रुचि आरंभ हुई उसके फलस्वरूप जीवन की अनुकूलन संभावनाओं तथा परिवेश की चरम परिस्थितियों में उसकी स्थिरता के बारे में कहीं अधिक गहन ज्ञान प्राप्त हुआ है। पिछले दशकों में अंतरिक्ष में जीवन की संभाव्य अभिव्यक्तियों और जीवविज्ञान के अंतरिक्षीय पहलुओं के बारे में बहिर्जीवविज्ञान (exobiology) के नाम से एक नयी ज्ञान-शाखा का गठन हुआ है। वैसे तो इसका आरंभ १८वीं शती के प्राकृतिक दर्शन की सूक्ष्मदृष्टि से माना जा सकता है, हां, परिशुद्ध प्रेक्षणों के स्तर पर यह तभी पहुंची जब मनुष्य ने अंतरिक्ष में पदार्पण किया। इन बहुसंख्य प्रेक्षणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जीवन परिवेश के प्रतिकूल प्रभावों को सहने की विराट क्षमता रखता है।

जीवन की सुनम्यता की सीमाएं कहां हैं और बाह्य परिस्थितियों के प्रति अनुकूलन का उसका परिसर कितना व्यापक है? विविध प्रेक्षणों और प्रयोगों के आंकड़ों से हमें इस प्रश्न का सामान्य उत्तर मिलता है। हमें ज्ञात है कि जल के खौलने के तापमान के निकट तक के तापमान में जीवन बना रहता है, बहुत कम तापमान भी वह सह लेता है, विषालु (टॉक्सिक) परिवेश – मर्करी क्लोराइड घोलों और अम्लों – में "घुस" जाता है, मेथैन, अमोनिया, कार्बन मोनोक्साइड में "सांस" लेता है। जीवन यदि प्रसुप्तावस्था को प्राप्त होता है तब तो परिवेश के परिवर्तनों के प्रति उसकी सहनशील-ता और भी अधिक आश्चर्यजनक होती है। अनेक मामलों में यह प्रसुप्त जीवन जीव संरचनाओं के निर्जलन के साथ जुड़ा होता है। स्वयं प्रकृति द्वारा संरक्षित इस अवस्था में जीवन और भी अधिक कठोर प्रभाव सह सकता है – तापमान १७०° सें० तक पहुंचने और प्रायः परम शून्य तक गिरने पर भी वह बना रहता है। ऐसी परि-स्थितियों में लंबी अवधि तक बने रहने के पश्चात फिर से जीवन-चक्रों का क्रम चल सकता है, जीवन के सामान्य प्रकार्य आरंभ हो सकते हैं तथा उसके लिए इतना लाक्षणिक और आवश्यक स्वजनन आगे चल सकता है। इस सबको देखकर ऐसे अनुमान लगाये गये

थे कि सौर मंडल के कुछ ग्रहों, सर्वप्रथम मंगल और शुक्र पर जीवन के किन्हीं रूपों के अस्तित्व की बहुत संभावना है। २०वीं शती के आरंभ में काफ़ी लंबे समय तक मंगल पर "नहरों" के जाल को वहां सुगठित जीवमंडल के होने का प्रमाण माना जाता रहा, जब तक यह सिद्ध नहीं हो गया कि इन नहरों का मूल जीवेतर है। ग० तीखोव ने अनेक वर्ष तक पृथ्वी के ऊंचे पर्वतीय स्थलों पर वनस्पतियों के तथा मंगल ग्रह के अवशोषण और परावर्तन स्पैक्ट्रमों का अध्ययन करते हुए उनके बीच निश्चित समानता पायी तथा पूर्णतः नयी ज्ञान-शाखाएं – खगोलवनस्पतिविज्ञान और खगोलजीवविज्ञान – प्रतिपादित करने का प्रस्ताव रखा। बहरहाल, जैसा कि हम जानते हैं, अंतरिक्ष के अध्ययन और उपयोग की दिशा में हो रहे सघन कार्य के बावजूद पृथ्वी से बाहर जीवन के चिह्न खोज पाने के बहुसंख्य अनुसंधान कार्यक्रमों से कोई निर्विवाद चिह्न नहीं मिले हैं। उत्साही लोग अभी भी मंगल पर विलुप्त हो गये जीवन के अवशेषों की खोज की संभावना की बातें करते हैं, किंतु वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे अनुमान विज्ञान-कथाओं के विषयों जैसे ही हैं।

जीवन की व्यापक अनुकूलन संभावनाओं के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है वह, सही-सही कहा जाये तो, जीवन का अंतर्निहित गुण नहीं, बल्कि अरबों वर्ष के दौरान उसके विकास का परिणाम हो सकता है। अनेक तथ्य यह बताते हैं कि उद्‌विकास की प्रक्रिया व्यष्टियों के एक दूसरे के ही नहीं, जीवन के परिवेश के भी अनुकूल बनने की प्रक्रिया है। इसका अर्थ है जीवन के क्षेत्र का अधिक व्यापक होना, नये-नये पारिस्थितिक कोष्ठकों में जीवन का व्याप्त होना। यह सोचा जा सकता है कि अपने विकास के उदयकाल में जीवन अधिक "कोमल", असुरक्षित था, परिवेश की विविधता के कम अनुकूल था। जीवाश्मिकी और जीवरसायन – दोनों ही ज्ञान-शाखाएं इस अनुमान की पुष्टि करती हैं। इस प्रकार, यदि कभी पृथ्वी के अतिरिक्त किसी अन्य संसार में जीवन की उत्पत्ति हुई है, जोकि सिद्धांततः संभव है, तो परिणामतः अब कोई भी पृथ्वी-इतर जीवन अपने रूपों तथा प्रकार्यात्मक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से बहुत विविधतापूर्ण हो सकता है। लेकिन यह सब अनुमान ही है, किसी तरह के कोई ठोस प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार, ब्रह्मांड में जीवन के "भूगोल" के बारे में बहुत-सी अटकलें, प्राक्कल्पनाएं तथा न्यूनाधिक रोचक विचार हमारे सामने हैं। कमी केवल प्रमुख बात की है – आनुभविक तथ्यों की, जो हमारे ग्रह के अलावा ब्रह्मांड में और कहीं जीवन की उपस्थिति की पुष्टि करें। ऐसे तथ्यों के अभाव को हम ध्यान में रखे बिना नहीं रह सकते। ऐसे संसारों की, जिनमें जीव बसते हैं, बहुलता के प्रश्न के सैद्धांतिक विश्लेषण के प्रयासों को न छोड़ते हुए हमें अपने आनुभविक संज्ञान को ही मानकर चलना होगा और हमारा संज्ञान यह कहता है कि हमें ज्ञात जीवन का प्रसार केवल हमारे ग्रह की सीमाओं में ही है।

बुद्धिसंपन्न जीवन का प्रसार (तथ्य)

पृथ्वी-इतर रेडियोसंकेत ग्रहण और विकोडित करने की 'ओज़्मा' नामक पहली परियोजना ग्रीन बैंक (पश्चिमी वर्जीनिया) की राष्ट्रीय रेडियोखागोलिक वेधशाला में एफ़० ड्रेक ने १९६० में क्रियान्वित की थी। विशेष यंत्रों की मदद से सूर्य से लगभग ११ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित दो तारों से रेडियोविकिरण ग्रहण किया गया। ड्रेक कई महीनों तक प्रेक्षण करते रहे, किंतु उनके कोई सकारात्मक परिणाम प्राप्त नहीं हुए। अमरीकी वैज्ञानिकों के कुछ ही समय पश्चात सोवियत रेडियोखगोलविज्ञानी व० त्रोइत्स्की ने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर निकटवर्ती ग्रह मंडलों से रेडियोसंकेत पकड़ने का काम किया। उन्होंने पृथ्वी से १० से ६० प्रकाश वर्ष तक की दूरी पर स्थित १२ तारों का अध्ययन किया। प्रत्येक तारे का पांच बार पंद्रह-पंद्रह मिनट तक अन्वीक्षण किया गया। कई घंटों के इन प्रेक्षणों से भी कोई सकारात्मक परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। दूसरे अनुसंधानकर्ताओं ने भी हमारे निकटवर्ती तारों के रेडियोविकिरण का प्रेक्षण किया। ये प्रेक्षण इतने नियमित रूप से तो नहीं हुए, जितने कि पूर्वोक्त अन्वीक्षण, तो भी काफ़ी लंबे समय तक चले। इनसे भी नकारात्मक परिणाम ही मिला।

अंतरिक्ष से रेडियोसंकेत ग्रहण करने के बजाय स्वयं दूसरे संसारों को ऐसे संकेत भेजने का प्रयास १९७४ में किया गया। ऐरेसिबो

(पुएर्टो-रिको) के विशाल रेडियोटेलीस्कोप की मदद से ऐसे संकेत भेजे गये। संदेश 'मेस्सये १३' नामक तारा पुंज की ओर लक्षित था। इस पुंज में अनुमानतः ३० ००० तारे हैं। अनुसंधान-कर्ताओं के मत में, इस पुंज के तारों के ग्रहों पर सभ्यताओं के होने की संभावना लगभग ०.५ है। रेडियोसंकेत को पृथ्वी से यहां तक पहुंचने में २४ ००० साल लगेंगे। सो, उत्तर आया भी तो ४८ ००० साल बाद आयेगा। कहना न होगा कि ऐसा परिप्रेक्ष्य निराशाजनक ही है। लेकिन उत्साही लोग इससे रुकनेवाले नहीं हैं। उन्होंने तो अंतरग्रहीय सूचनाओं के लिए कृत्रिम भाषा भी बना ली है।

सैद्धांतिक गणनाएं कितनी भी आश्वस्तकारी क्यों न लगें, तो भी रेडियोसंकेत भेजने और ग्रहण करने के कार्य से कोई परिणाम प्राप्त होना पूर्णतः अनिश्चित ही है, साथ ही यह काम बहुत महंगा पड़ता है। शायद, यही कारण है कि ब्रह्मांड के रेडियोविकिरणों का उनके संगठित स्वरूप का पता लगाने के विशेष प्रयोजन से स्थायी तौर पर प्रेक्षण नहीं किया जा रहा है। सफलता की आशा तो तभी की जा सकती है जबकि ऐसे प्रेक्षण लगातार, स्थायी तौर पर किये जायें। फ़िलहाल हमारे पास ऐसे कोई तथ्य नहीं हैं जिनसे इस बात का खंडन होता हो कि ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन, और सामान्यतः जीवन भी, केवल पृथ्वी पर ही है।

बुद्धिसंपन्न जीवन का प्रसार (समस्या)

मानवजाति के इतिहास में सदा ज्ञान की पूर्णता की अभिलाषा ज्ञान से आगे रही है। यही कारण है कि मानवजाति के ऐतिहासिक विकास के किसी भी क्षण में जहां संज्ञानात्मक संभावनाओं की सीमित-ता के फलस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पाया जा सकता वहां दार्शनिक अन्वेषण और सैद्धांतिक चिंतन-मनन होता है। ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन की समस्या के साथ भी यही हुआ है। यद्यपि तथ्यगत प्रेक्षण बहुत ही कम संख्या में हुए हैं और उनसे भी नकारात्मक परिणाम ही मिले हैं तथापि इस क्षेत्र में सूक्ष्म वैचारिक कार्य हुआ है और अनेक प्राक्कल्पनाएं प्रस्तुत की गयी हैं, जिनमें व्यापक दार्शनिक सामा-

न्यीकरण किया गया है। प्राक्कल्पनाओं के प्रवर्तक इनके मंडन के लिए न केवल खगोलीय और खगोलभौतिकीय प्रेक्षणों की, बल्कि ऐतिहासिक गवेषणाओं, पुरातत्वीय तथ्यों, समाजवैज्ञानिक मतों, इत्यादि की भी सहायता लेते हैं। ये प्राक्कल्पनाएं प्राकृतिक और मानविकी विज्ञानों के सच्चे संश्लेषण पर आधारित हैं, मानवजाति के इतिहास को नये दृष्टिकोण से देखने की प्रेरणा देती हैं और उसके भावी विकास के सर्वाधिक प्रासंगिक और जीवंत प्रश्नों को स्पर्श करती हैं।

विभिन्न देशों में अलग-अलग दार्शनिक उपागमों तथा विभिन्न विज्ञानों की जानकारी के आधार पर इस समस्या की जो सैद्धांतिक गवेषणाएं हुई हैं उन्होंने अनेक ऐसे प्रश्नों के उत्तरों में भी, जिन्हें सुलझाया जा चुका ही माना जाता था, दृष्टिकोणों की असाधारण विविधता को जन्म दिया है। यहां सभी मतों का अवलोकन करना न तो संभव ही है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है। इतना इंगित कर देना ही पर्याप्त होगा कि ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन के प्रसार के प्रश्न के उत्तरों का सारा परिसर दो चरम दृष्टिकोणों के बीच आता है। ये दृष्टिकोण सोवियत संघ में प्रकाशित पत्रिका 'वोप्रोसी फ़िलोसोफ़ीई' (दर्शन के प्रश्न) में १९७६-१९७७ में प्रस्तुत किये गये थे। १९७६ में सोवियत खगोलभौतिकीविज्ञानी इ० श्क्लोव्स्की ने अपने लेख में इस पक्ष में कई गणनाएं और सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत किये कि बुद्धिसंपन्न जीवन केवल पृथ्वी पर ही है और ब्रह्मांड में उसकी खोज करना व्यर्थ है। उन्होंने इंगित किया कि इस बात को देखते हुए मानवजाति के कंधों पर असाधारण दायित्व आता है। खगोलविज्ञानी न० कर्दाशेव ने १९७७ में छपे अपने लेख में ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन के केवल पृथ्वी पर होने के पक्ष में दिये जानेवाले तर्कों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया और यह विचार प्रतिपादित किया कि पृथ्वी के निकटवर्ती तारा पुंजों में भी और सारे ब्रह्मांड में भी बुद्धिसंपन्न जीवन के फैले होने की बहुत अधिक संभावना है। उसका पता लगाने तथा पृथ्वी-इतर सभ्यताओं के साथ संपर्क स्थापित करने का विशद कार्यक्रम उन्होंने तैयार किया है, जो विज्ञानसम्मत और व्यवहार की दृष्टि से विवेकसंगत है।

यहां यह मानना होगा कि दोनों विद्वानों के तर्क अनुपम हैं, अर्थपूर्ण ही नहीं, भावमय भी हैं, विचारोत्तेजक हैं, उद्वेलित करते हैं, और परिणामत: किसी एक को वरीयता प्रदान करना कठिन है। किंतु दोनों परस्परविरोधी हैं, सो दोनों में चयन करना पड़ता है ; जो संदेहास्पद लगता है उसे अस्वीकार करना तथा दोनों के जो मत तर्क-वितर्क में प्रकट किये जाने के बावजूद कहीं मेल भी खाते हैं उन्हें मिलाने का प्रयास करना चाहिए।

बहरहाल, विवाद की गहराई में जाने से पहले यह स्पष्ट कर लेना उचित होगा कि बुद्धिसंपन्न जीवन है क्या, पृथ्वी-इतर सभ्यताओं को ढूंढ़ते हुए हम अंतरिक्ष में क्या खोज पाने की उम्मीद रखते हैं, जीवों के दल, समूह या समुदाय के प्रसंग में "बुद्धिसंपन्न" का क्या अर्थ है।

श्क्लोव्स्की बुद्धिसंपन्न जीवन के बारे में क्या लिखते हैं? वह सुविख्यात सोवियत गणितज्ञ, साइबरनेटिक्स और जीवविज्ञान के सिद्धांतकार अ० ल्यापुनोव द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यात्मक परिभाषा का उपयोग करते हैं, जिसके अनुसार ऐसा जीवन पदार्थ की स्थिर अवस्था ही है ; इस स्थिरता का बना रहना अणुओं की अवस्था द्वारा कोडित सूचना से निर्धारित होता है। इस अत्यंत व्यापक परिभाषा के सार पर न जाकर (यह जीवन की बाह्य अभिव्यक्तियों को न देखते हुए एक प्रकार से भीतर से उसकी व्याख्या करती है) यहां हम इस बात पर ज़ोर देना चाहेंगे कि इस परिभाषा में प्रकार्यात्मक उपागम पर आधारित मूल्यांकनों का उपयोग किया गया है, जिनका मूल इन विचारों में है कि प्राकृतिक और कृत्रिम मस्तिष्क के बीच, चिंतनशील जीव और स्वचालित मशीन के बीच कोई आधारभूत अंतर नहीं है। न० कर्दाशेव भी इससे मिलती-जुलती प्रकार्यात्मक परिभाषा ही देते हैं।

लेकिन हमारे लिए इस मामले में बुद्धिसंपन्न जीवन की संरचना अथवा अंतर्य के वर्णन और परिभाषा की अपेक्षा उसकी बाह्य अभिव्यक्तियां ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। बाह्य अभिव्यक्तियों से ही तो हम यह पता लगा सकते हैं कि किसी तारा पुंज की सीमाओं में बुद्धिसंपन्न जीवन है या नहीं। इस दृष्टि से ऐसा सुसंगठित विकिरण ही, जिसकी प्राकृतिक कारणों से व्याख्या नहीं की जा सकती,

हमें इस बात का प्रमाण दे सकता है कि ब्रह्मांड के जिस भाग से वह आ रहा है वहां बुद्धिसंपन्न जीवन का अस्तित्व है। किंतु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अंतरिक्ष से ऐसे संकेत हमें अभी तक नहीं मिले हैं। लेकिन इस समस्या से अनेक सैद्धांतिक मत जुड़ गये हैं, जिनका हम अब अवलोकन करेंगे।

ब्रह्मांड में एकाधिक सभ्यताओं के अस्तित्व की प्राक्कल्पना के पक्षपोषण में सभ्यताओं के विकास के पथों के बारे में विचारों की भी बहुत बड़ी भूमिका है। ये विचार हमारे पृथ्वी के अनुभव पर, मानवजाति की प्रगामी गति के ऐतिहासिक चरणों पर आधारित नहीं हैं। इनमें तो पृथ्वी की सभ्यता के विकास की हमें ज्ञात दर को भविष्य पर लागू किया जाता है तथा तकनीकी प्रगति के चरम परिमाणों के संभाव्य अनुमान लगाये जाते हैं। सभ्यताओं के विकास की क्षमताओं का उल्लेख करते हुए कर्दाशेव यह मानते हैं कि तकनीकी क्षमता में हमारी सभ्यता से मिलती-जुलती सभ्यताओं के अलावा तकनीकी मामले में कहीं अधिक विकसित और भी दो क़िस्मों की सभ्यताएं हो सकती हैं: ऐसी सभ्यताएं, जिन्होंने अपने ग्रह मंडल और केंद्रीय तारे का उपयोग करना सीख लिया है, तथा ऐसी सभ्यताएं, जिन्होंने अपने तारा मंडलों या पुंजों के दिक् और संसाधनों को वश में कर लिया है।

ऐसा परिप्रेक्ष्य हमें कितना भी आकर्षक क्यों न लगे इसके रास्ते में कई बाधाएं हैं। इनमें से कुछ कर्दाशेव ने अपने तर्कों में स्वयं इंगित की हैं। वह इस बात के आश्वस्तकारी आंकड़े प्रस्तुत करते हैं कि आगामी १००-२०० वर्षों में मानवजाति का अंतरिक्ष में पहुंचना अवश्यंभावी है (आशय मनुष्य के अंतरिक्ष में पहुंचने के तथ्य मात्र से नहीं है, बल्कि अंतरिक्षीय विस्तार के काफ़ी बड़े भाग के उपयोग से है)। किंतु इससे भी अपरिवर्तनीय, अनिवार्य प्रक्रियाओं का प्रश्न हल नहीं होता। यही गति बनी रहने पर १,५०० साल बाद मानवजाति द्वारा व्यय की जानेवाली ऊर्जा हमारी मंदाकिनी – आकाशगंगा – के विकिरण से अधिक होगी, २००० साल बाद जितने पदार्थ का व्यय होगा उसका द्रव्यमान १ करोड़ मंदाकिनियों से अधिक होगा, उस समय तक बिट (bit) में सूचना का परिमाण ब्रह्मांड में परमाणुओं की संख्या से अधिक होगा, दूसरे शब्दों में,

सूचना को आत्मसात कर पाना या याद कर पाना सिद्धांततः असंभव होगा।

ऐसी परिस्थितियों में किसी पृथ्वी-इतर सभ्यता के साथ संपर्क यदि कभी हुआ भी तो उसका महत्व क्या रहेगा? मानव सहित जीवन के उच्चतर रूपों को प्रसुप्तावस्था में पहुंचाने की संभावनाओं की विवादास्पद प्राक्कल्पना को यदि एक ओर रहने दें तो किसी भी अंतरतारकीय उड़ान की और मानव जीवन की अवधि – ये दोनों काल-खंड पूर्णतः भिन्न कोटि के हैं। प्रकाश की गति के समीप की रफ़्तार पर काल-प्रवाह के परिवर्तन, उसके विरूपण की बातें भी फ़िलहाल प्राक्कल्पना तक ही सीमित हैं। ऐसे विरूपण का प्रभाव कितना भी अधिक क्यों न हो तो भी उसकी ब्रह्मांड के दृष्टि-गोचर भाग तक से तुलना नहीं की जा सकती। इस प्रकार, ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन के अत्यंत विरला होने की अत्यधिक संभावना को देखते हुए विभिन्न सभ्यताओं के वाहकों के बीच शारीरिक संपर्क अंतरिक्षीय काल के संदर्भ में भी प्रायः असंभाव्य घटना ही प्रतीत होता है। जहां तक रेडियोसंकेतों के आदान-प्रदान की बात है, ऐसे संभाषण के नियमित प्रबंध की तकनीकी जटिलता और उच्च व्यय को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन है कि तकनीकी स्तर में पृथ्वी के समकक्ष सभ्यताएं व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए पर्याप्त परिमाण में ऐसे आदान-प्रदान का प्रबंध कर पायेंगी। अधिक से अधिक इस बात की ही आशा की जा सकती है कि दूर कहीं "बुद्धि-बंधुओं" के होने का पता भर चल जाये। मात्र यह तथ्य भी विशाल दार्शनिक अर्थ रखता है, किंतु सीधे संपर्क के अभाव में यह अर्थ सीमित ही होगा। हमारा दृढ़ विश्वास है कि किन्हीं विवादास्पद "बुद्धि-बंधुओं" से कुछ उम्मीद लगाने के बजाय स्वयं अपने भरोसे जीना ही कहीं अधिक उचित है।

यहां विचाराधीन समस्याओं के प्रसंग में ऐसी प्राक्कल्पनाएं भी प्रचलित हुई हैं कि पृथ्वी पर अंतरिक्ष से कभी किन्हीं जीवों का आगमन हुआ था। कहा जाता है कि ये आगंतुक भित्तिचित्रों, नहरों, अंतरिक्ष अड्डों, विराट भवनों के रूप में पृथ्वी पर अपने प्रवास के चिह्न छोड़ गये और इनकी याद विभिन्न जनगण की किंवदंतियों में बनी हुई है। खेदवश, खींच-तानकर या सरासर जालसाज़ी से पेश

2–1291

किये गये प्रमाणों के कारण इस विचार की साख नहीं रही है। कुछ वर्ष पहले मध्य अमरीका के महापाषाण (मैगालिथ) स्मारकों की पृथ्वी-इतर उत्पत्ति को लेकर चली बहस, ऐसी अफ़वाहें कि नियंडरथल मानव के अफ़्रीका में मिले एक कपाल पर गोली लगने का निशान है, इत्यादि इस प्रकार के प्रमाणों के उदाहरण हैं। बहरहाल, न्यूनाधिक संतुलित उपागम की सीमाओं में रहते हुए हम यहां १६५६ में म० अग्रेस्त द्वारा पेश की गयी एक प्राक्कल्पना की समीक्षा का उल्लेख करना चाहेंगे, जो श्क्लोव्स्की (१६७६) ने की। प्राक्कल्पना यह है कि हमारी सभ्यता के विकास के आरंभिक काल में किसी दूसरे ग्रह के निवासी पृथ्वी पर आये थे और पृथ्वी-वासियों को संभवतः कुछ शिल्प एवं कलाएं सिखाकर अंतरिक्ष में वापस चले गये। प्राक्कल्पना अपने आप में सुसंगत और तर्कपूर्ण है, किंतु इसे प्रस्तुत करनेवाले विद्वान ने जिन ऐतिहासिक तथ्यों का हवाला दिया है उनकी पूरी तरह से पार्थिव कारणों से व्याख्या की जा सकती है, यही बात श्क्लोव्स्की ने अपनी समीक्षा में इंगित की है। मेरे सहयोगी इ० लिसेविच ने द्वितीय शती ई० पू० से छठी शती ई० तक के चीनी मिथकों का गंभीर विश्लेषण किया (१६७६) और इसके फलस्वरूप दूसरे ग्रहों के आगंतुकों की प्राक्कल्पना उन्हें स्वीकार्य प्रतीत हुई। किंतु इस विश्लेषण के प्रमुख निष्कर्ष का भी खंडन हुआ है: संसार के विभिन्न जनगण के मिथकों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि किसी भी जनगण के मिथकों में अनेक ऐसे कथानक पाये जा सकते हैं जिनकी व्याख्या, इच्छा होने पर, पृथ्वी पर दूसरे ग्रहों के निवासियों के आने के प्रमाण के रूप में की जा सकती है, किंतु जिनकी अधिक स्वाभाविक व्याख्या मानक मिथकीय प्ररूपविज्ञान के अंतर्गत हो सकती है।

सो, ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन के प्रसार की समस्या के इस संक्षिप्त विश्लेषण का परिणाम स्वतःस्पष्ट है। ब्रह्मांड के दृष्टिगोचर भाग में बुद्धिसंपन्न जीवन विरला है और, शायद, अद्वितीय है। यदि वह अद्वितीय नहीं भी है तो, निस्संदेह, विरला होने के कारण, जहां भी है नितांत एकाकी है। सच्चा यथार्थ यह है: हमारी पृथ्वी की सभ्यता के सम्मुख आज जीवन-मरण के महत्व की समस्या है, जिसे निर्विलंब हल किया जाना चाहिए। समस्या यह है कि किस

प्रकार हम पृथ्वी के निकटवर्ती अंतरिक्ष पर अधिकार पाने, उसका उपयोग करने के साथ-साथ पृथ्वी पर अपने अंतर्विरोध दूर करें और युद्ध के दैत्य को पृथ्वी से अंतरिक्ष में न निकलने दें।

मानवभूकेंद्रवाद – एक कारगर विश्वदृष्टिकोण

कोपेरनिकस ने जब भूकेंद्रीय विश्व रचना को ग़लत प्रमाणित किया और भूकेंद्रीय के स्थान पर सौरकेंद्रीय सिद्धांत रखा तो वह वैज्ञानिक विश्वदृष्टिकोण में एक क्रांति लाये और इस तरह आगामी सदियों के लिए अंतरिक्षीय समस्याओं की सैद्धांतिक गवेषणा का पथ भी निर्धारित किया। आज व्यावहारिक अंतरिक्षनाविकी वर्ष प्रति वर्ष हमारी आकाशगंगा के अध्ययनाधीन भाग में तथा उससे परे भी बुद्धिसंपन्न संसारों और सामान्यतः जीवन के अस्तित्व के प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दे रही है। लगता है कि व्यावहारिक अंतरिक्षनाविकी का युग हमारे ज्ञान के नये चरण में विश्वोत्पत्ति की प्राक्कल्पनाओं तथा ब्रह्मांड में मानव के स्थान विषयक विचारों में भूकेंद्रीय सिद्धांत की ओर लौटने का युग बनेगा। अ० उर्सुल लिखते हैं कि मानवभूअंतरिक्षवाद समसामयिक वैज्ञानिक चिंतन में गहरी पैठती प्रवृत्ति बन रहा है। वह उचित ही इसमें मानवीय तत्व को केंद्रीय मानते हैं। भूकेंद्रीय सिद्धांत पर वापसी की यह अपेक्षा है कि हम मनुष्य और ब्रह्मांड के अपने दार्शनिक विचारों में भी मनुष्य को केंद्रीय स्थान पर रखें और इस प्रकार इस बात पर बल दें कि हमारे इर्द-गिर्द के ब्रह्मांड में मनुष्य अद्वितीय है और उसकी बनायी सभ्यता भी अद्वितीय है।

ब्रह्मांड में मानवजाति के स्थान पर विचार करते हुए इस तथ्य के अलावा कि जीवन का बुद्धिसंपन्न रूप और कहीं देखने में नहीं आता, खगोलभौतिकी के तथ्य भी विचारणीय हैं। एक ग्रह के नाते पृथ्वी की मौलिकता का एक कारण यह है कि इसका एक विशाल उपग्रह है, जो सागर में ज्वार लहरें उठाता है। ये लहरें जीवन के जल में से थल पर निकलने में सहायक रही हैं। दूसरा कारण यह है कि हमारा केंद्रीय तारा सूर्य उन तारों की उपपद्धति में आता है जो

आकाशगंगा में विस्फोट-प्रक्रियाओं के क्षेत्र में नहीं पहुंचते हैं। इससे पृथ्वी पर जीवन की तापनाभिकीय अभिक्रियाओं के घातक प्रभाव से रक्षा होती है। इस प्रकार पृथ्वी मानवजाति के आवास-स्थल के नाते ब्रह्मांड का कोई साधारण बिंदु नहीं है, खगोलभौतिकीय नियमसंगतियों की दृष्टि से भी यह अद्वितीय स्थान है।

सामान्यीकरण और अवबोधन के उच्च स्तर पर भूकेंद्रीयता का सिद्धांत मानवभूकेंद्रीयता का सिद्धांत बन जाता है, अर्थात हमें ज्ञात ब्रह्मांड में मानव और मानवजाति की केंद्रीय स्थिति का सिद्धांत। और यह सिद्धांत एक विश्वदृष्टिकोणात्मक पद्धति के नाते ऐसी प्रस्थापनाएं स्वीकार करने की प्रेरणा देता है, जो एक प्रकार से पृथ्वी पर और अंतरिक्ष में मानवजाति के भावी उद्विकास में उसकी तकनीकी प्रगति, सामाजिक आचरण और नैतिक मूल्यों का ताना-बाना बनाती हैं। पृथ्वी की सभ्यता को यह भली भांति देखना चाहिए कि वह पृथ्वी की रक्षा के लिए स्वयं अपने सम्मुख उत्तरदायी है। ब्रह्मांड का हमारे इर्द-गिर्द जो भाग है उसमें हम चूंकि अकेले ही हैं, अतः हम यह उम्मीद नहीं लगा सकते कि हम जो नष्ट करेंगे उसे अधिक विकसित सभ्यताएं बहाल कर देंगी। हमारे द्वारा नष्ट किया हुआ प्रकृति में सदा के लिए खो गया है, उसे किसी भी तरह पूर्ववत नहीं बनाया जा सकता, पदार्थ (मैटर) के भावी विकास में उसका उपयोग नहीं हो सकता।

मानवभूकेंद्रवाद केवल भविष्यमूलक परिप्रेक्ष्य ही नहीं रखता है और हमें अपने चारों ओर के संसार के प्रति संरक्षणात्मक रुख़ अपनाने की उच्चतः मानवीय नैतिकता ही नहीं दिखाता। मानवभू-केंद्रवाद का ऐतिहासिक पश्चदृश्य भी है, जो ऐतिहासिक घटनाओं, उनके क्रम तथा ऐतिहासिक विकास की नियमसंगतियों की पार्थिव मूल के ऐतिहासिक कारणों से ही व्याख्या करने की इतिहास संबंधी ज्ञान-शाखाओं की प्रमुख प्रवृत्ति को दार्शनिक आधार प्रदान करता है। मानवजाति द्वारा तय किये गये ऐतिहासिक पथ के पुनर्कल्पन का विराट कार्य तथा सामाजिक विकास के मार्क्सवाद द्वारा खोजे गये नियम तकनीकी प्रगति, ज्ञान-संचय, सामाजिक संबंधों के परिष्कार, एक सामाजिक विरचना से दूसरी, अधिक विकसित विरचना में संक्रमण के पथ पर मानवजाति के नियमसंगत रूप से

बढ़ने का दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। इस दृश्य में अव्याख्येय सूचना विस्फोटों, आकस्मिक अलौकिक तकनीकी खोजों, आदि के लिए स्थान नहीं रहता। कल्पना की अनावश्यक उड़ान कम और प्रेक्ष्य तथ्यों पर विश्वास अधिक! इस तरह पार्थिव सभ्यता के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का भव्य दृश्य हम देखते हैं और उसके द्वारा बनाये गये भौतिक एवं आत्मिक मूल्यों का अपार महत्व अनुभव करते हैं।

अध्याय एक

होमिनिड कुल की उत्पत्ति और इतिहास

आकृतिविज्ञान और मानवोत्पत्ति के मूलतत्व

मानव समाज के उद्‌भव और प्रारंभिक इतिहास से संबंधित घटनाओं का नीचे जो विवरण दिया जा रहा है उसे हम यथासंभव अधिक ठोस बनाने का प्रयास करेंगे और इसके लिए इतिहास के पुनर्कल्पन से संबंधित विषयों – पुरातत्व, नृजातिविज्ञान, भाषाविज्ञान, पुराप्राणिविज्ञान और पुरावनस्पतिविज्ञान – के तथ्यों की सहायता लेंगे। इतने विभिन्न विषयों के प्रयास एक ही विषय – आदिम इतिहास – पर केंद्रित होने का कारण यह है कि जो कुछ भी मानवीय है – औज़ारनिर्माण, वाणी, चेतना, सामाजिक संस्थाएं, भौतिक और आत्मिक संस्कृति – इन सभी का उद्‌भव और प्रारंभिक विकास ही आदिम इतिहास है। मानवजाति का आधुनिक इतिहास भी आदिम इतिहास से ही आरंभ होता है और यही कारण है कि मानव कार्यकलाप का अंतर्य जो परिघटनाएं और प्रक्रियाएं हैं उनका उत्स आदिम इतिहास में ही पाया जा सकता है।

मानव ने न केवल सामाजिक जीव, बल्कि जैव जाति के नाते भी विकास का लंबा पथ तय किया है। मानव के जैव उद्‌विकास को समझे बिना उसकी संस्कृति की उत्पत्ति और प्राथमिक चरणों के विकास को भी नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि मानवविज्ञान – मानव और उसके पूर्वजों की शारीरिक विशेषताओं का विज्ञान – भी उन उपरोक्त विषयों में जोड़ा जाना चाहिए, जिनसे हमें मानवजाति के प्राचीनतम इतिहास के रहस्यों में पैठने में मदद मिलती है। मानवविज्ञान की अलग-अलग समय पर अलग-अलग परिभाषाएं की गयी हैं। पिछली शती में इसे प्रायः एक जैव जाति (स्पीशिज़) के नाते मानव का प्राकृतिक इतिहास कहा जाता

था, अब इसकी परिभाषा दिक् और काल में मानव के शारीरिक रूपभेदों के विज्ञान के तौर पर की जाती है। लेकिन बात परिभाषा

तालिका
आदि मानव के उद्‌विकास के चरण और उनकी निरपेक्ष तिथियां

ऐतिहासिक युग	पुरातत्वीय युग	मानव के उद्‌विकास के चरण	निरपेक्ष तिथि
आदिम प्राग्यूथ	पूर्व पुरापाषाण काल की आरंभिक अवस्थाएं	आस्ट्रेलोपिथेसिन	४००००० से लगभग २०००००० वर्ष पूर्व
आरंभिक आदिम यूथ	पूर्व पुरापाषाण काल की उत्तरवर्ती अवस्थाएं	पिथिकैंथ्रोपस	लगभग २०००००० से २००००० वर्ष पूर्व
विकसित आदिम यूथ	मध्य पुरापाषाण काल	नियंडरथल मानव	२००००० से ४०००० वर्ष पूर्व
आदिम समुदाय	उत्तर पुरापाषाण काल, मध्यपाषाण काल, नवपाषाण काल और आरंभिक कांस्य युग	आधुनिक मानव	४०००० से ५००० वर्ष पूर्व

की नहीं है, विशेषज्ञों के लिए वह कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो। बुनियादी बात यह है कि मानवविज्ञान मानव के शारीरिक प्ररूप का, काल में उसके विकास तथा दिक् में उसके रूपभेदों का अध्ययन करता है, इन परिवर्तनों के कारणों को जानने का प्रयास करता है, इसलिए यह ज्ञान-शाखा मानव के पूर्वजों के शारीरिक गठन और उसमें कालानुक्रमिक परिवर्तनों का पता लगाने के लिए विपुल सामग्री प्रदान करती है, आदिम इतिहास के अध्ययन में बहुत बड़ा अवलंब है।

मानव के आरंभिक रूपों के बारे में मानवविज्ञान को जो तथ्य उपलब्ध हैं तथा मानव के पूर्वजों की आकृति और अंशतः शरीरक्रिया की जानकारी देनेवाले जो तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं – उनके बारे में यहां बता देना उचित होगा। हमने "अंशतः शरीरक्रिया" की बात की है, क्योंकि मुख्यतः आकृति विषयक सूचना, शरीर के रूप और संरचना के बारे में सूचना ही उपलब्ध है, जबकि प्राचीन लोगों के शरीर के प्रकार्य के बारे में विरली जानकारी मानवाभ वानरों और आधुनिक मानव के साथ समरूपता पर आधारित परोक्ष प्रेक्षणों की मदद से ही पायी जा सकती है। मानवविज्ञान का वह भाग, जिसके अंतर्गत प्राचीन आबादी का विशेषतः अध्ययन किया जाता है, प्रायः पुरामानवविज्ञान कहलाता है। पुरामानवविज्ञान का मानवोत्पत्तिविज्ञान के साथ क्या संबंध है? मानवविज्ञान की एक शाखा के नाते मानवोत्पत्तिविज्ञान मानव के पूर्वजों का अध्ययन करता है जबकि पुरामानवविज्ञान व्यापक अर्थ में प्राचीन समष्टियों का अध्ययन करता है। इन ज्ञान-शाखाओं की सीमाओं को यदि हम इस प्रकार समझें तो पुरामानवविज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है और मानवोत्पत्तिविज्ञान उसके एक प्रकरण के रूप में उसमें शामिल होता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मानवोत्पत्तिविज्ञान का विषय हैं मानव के पूर्वज रूप, जबकि पुरामानवविज्ञान का विषय हैं आधुनिक जाति के जीवाश्मी मानव की समष्टियां। यदि हम पुरातत्वीय काल-विभाजन को लें तो आधुनिक मानव की उत्पत्ति का अनुमानित काल पत्थर के औज़ार बनाने की उत्तर पुरापाषाणकालीन विधि के प्रकट होने का काल ही माना जा सकता है। मानवोत्पत्तिविज्ञान और पुरामानवविज्ञान के बीच इस विभाजन रेखा को ही हम आगे के अपने वर्णन में ध्यान में रखेंगे।

कुछ वर्ष पहले मानववैज्ञानिक स्रोतों अर्थात वैज्ञानिकों को उपलब्ध सामग्रियों और आंकड़ों का विवरण प्रकाशित हुआ है, लेकिन उसमें मानवोत्पत्ति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। तो भी इस विवरण से यह देखा जा सकता है कि मानवोत्पत्ति विषयक जितनी भी प्रत्यक्ष सामग्री उपलब्ध है वह पूर्णतः आकृतिक है और मानव शरीर की एक प्रणाली – कंकाल – से ही संबंधित है। मांसपेशियों के विकास के बारे में जो कतिपय प्रेक्षण हैं वे

कंकाल पर मांसपेशियों के जुड़ने के स्थानों, अस्थियों पर खुरदुरेपन के विस्तार और स्वरूप, इत्यादि के अध्ययन पर ही आधारित हैं। अतः आदिम समाज के इतिहासकारों के सम्मुख मानवविज्ञानी आदि मानव के जो पुनर्कल्पित चित्र प्रस्तुत करते हैं और जो मानव के पूर्वजों की जैव प्रकृति के बारे में हमारे समसामयिक ज्ञान को प्रतिबिंबित करते हैं – वे चित्र कितने प्रामाणिक हैं यह समझने के लिए हमें मानव के पूर्वजों के अवशेषों की खोज की विशेषताओं और इन अवशेषों की दशा के बारे में अधिक विस्तार से जानना चाहिए। सौभाग्यवश, अलग-अलग खोजों के अनेक विवरण कई सूचीपत्रों में शामिल हुए हैं; नवीनतम सूचीपत्र सबसे अधिक पूर्ण भी है, हालांकि इधर कुछ वर्षों में अफ़्रीका में बहुत बड़ी संख्या में हुई खोजों के मामले में यह सूचीपत्र भी पुराना पड़ गया है।

आदिम समाज के इतिहास और पुरातत्व पर अनेक पाठ्य-पुस्तकों और सुबोध पुस्तकों में मानवोत्पत्ति की मूलभूत समस्याओं का विवेचन, हमारे विचार में, मताग्रहपूर्ण होता है। हमारा अभि-प्राय सैद्धांतिक राद्धांतिकता से, किन्हीं परंपरागत सैद्धांतिक जड़सूत्रों के अंधानुकरण या तथ्यों के पूर्वाग्रहपूर्ण विवरण और व्याख्या से नहीं, बल्कि उस विश्वास से है जिससे प्रायः विवादास्पद प्रस्थापनाएं प्रस्तुत की जाती हैं। मानव के पूर्वजों का इतना पूर्ण विवरण किया जाता है मानो लेखकों ने उन्हें अपनी आंखों से अनेक बार जीते-जागते देखा हो और उनका वैसे ही अध्ययन किया हो जैसे मानव-विज्ञानी आज की जनसंख्या का अध्ययन करते हैं। ये लेखक बड़ी आसानी से यह भुला देते हैं कि मानवोत्पत्तिविज्ञान में सभी कुछ अस्थिर है, जीवाश्मिकी के सभी तथ्यों की भांति इससे संबंधित तथ्य भी थोड़े से ही हैं, या यों कहें कि अनेक समस्याओं की पूरे विश्वास के साथ व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मानवोत्पत्ति की समस्या पर विचार करते हुए इन सब बातों को नज़रंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। हम पाठक में न तो अनावश्यक विश्वास जगाना चाहते हैं और न ही निराधार निराशा, अतः नीचे हम संक्षेप में वे प्रश्न दे रहे हैं जो मानवजाति के विकास के सबसे पहले चरणों से संबंधित पुरामानववैज्ञानिक सामग्री शोधकर्ताओं के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस सामग्री को देखते हुए पुरामानववैज्ञानिक पुनर्कल्पन

की अधिकतम संभावनाओं का भी हम संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम मानवविज्ञानियों के हाथों में पड़नेवाली एकमात्र सामग्री – कंकाल अवशेषों – की दशा को लें। पुरापाषाण काल के कोई क़ब्रिस्तान तो ज्ञात हैं नहीं, इस युग के लोगों के कंकाल विशेष खोजों के फलस्वरूप ढूंढ़ी गयी क़ब्रों में नहीं, बल्कि गुफाओं में और खुले स्थानों पर हुए पुरातत्वीय उत्खननों में मिली क़ब्रों से प्राप्त हुए हैं। बहुधा इनकी खोज के समय ऐसे विशेषज्ञ उपस्थित नहीं थे जो शरीररचना और अस्थियों के संरक्षण से परिचित होते, इसलिए कंकालों के बहुत-से अंश नहीं निकाले जा सके और पूरी तरह नष्ट हो गये। लेकिन ऐसी सामग्री भी अल्पांश ही है। अतिप्राचीन युग के लोगों के अधिकांश अवशेष तो भांति-भांति के खुदाई के कामों में, जीवाश्मिकीय और भूवैज्ञानिक वेधनों में संयोगवश मिले हैं। जिन स्थानों पर अस्थि-अवशेषों की प्रचुरता है वहां भी सफलता केवल इसलिए मिल पायी कि अनुसंधानकर्ता विशाल अस्थिमय परतों तक पहुंच गये। जीवाश्मिकी के अंतर्गत जैवसादिकी (टैफ़ो-नोमी) नामक एक विशेष शाखा का गठन हुआ है। यह भूगर्भीय परतों में विलुप्त जीवों के अवशेषों के दबने की नियमसंगतियों का पता लगाती है, और परिणामतः, इस बात का भी कि किन परि-स्थितियों में सुनियोजित जीवाश्मिकीय खोजों में ये अवशेष मिल सकते हैं। मानववैज्ञानिक जैवसादिकी अभी नहीं है, किंतु वैज्ञानिक इतना जानते हैं कि, एक तो, मानव के सीधे पूर्ववर्ती रूपों और प्राचीनतम लोगों के अवशेष दूसरे स्तनपायी जीवों के अवशेषों के साथ ही दबे होते हैं, दूसरे, सामान्यतः अंतवर्ती रूपों के आकृतिक असंतुलन और कंकालों की भंगुरता के कारण ये अवशेष बहुत विरले तथा जर्जरित होते हैं। बहुधा कपाल के अंश – निचले जबड़े और दांत, कपाल की भीतरी सतह की प्राकृतिक छापें, जिन्हें ढालित अंतःकपाल (एंडोक्रेनियल कास्ट) कहते हैं, आदि – ही मिलते हैं ; पूरे के पूरे कपाल, विशेषतः ऐसे कपाल जिनके साथ चेहरे की अस्थियां और कंकाल के अंश भी बचे हों, बहुत ही विरले मिलते हैं।

उपलब्ध सामग्री भौगोलिक दृष्टि से कितनी व्यापक है, दूसरे शब्दों में, इसमें प्राचीनतम मानवजाति के भीतर सभी जैव रूपभेदों

की सारी विविधता का प्रतिबिंब देख पाने की कितनी संभावना है – इस प्रश्न का उत्तर भी अधिक आशाजनक नहीं है। यूरोपीय देशों में पुरातत्वीय उत्खनन दूसरे महाद्वीपों से पहले आरंभ हुआ ; यहां भूगर्भीय अनुसंधान, खनिजों की खोज और खनन का काम आरंभ हुआ, इसलिए यूरोप में मानव के पूर्वजों के अनेक अस्थि-अवशेष पाये गये हैं, जो विभिन्न कालों के हैं। फिर भी यूरोप में नयी-नयी खोजें हो रही हैं, यहां बहुत-से इलाक़ों का अभी अध्ययन नहीं हुआ है। अफ़्रीका ने संसार को अपने अनेक जीवाश्मिकीय रहस्यों से परिचित कराया है, यहां अब तक अवशेषों के बहुत बड़े भंडार पाये गये हैं, लेकिन खोजें कुछ गिने-चुने इलाक़ों में ही हुई हैं। अफ़्रीका के मैदानों, रेगिस्तानों और वनों के विशाल भूभागों का अभी ज़रा भी अध्ययन नहीं हुआ है, हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी ज़माने में लोग यहां रहते थे और इसलिए यहां भूगर्भ में जीवाश्मिकीय रहस्य छिपे हुए हैं। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीपों पर मानव काफ़ी बाद में जाकर बसा, अतः यहां प्रारंभिक काल की खोजों की उम्मीद करने का कोई आधार नहीं है। एशिया का विशाल विस्तार भी मानव वंशावली के पुनर्कल्पन के लिए अफ़्रीका से कम महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन यहां से अब तक क्या जानकारी मिली है? कुछेक इलाक़ों में ही थोड़ी-सी खोजें हुई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवोत्पत्ति के सामान्य चित्र का पुनर्कल्पन ऐसी सामग्री के आधार पर किया जाता है जो भूगोल और कालानुक्रम – दोनों की ही दृष्टि से अपूर्ण है। इस कमी को न्यूनाधिक संभाव्य प्राक्कल्पनाओं से ही दूर किया जाता है।

अब तक मिले अवशेष जर्जरित हैं, भूगोल और कालानुक्रम में अपूर्ण हैं। इसके साथ ही प्राप्त सूचना में एक और बड़ी भारी कमी यह है कि अवशेष जहां कहीं भी मिले हैं इक्के-दुक्के मिले हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि पुरापाषाण काल के क़ब्रिस्तानों की कोई जानकारी हमारे पास नहीं है, बहुत संभव है कि वे थे ही नहीं, प्रत्येक मृतक को यदि दफ़नाया जाता था तो अलग कहीं दफ़नाया जाता था। इसलिए मानवोत्पत्ति विषयक साहित्य में जब इन या उन खोजों की शारीरिक विशेषताओं की बात की जाती है और उनके शारीरिक गठन के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं तो

यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक खोज के पीछे कोई एक व्यक्ति है। इतना तो हम अपने व्यावहारिक अनुभव से ही जानते हैं कि व्यक्ति एक दूसरे से कितने भिन्न होते हैं, अनेक व्यक्तियों के बारे में जानकारी के आधार पर ही उस स्थानीय समूह, जाति, नस्ल, इत्यादि का चित्र बनाया जा सकता है, जिसका सदस्य वह व्यक्ति था। अफ़्रीका में नीग्रो, एशिया में चीनी और मंगोल, यूरोप में रूसी और फ़्रांसीसी लोगों की शारीरिक विशेषताओं में असंख्य रूपभेद पाये जाते हैं, इन सभी विशेषताओं को मिलाकर देखने पर ही हम एक औसत प्ररूप का सामान्यीकृत चित्र पायेंगे। इस प्रकार मानववैज्ञानिक विवरण में पूर्णता और वस्तुगतता आती है, किंतु यही कठिनाई भी है, क्योंकि ऐसा विवरण पाने के लिए सैकड़ों और हजारों व्यक्तियों का अध्ययन किया जाना चाहिए। पाठक यह समझ सकें कि मानव के अलग-अलग जीवाश्मी रूपों की तुलना में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसके लिए वे पल भर को ऐसी स्थिति की कल्पना करें: किसी एक रूसी और एक फ़्रांसीसी का (दोनों का चयन पूर्णतः सांयोगिक है) हम अध्ययन करते हैं और उनके बीच भेदों के आधार पर यह तय करते हैं कि पूर्वी यूरोप और पश्चिमी यूरोप की आबादी के बीच क्या-क्या मानववैज्ञानिक भेद हैं। स्वतः-स्पष्ट है कि वस्तुगत वैज्ञानिक परिणामों के स्थान पर हमें मोटा-मोटा अंदाज़ ही मिलेगा, जिसका सच्चे मानवविज्ञान से काफ़ी दूर का नाता होगा। यह सच है कि मानव के प्राचीनतम पूर्वजों के अलग-अलग जीवाश्मी रूपों के बीच आकृतिक भेद आधुनिक मानव-जाति की स्थानिक नस्लों के बीच भेदों से नियमतः अधिक होते हैं, इसलिए व्यष्टिक लक्षणों में भी वे अधिक स्पष्टतया प्रतिबिंबित होते हैं। तो भी उपरोक्त कल्पित उदाहरण यह दिखाता है कि मानवोत्पत्ति के क्षेत्र में काम करना तथा थोड़े-से भी विश्वासोत्पादक परिणाम पाना कितना कठिन है।

सो, मानव के जैव अतीत पर पड़े रहस्य का पर्दा खोलने का प्रयास करनेवाले मानवविज्ञानी के काम में अवशेषों का जर्जरित और इक्का-दुक्का होना तथा उनकी भौगोलिक अपूर्णता बहुत बड़ी बाधाएं हैं। वह किस प्रकार इन बाधाओं को लांघता है तथा मानव के पूर्वजों में उद्‌विकासमूलक परिवर्तनों और उनके कारणों का पता

लगाता है? मानवविज्ञान में प्रचलित मापन की मानक विधियां अधिक उपयोगी नहीं होतीं, क्योंकि स्वयं सामग्री अमानकीय होती है – अस्थियों के अंश ही उपलब्ध होते हैं और ऐसे अनेक शरीर-रचनात्मक बिंदु नहीं होते जिन पर मानक माप आधारित होते हैं। इसलिए जीवाश्मी मानवों के कंकाल के अंशों का अध्ययन करते हुए प्रत्येक विशेषज्ञ प्रायः अपनी मापन पद्धति सुझाता है, तुलनात्मक आंकड़े पाने के लिए दूसरी खोजों पर उसे परखता है। जीवाश्मी कपालों और कंकालों के आकृतिक अध्ययन में प्रमुख बात उनका विस्तृत विवरण ही है, जिसमें इन खोजों की मौलिकता और उनकी संरचनात्मक विशेषता को ध्यान में रखा जाता है। मानवोत्पत्ति पर पुस्तकों में सैकड़ों पृष्ठ इन विवरणों के ही होते हैं और क्लोज़-अप फ़ोटो चित्रों के साथ ये पृष्ठ मानव के पूर्वजों के शारीरिक गठन के बारे में जानकारी का अमूल्य स्रोत होते हैं।

बहरहाल, आकृति विषयक ब्योरेवार प्रेक्षणों और मापों से प्राप्त आंकड़ों की यह सारी प्रचुरता तभी मानी रखती है जबकि इससे जीवाश्मी मानव के क्षेत्रीय और कालानुक्रमिक समूहों के आनुवंशिक संबंधों, इन समूहों के आकृतिक परिवर्तनों की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा इन परिवर्तनों के संचालक कारकों के बारे में कुछ जानकारी पायी जा सके। इस मामले में बहुत कुछ आधुनिक आबादी के अध्ययन के सादृश्य से ही किया जाता है, इस अध्ययन में प्रारंभिक प्रेक्षणों के परिणामों की व्याख्या और उपयोग संबंधी संक्रियाओं की पूरी पद्धति तैयार की गयी है। लेकिन जीवाश्मी अवशेषों की एकलता से एक विशिष्ट समस्या आती है – किस प्रकार व्यष्टिक वर्णनों और मापों से सामूहिक पुनर्कल्पन पर पहुंचा जाये और जिस निश्चित अवशेष का अध्ययन हो रहा है उसकी व्यष्टिक विशेषताओं के बारे में नहीं, बल्कि जीवाश्मी लोगों के उस समूह के बारे में जिसका सदस्य यह व्यक्ति था जानकारी पायी जाये। इसलिए मानवोत्पत्तिविज्ञान में प्रमुख बात प्ररूपात्मक का पता लगाना ही है, अर्थात उन आकृतिक संरचनाओं और लक्षणों का पता लगाना जो व्यक्तियों के स्तर पर महत्व नहीं रखते, बल्कि मानव के प्राचीनतम पूर्वजों के जातिगत रूपभेदों की ठेठ विशेषताओं, उनके बीच अंतर निर्धारित करनेवाली विशेषताओं में शामिल होते हैं। आगे

चलकर हम देखेंगे कि इन पूर्वजों के बीच अंतर आधुनिक मानवजाति में भेदों से कहीं अधिक थे, इससे समूहों के प्ररूपात्मक भेदों की खोज कुछ आसान बनती है। इस मामले में मुख्य विधि है विभिन्न कालों के रूपों का तुलनात्मक आकृतिक अध्ययन करना, इस प्रकार पता चलनेवाली प्रवृत्तियों की "आधुनिक वानर – जीवाश्मी मानव – आधुनिक मानव" क्रम में शरीररचनात्मक भेदों के साथ तुलना करना और वानर से नर में संक्रमण की सामान्य उद्विकासमूलक गतिशीलता का पता लगाना। इसके बाद ही न्यूनाधिक एक काल के रूपों के भेदों का मूल्यांकन किया जाता है, इसका मापदंड भी आधुनिक वानरों और मानवजाति के आधुनिक समूहों के बीच भेद ही होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव के जीवाश्मी पूर्वजों के विभिन्न कालिक और स्थानिक समूहों के बीच सच्चे ऐतिहासिक-आनुवंशिक परस्परसंबंधों का पता लगाने का रास्ता लंबा और कंटकाकीर्ण है। बहरहाल, इन कठिनाइयों का सैद्धांतिक बोध उद्-विकास की दृष्टि से तुलनात्मक-आकृतिक आंकड़ों की व्याख्या आसान बनाता है ; उन ठोस आकृतिक प्रेक्षणों से, जो मानवोत्पत्ति का आधार हैं, उद्विकासमूलक समस्याओं को सूत्रबद्ध करना और रूपनिर्माण के कारकों, अर्थात उन अभिप्रेरक शक्तियों की, जिन्होंने मानव के वानर पूर्वजों की आकृतिक संरचना का आधुनिक मानव की आकृति में पुनर्गठन निर्धारित किया, व्याख्या करना संभव होता है।

मानव की कसौटी

प्रकृति में मानव का स्थान निर्धारित करने के असंख्य प्रयास हुए हैं। यदि हम अमूर्त दार्शनिक परिकल्पनाओं को एक ओर छोड़ दें तो उस आधारभूत गुण का, जिसमें मानव और मानव समाज की मूल विशिष्टता प्रतिबिंबित होती हो, पता लगाने की समस्या प्राकृतिक-वैज्ञानिक चिंतन के सम्मुख उस क्षण ही खड़ी हो गयी थी जब मानव के पशु मूल का पता चला। वैसे, यह कहना अधिक सही होगा कि समस्या तो पहले भी उठती रही थी, किंतु मानव

का पशु मूल निश्चित होने पर ही इसने आवश्यक ठोस रूप पाया और इसे ठोस प्राकृतिक-वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र में आनेवाली समस्या माना जाने लगा। डार्विन के पहले अनुयायियों – फ़ोग्ट और हक्सले – ने कुछ ऐसे शरीररचनात्मक लक्षण इंगित किये जो, उनके विचार में, पशु जगत से मानव को अलग करने के लिए निर्णायक थे। स्वयं डार्विन ने १८७१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मानव का उद्‌भव और लैंगिक वरण' में पशुओं और मानव की शरीररचना की तुलना करते हुए उनके भेदों की कहीं अधिक लंबी सूची प्रस्तुत की। अब ऐसे कई सौ भेद गिनाये जाते हैं।

प्रकृति में मानव का स्थान निर्धारित करने के प्रयासों को व्यवस्थापित करना कठिन है, क्योंकि इस समस्या की जटिलता और इसमें दार्शनिक रुचि के कारण इसे विभिन्नतम दृष्टिकोणों से देखा गया है। हमारे विषय के लिए इस समस्या के वैज्ञानिक अनुशीलन के इतिहास में दो दिशाएं विशेषतः महत्वपूर्ण हैं। इनमें पहली यह मानकर चलती है कि मानव एक सामाजिक जीव के नाते, हमारे ग्रह के इतिहास में एक सिद्धांततः नयी परिघटना के नाते, जो संसार में विचार, भाषा, सामाजिक संबंध लायी और जिसने प्रकृति पर सक्रिय प्रभाव डाला, संक्षेप में, सभ्यता के रचयिता के नाते मानव सारे जैव जगत से भिन्न है। ऐसे उपागम में मानव अपने आप में नहीं, बल्कि समाज के एक अंश के नाते ध्यान का केंद्रबिंदु बनता है, स्वयं समाज एक पूर्ण समष्टि के नाते अग्रभूमि में आता है और उसे शेष सारी प्रकृति के मुक़ाबले में रखा जाता है। मानव समाज को विश्व के विकास में एक निश्चित – सामाजिक – चरण के रूप में, सारे पदार्थ और ब्रह्मांड के विकास की नियमसंगत मंज़िल के रूप में देखा जाता है, दार्शनिक अर्थ में उसे पदार्थ के उद्‌विकास और उसकी गति के रूपों की पूर्ववर्ती अवस्थाओं के समकक्ष माना जाता है।

मानव और मानवजाति के स्थान के बारे में ऐसे दृष्टिकोण का मूल प्राचीन चिंतकों के विचारों में पाया जा सकता है। नूतन युग के वैज्ञानिक साहित्य में विख्यात फ़्रांसीसी मानवविज्ञानी, फ़्रांस में मानवविज्ञान के एक संस्थापक अ० दे कत्रफ़ाज (१८६४) ने यह विचार व्यक्त किया। डार्विन के उद्‌विकास सिद्धांत के प्रकाशन

की पूर्ववेला में हक्सले के साथ तर्क-वितर्क करते हुए उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने खगोल जगत, अजैव अथवा खनिज जगत तथा वनस्पतियों और जीव-जंतुओं के जगतों के साथ-साथ मनुष्य का अलग जगत माना। कत्रफ़ाज स्वयं प्राणिविज्ञानी थे, शरीररचना और मानवविज्ञान के जानकार थे, मानव की तुलनात्मक-शरीररचनात्मक मौलिकता की ओर से वे आंखें नहीं मूंदते थे, लेकिन यह मौलिकता सर्वप्रथम शरीररचना में नहीं, भाषा, सचेतन कार्य-कलाप और सामाजिक जीवन में देखते थे। डार्विनवाद के मंडन और प्रसार तथा डार्विनवाद द्वारा अभिप्रेरित शरीररचना के तुलनात्मक अनुसंधानों के युग में कत्रफ़ाज के दृष्टिकोण को उद्‌विकासविरोधी तथा प्रगतिशील विज्ञान के विरुद्ध लक्षित तक माना जाता था। ऐसा करते हुए यह भुला दिया जाता था कि उन्होंने मानव आकृति-विज्ञान को नहीं, बल्कि पूरी मानव संस्कृति और हमारे ग्रह के रूप पर उसके प्रभाव को अपने विचारों का आधार बनाया। उन्होंने मनुष्य को एक अलग जीव और जैव जाति के नाते नहीं, बल्कि सारी मानवजाति को – हमारे ग्रह का कायाकल्प करने के उसके विराट कार्यकलाप सहित – प्रकृति का एक अलग जगत मानने का सुझाव रखा। यह कहा जा सकता है कि कत्रफ़ाज ने अपने सम-सामयिक विज्ञान की भाषा में मानव की अद्वितीयता का विचार व्यक्त किया, जो इस या उस रूप में सारे यूरोपीय दर्शन में व्याप्त रहा है। मनुष्य के दैवी सार के विचार के रूप में वह शतियों तक धार्मिक ग्रंथों में व्यक्त होता रहा और फिर मानव बुद्धि की शक्ति और प्रकृति पर उसके कायाकल्पकारी प्रभाव की यथार्थपरक धारणा ने उसका स्थान लिया।

हमारे देखते-देखते ही पिछले ३०-४० वर्षों में दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में बुद्धिमंडल की एक धारणा बनी है, जिसके अनुसार पृथ्वी पर मानव के प्रकट होने के साथ एक नया मंडल बना। अब इसने शेष सभी मंडलों को अपने में समेट लिया है। यह एक वैज्ञानिक धारणा मात्र नहीं है, बल्कि मानवजाति की भावी शक्ति का अनुपम पूर्वानुमान है, जिसमें आशावाद से ओत-प्रोत विश्व-दृष्टिकोण प्रतिबिंबित हुआ है। मनुष्य के अंतरिक्ष में पदार्पण के साथ यह पूर्वानुमान सच्चा सिद्ध हुआ है, बुद्धिमंडल की सीमाएं

बहुत फैल गयी हैं, वह एक अंतरिक्षीय परिघटना का रूप ले रहा है। आजकल दार्शनिकों, खगोलविज्ञानियों, समाजशास्त्रियों और अंतरिक्षनाविकी के सिद्धांतकारों का ध्यान बुद्धिमंडल की धारणा से उत्पन्न अपेक्षाकृत विशेष प्रश्नों पर अधिक लगा हुआ है। ब्रह्मांड में बुद्धिमंडल के विस्तार की संभाव्य सीमाएं, विभिन्न खगोलीय पिंडों की परिस्थितियों में विभिन्न बुद्धिमंडलों की उत्पत्ति के सामान्य कारण और उनके विकास के नियम, इन बुद्धिमंडलों के बीच संपर्क की संभावनाएं, इत्यादि ऐसे कुछ प्रश्न हैं। स्पष्ट है कि यदि हम मानवजाति के कार्यकलाप के ग्रहीय और अंतरिक्षीय प्रभावों की समग्रता की दृष्टि से ब्रह्मांड में मानवजाति का स्थान निर्धारित करते हैं तो खनिजों, वनस्पतियों और पशुओं के जगतों के साथ मानवजाति का एक विशिष्ट जगत मान लेना अपर्याप्त है। नये दृष्टिकोण के अनुसार, मानवजाति को शेष सारे पदार्थ के मुक़ाबले में रखा जा सकता है और रखा जाना चाहिए, क्योंकि पदार्थ पर उसका सक्रिय प्रभाव, उदाहरणतः, भूगर्भीय प्रक्रियाओं पर जैव द्रव्य (सब्सटेंस) के प्रभाव से कहीं अधिक है। ऐसी प्रत्यास्थापना व्यापक अर्थ में प्रकृति में मानव के स्थान के मूल्यांकन के प्रति सच्चा दार्शनिक उपागम है और वह एकमात्र सही उपागम है। दूसरे सभी अधिक संकीर्ण उपागमों में यह कमी रहेगी कि उनमें एक सामाजिक जीव के नाते मानव तथा ग्रहीय और अंतरिक्षीय परिघटना के नाते मानव-जाति की गुणात्मक विशिष्टता का अवमूल्यांकन होगा।

इसके साथ ही साथ पृथ्वी के इतिहास में मानवीय सार और मानवीय कार्यकलाप के अलग-अलग पहलुओं की अभिव्यक्तियों का स्थान खोजने के प्रयास संभव और उचित हैं। मानव के सचेतन कार्यकलाप और जंतुओं की सहजवृत्तिक क्रियाओं की तुलना करना भी उचित है, क्योंकि ऐसा करने पर ही उनके बीच आधारभूत अंतर दिखाया जा सकता है। मानव और पशुओं की शरीररचना की तुलना करना भी उचित है, ताकि उनमें आकृतिक समानता का पता लगाया जा सके और उसके आधार पर आनुवंशिक संबंध और भेद निर्धारित किये जा सकें। अंतोक्त मामले में यह कहा जा सकता है कि यह प्रकृति में, बल्कि अधिक संकीर्ण अर्थ में, जैव जगत में मानव का स्थान निर्धारित करने, जैव वर्गीकरण के अंतर्गत

उसकी नियत कोटि तय करने, उसकी तुलनात्मक-शरीररचनात्मक मौलिकता का पता लगाने के प्रति मानववैज्ञानिक उपागम है। जैव जगत में मानव के स्थान के मूल्यांकन के प्रति मानववैज्ञानिक उपागम का इतिहास, प्रत्यक्षतः, कार्ल लिन्ने (लिनीयस) से आरंभ करना चाहिए। सुविदित है कि उन्होंने ही वनस्पतियों और पशुओं का पहला सुसंगत वर्गीकरण प्रस्तुत किया और प्राइमेट (नर-वानर) गण (आर्डर) निर्धारित किया। इस गण में उन्होंने होमो वश (जीनस) को अलग दर्जा दिया, जिसमें सभी आधुनिक मानव नस्लें (एक जाति — **sapiens seu diurnus,** बुद्धिसंपन्न अथवा दिन-चर), मानवाभ वानर तथा मिथकीय पूंछदार या निशाचर लोग (दूसरी जाति — **sylvestris seu nocturnus,** वन्य अथवा निशा-चर) रखे गये। इसके सौ साल बाद हक्सले ने यह दिखाया कि मानव की शरीररचनात्मक मौलिकता एक वंश के मानक की सीमाओं में नहीं समाती है और उसे कुल (फ़ैमिली) का स्तर प्रदान किया जाना चाहिए। तब से मानवविज्ञान में एक अलग कुल – होमिनिड कुल (**Hominidae**) — माना जाने लगा है, जिसमें होमो वंश आता है, इस वंश में ही आधुनिक मानव – होमो सेपियन्स (**Homo sapiens**) — शामिल है। वैसे, होमिनिड शब्द इससे ४० साल पहले जे० ग्रे (१८२५) ने सुझाया था।

यहां हम इस बात पर विशेषतः ज़ोर देना चाहेंगे कि मानव की मौलिकता के प्रति उपरोक्त दोनों उपागमों – मानववैज्ञानिक और दार्शनिक – में काफ़ी अंतर है। ये दोनों उपागम अलग-अलग कसौटियां अपनाते हैं और इनका लक्ष्य अलग-अलग है। मोटे तौर पर ब्योरों से हटकर देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक उपागम में अनुशीलन का विषय मुख्यतः समाज, उसका ग्रहीय और अंतरिक्षीय स्थान है, जबकि मानववैज्ञानिक उपागम में ध्यान की वस्तु मानव और उसकी जैव मौलिकता ही है। प्रकृति में मानव-जाति के स्थान को आंकते हुए इस मूल्यांकन में जीवविज्ञान के तत्वों का समावेश करने से एक प्रकार से उसकी सामाजिक विशिष्टता का महत्व घटता है। मानव समाज और उसकी संस्कृति की सभी उपलब्धियों को शरीररचना की तुलनात्मक विशिष्टता तक सीमित करना और जैविक अथवा मानववैज्ञानिक व्यवस्थापन की दृष्टि

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से उनका मूल्यांकन करना उचित नहीं है। मानव चिंतन के इतिहास में यह सरलीकृत पथ अनेक बार असफल हो चुका है, अपनी चरम अभिव्यक्ति में यह सामाजिक-डार्विनवाद और नस्लवाद को पहुंचाता है। किंतु इन्हीं कारणों से दूसरा पथ – एक जैव जाति के नाते मानव की उत्पत्ति की विशिष्टता के मूल्यांकन में उसकी सामाजिक प्रकृति, श्रम सक्रियता, इत्यादि के तत्वों का सीधे-सीधे समावेश करना – भी अनुचित है और इससे भी संकल्पनाएं गड्डमड्ड होती हैं।

इन बातों को देखते हुए मानवविज्ञान और पुरातत्व में प्रचलित इस धारणा को सही नहीं माना जा सकता कि प्राइमेट गण में होमिनिड कुल को अलग करने की प्रमुख और सारतः एकमात्र कसौटी औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटी है। जिन आकृतिक लक्षणों पर श्रम सक्रियता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है उनको इस कुल की कसौटी मानना भी हमें संदेहास्पद लगता है। ऐसा उपागम मानवजाति की आकृतिक और औज़ारनिर्माण संबंधी, या, दूसरे शब्दों में, मानववैज्ञानिक और दार्शनिक कसौटियों को मिलाने का प्रयास है। किंतु इसमें भी वही कमी है – संकल्पनाएं गड्डमड्ड की जाती हैं, जैविक प्रवर्ग के निर्धारण में सामाजिक तत्व का समावेश किया जाता है। पहली नज़र में होमिनिड कुल आकृतिक लक्षणों के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है, किंतु वास्तव में इसके मूल में अंततोगत्वा औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटी ही होती है।

सो, हमारे विचार में पशु जगत और एक जैव जाति के नाते मानव के बीच सीमा खींचने के प्रयास में औज़ार बनाये जाने या न बनाये जाने के तथ्य को नहीं, बल्कि केवल आकृतिक तथ्यों और प्रेक्षणों, अर्थात मनुष्य और उसके निकटतम पूर्वगामी प्राणियों के बीच आकृतिक भेदों के परिमाण को मानकर चलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, होमिनिड कुल की सीमाएं आकृतिक कसौटियों द्वारा निर्धारित होनी चाहिए, न कि किन्हीं अन्य कसौटियों से; स्वयं यह कुल भी सर्वप्रथम एक जैविक कुल के नाते अलग किया जाना चाहिए, किसी अन्य समष्टि के नाते नहीं।

होमिनिडों के तीन लक्षण और उनके उद्विकास का मूल रूप

प्राइमेट गण के दूसरे कुलों से होमिनिड कुल को अलग करनेवाले प्रमुख आकृतिक लक्षण तीन हैं: सीधे (होकर) चलना, सूक्ष्म कार्य करने में सक्षम हाथ जिसमें अंगूठा शेष उंगलियों के आमने-सामने आ सकता है तथा पूरे शरीर की तुलना में अपेक्षाकृत बड़ा और उच्चतः विकसित मस्तिष्क। इनके क्रम अथवा महत्व की न्यूनाधिकता को लेकर विद्वानों में मतभेद भले ही हो तो भी ये तीनों लक्षण पिछले कई दशकों से होमिनिड कुल के विवरण में अनिवार्यतः गिनाये जाते हैं। १९६४ में मास्को में हुई मानवविज्ञान एवं नृजातिविज्ञान की ७वीं अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वाधान में पशुओं और मनुष्य के बीच सीमा के प्रश्न पर संगोष्ठी में हुए वाद-विवाद से यह स्पष्ट हो गया कि कुछ विद्वान इन प्रमुख लक्षणों में दूसरी विशिष्टताएं भी जोड़ते हैं, तो भी 'सीधे चलना [मानवविज्ञान में इसे द्विपदता (बायपेडी) अथवा उदग्रचारिता (आर्थोग्रेडिटी) भी कहा जाता है] – (चलने के काम से) मुक्त अगली टांगें (ऊर्ध्व शाखाएं – अपर एक्स्ट्रीमिटीज़) – विकसित मस्तिष्क' – यह समुच्चय प्रमुख रहता है। एंगेल्स ने भी यह लिखा था कि वानर के नर में संक्रमण के लिए तथा दूसरी मानवीय विशेषताओं, सर्वप्रथम इस समुच्चय के शेष दो लक्षणों, के प्रकट होने के लिए सीधे चलना सीखना कितना महत्वपूर्ण था। इस समुच्चय को होमिनिड (मानव) लक्षणत्रयी कहा जा सकता है।

पिछले वर्षों की खोजों और शोधकार्यों की बदौलत इस लक्षणत्रयी में कालक्रमिक विभेदन करना, दूसरे शब्दों में, मानवोत्पत्ति के दौरान होमिनिड कुल के अलग-अलग विशिष्ट लक्षणों के बनने का क्रम दिखाना संभव हुआ है। वस्तुतः, पिछली सदी के अंत में पिथिकैंथ्रोपस के पहले कपालोर्ध्व (स्कल कैप) की खोज के साथ ही यह सोचा जा सकता था कि होमिनिडों ने काफ़ी जल्दी ही सीधे होकर दो टांगों पर चलना सीख लिया था, क्योंकि इस कपालोर्ध्व के साथ मिली ऊर्वस्थि (जांघ की हड्डी) आधुनिक मानव की ऊर्वस्थि से प्रायः ज़रा भी भिन्न नहीं थी। लेकिन, बहुत समय

तक लोगों को यह असंभव प्रतीत होता रहा, क्योंकि यह विश्वास प्रचलित था कि मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में मानव शरीर के सभी तंत्रों का समानांतर पुनर्गठन हुआ। यह विश्वास उद्‌विकास सिद्धांत की संकीर्ण व्याख्या पर आधारित था। इसलिए मानव के पूर्वजों की अपूर्ण द्विपदता के प्रमाण तुलनात्मक शरीररचना में खोजने के अनेक प्रयास किये गये, जो अंततोगत्वा निष्फल सिद्ध हुए। जिन शरीररचनात्मक विशेषताओं की व्याख्या पहले द्विपदता के अपूर्ण विकास तथा अधमुड़ी पिछली टांगों पर अल्पसंतुलित चाल के प्रमाण के रूप में की जाती थी, आज प्रकार्य की दृष्टि से उनकी कहीं अधिक विश्वासोत्पादक व्याख्या की जाती है।

दक्षिणी अफ़्रीका में आस्ट्रेलोपिथेकस की खोज इस बात के पक्ष में एक भारी तर्क प्रस्तुत करती है कि पिथिकैंथ्रोपस से पूर्ववर्ती चरण में ही द्विपदता पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। १६२४ में आस्ट्रेलोपिथेकस की जब पहली खोज हुई थी तो शाखाओं (टांगों, बांहों) की अस्थियां नहीं मिली थीं, किंतु कालांतर में प्लीसिऐंथ्रोपस और पैरांथ्रोपस के अस्थि-अवशेषों की खोज से यह कमी पूरी हो गयी। इनकी नितंब अस्थियों और शाखाओं की लंबी अस्थियों की संरचना से यह स्पष्ट हो गया कि आस्ट्रेलोपिथेकस अच्छी उदग्र (इरेक्ट) द्विपाद चाल चलते थे और सीधे होकर चलना उनके लिए उतनी ही आम बात थी जितनी आधुनिक लोगों के लिए। पैर की अस्थियों के जो अवशेष मिलते हैं वे भी इसी बात के साक्षी हैं। इस प्रकार, यदि यह माना जाये (जैसा पहले माना जाता रहा है और अब भी सुबोध साहित्य में प्रायः बताया जाता है) कि पिथिकैंथ्रोपस ही पहले मानव थे तो सीधी चाल और शरीर की उदग्र स्थिति की उत्पत्ति पहले मानवों के पूर्ववर्तियों के चरण में नहीं; बल्कि उससे भी पहले के चरण में हुई मानी जायेगी। कालक्रम की दृष्टि से यह चरण काफ़ी समय तक अनिश्चित रहा – आस्ट्रेलो-पिथेकसों का काल कभी पूर्व प्लाइस्टोसिन और कभी उत्तर प्लाइओ-सिन तो कभी मध्य प्लाइस्टोसिन बताया जाता था। किंतु अब इस चरण की सीमा न्यूनाधिक निश्चित हो गयी है: आस्ट्रेलोपिथेकस के सबसे पहले रूप उत्तर विलाफ़्रांक के भूगर्भीय संस्तरों के काल के माने जाने चाहिए, अर्थात, पुराने दृष्टिकोणों के अनुसार, प्लाइ-

ओसिन काल के अंत के और, विलाफ़्रांक संस्तरों को चतुर्थ कल्प में शामिल करने की आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार, इस कल्प के आरंभ के माने जाने चाहिए। यह देखते हुए कि आस्ट्रेलोपिथेकस ने सीधे होकर चलना पूरी तरह सीख लिया था, यह माना जा सकता है : पूर्व विलाफ़्रांक काल में ही या, शायद, उससे भी पहले उदग्रचारिता का उद्भव हुआ – आख़िर चलने के ढंग में परिवर्तन लंबे समय के दौरान आया क्रमिक परिवर्तन ही रहा होगा।

विक्टोरिया झील (अफ़्रीका) के पूर्व में ओल्डुवाई दर्रे में लीकी **(Leakey)** परिवार द्वारा की गयी खोजें इस सिलसिले में और भी अधिक उल्लेखनीय हैं। इन खोजों को लेकर आज तक बहुत-से विवाद चल रहे हैं। ओल्डुवाई में तथाकथित प्रेज़िंजैंथ्रोपस की खोज सर्वाधिक रोचक है। इसकी कपाल-अस्थियां ही नहीं, हाथ और पैर के कंकाल के अंश तथा अंतर्जंघिका (टिबिया) और बहिर्जंघिका (फ़िबुला) – अस्थियां भी मिली हैं। इनके आधार पर इसका काफ़ी पूर्ण आकृतिक विवरण दिया जा सकता है। हमारे विषय के लिए प्रेज़िंजैंथ्रोपस की अधः शाखाओं (टांगों-पैरों) का कंकाल विशेषतः महत्वपूर्ण है। इसके पैर के कंकाल में अनुप्रस्थ तोरण साफ़-साफ़ देखा जा सकता है, अंगूठे का अभिवर्तन (अर्थात उसका दूसरी उंगलियों के समानांतर होना, उनकी ओर, उनके समीप आना), गुल्फ संधि (टखने के जोड़) की संरचना तथा अन्य कई आकृतिक विशेषताएं यह इंगित करती हैं कि प्रेज़िंजैंथ्रोपस उदग्रचारी था। भूवैज्ञानिक आयु की दृष्टि से प्रेज़िंजैंथ्रोपस सबसे पुराने आस्ट्रेलोपिथेकस के समकालिक है या, शायद, उससे भी कुछ पहले रहता था। इस प्रकार, यह खोज बताती है कि तृतीय और चतुर्थ कल्पों के संधिकाल में ही मानव के पूर्वजों ने सीधे चलना आरंभ कर दिया था। इस खोज के कई साल बाद अफ़्रीका में ही तुर्काना झील (पुराना नाम रुडोल्फ़) के पूर्वी तट पर लुईस लीकी के पुत्र राबर्ट लीकी द्वारा खोजी गयी शाखाओं की लंबी अस्थियां और पैर की अस्थियां भी इस दृष्टि से बहुत रोचक हैं। उन्हें कुछेक नर और मादा प्राणियों के अवशेष मिले, ये सब अलग-अलग काल के, किंतु फिर भी मानव कुल के बिल्कुल आरंभिक चरणों के ही थे। इनका आकृतिक विवरण, पर्याप्त विस्तृत माप और सुस्पष्ट रेखा-

चित्र यह दिखाते हैं कि टांगों की अस्थियों की बनावट में इन रूपों तथा इनके बहुत बाद के होमिनिडों के बीच कोई विशेष भेद नहीं है, ये भी उदग्रचारी थे, सीधे होकर चलते थे।

क्या चलने के ढंग में इस परिवर्तन के साथ-साथ होमिनिड लक्षणत्रयी के दूसरे लक्षणों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आये? क्या उदग्रचारिता का उद्भव और मस्तिष्क के आयतन में तीव्र वृद्धि अथवा उसका उल्लेखनीय परिष्कार एक ही समय पर हुआ? कुछ वर्ष पहले इस प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर देना कठिन था। १९५४ में फ़ांसीसी मानवविज्ञानी आ० वलुआ (Vallois) ने "मस्तिष्क सीमा" का विचार प्रतिपादित किया जो अनेक वर्ष के लिए सर्वमान्य हो गया। यह विचार किसी भी सिद्धांत पर नहीं आधारित था, तो भी निश्चित रूप से सहजानुभूत यह धारणा व्यक्त करता था कि अंतिम मानवरूपी जीवों और पहले मानवों के मस्तिष्क के आयतन में एक स्पष्ट सीमा थी। यह सीमा यादृच्छिक रूप से ८०० घन सेंटीमीटर मान ली गयी – इससे अधिक आयतन के रूपों को मानव समझा जा सकता है, जबकि इससे कम आयतन के रूपों को मानवाभ मानना चाहिए। किंतु सीमा के रूप में लिया गया यह आंकड़ा आस्ट्रेलोपिथेकसों के मस्तिष्क के आयतन के बारे में आरंभ में पाये गये ग़लत आंकड़ों पर आधारित था। कालांतर में हुए अनुसंधानों से अधिक प्रामाणिक परिणाम मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि आस्ट्रेलोपिथेकसों के मस्तिष्क का आयतन ५००-५५० घन सें० मी० से अधिक नहीं निकलता है। आरंभ में प्रेज़िंजैंथ्रोपस के मस्तिष्क का आयतन ६८० घन सें० मी० बताया गया – यह भी "मस्तिष्क सीमा" से काफ़ी कम था। लेकिन यह आंकड़ा भी बढ़ाया हुआ निकला: जे० रॉबिन्सन ने यह आयतन ६०० घन सें० मी० पाया (१९६५, १९६६), व० कोचेत्कोवा ने इससे भी कम पाया – ५६० घन सें० मी० (१९६९)। उधर, ऊपर हम यह दिखा चुके हैं कि आस्ट्रेलोपिथेकस और प्रेज़िंजैंथ्रोपस – दोनों ही उदग्रचारी रूप थे। मस्तिष्क के ८०० घन सें० मी० आयतन की सीमा-रेखा इन प्रेक्षणों के साथ मेल नहीं खाती।

इसके साथ ही इससे यह पता चलता है कि मस्तिष्क का विकास उदग्रचारिता के उद्भव और परिष्कार से पीछे रहा, होमिनिडों के

तीन प्रमुख लक्षणों की उत्पत्ति कालक्रम में असमानांतर रही। हाथ के विकास में भी, जिस पर हम आगे विस्तार से ग़ौर करेंगे, उन आकृतिक विशेषताओं के विकास की धीमी गति स्पष्टत: देखी जा सकती है, जिन्होंने हाथ को उसकी प्रकार्यात्मक संभावनाओं में आधुनिक मानव के हाथ जैसा बनाया। सो, यदि मानवाभ वानरों और मानव के बीच आकृतिक सीमा-रेखा की, उनके बीच पहले और सबसे पुराने भेद की बात की जाये तो वह मस्तिष्क या हाथ के विकास में नहीं, सीधे चलना सीखने में प्रकट हुआ। इसलिए आकृतिविज्ञान की सीमाओं में रहते हुए उदग्रचारिता को ही होमिनिडों का आधारभूत आद्य लक्षण मानना उचित और एकमात्र तर्कसंगत बात है। म० उरीसन (१९६५) ने इस कसौटी के महत्व का विशद विवेचन किया। आस्ट्रेलोपिथेकसों को होमिनिड कुल में शामिल करने का प्रस्ताव सबसे पहले एस० वाशबर्न, जी० हेबरर और ले ग्रो क्लार्क ने रखा था।

सारांश में हम यह कह सकते हैं कि तृतीय कल्प के अंत और चतुर्थ कल्प के आरंभ में मानव के प्राचीनतम पूर्वजों का जो सबसे पहला सुस्पष्ट लक्षण बना वह उदग्रचारिता ही था। यह गुण न वानरों में पाया जाता है, न ही पूरे पशु जगत के अन्य किसी प्राणी में। इससे सारी आकृति का आगे भी पुनर्गठन होने के लिए नींव बनी। यों तो मानवाभ वानर भी कभी-कभार सीधे होकर चलते हैं, किंतु इससे स्थिति नहीं बदलती, क्योंकि वानरों, मानवाभ वानरों का भी पिछली टांगों पर चलना नियम नहीं, संयोग ही है (ठीक इसी प्रकार वानरों द्वारा डंडियों और पत्थरों का संयोगवश उपयोग किये जाने को लक्ष्यबद्ध श्रम सक्रियता मानना भी उचित नहीं है – अगले अध्याय में हम इस प्रश्न पर विशेषत: ग़ौर करेंगे)। उदग्रचारिता से संबंधित आकृति के पुनर्गठन के आधार पर ही वर्गीकरण में होमिनिडों का एक अलग कुल माना जा सकता है।

प्राइमेट गण के जीवाश्मी अवशेषों के अध्ययन तथा इस गण के आधुनिक प्रतिनिधियों की शरीररचना और आनुवंशिकता के गहन तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस गण के उद्विकास का काफ़ी सही चित्र बना लिया गया है। इस उद्विकास पर अनेक अतिरोचक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं – आधुनिक वानरों के रूप इतने

विविध हैं, इतनी विभिन्न परिस्थितियों के वे अनुकूल बन चुके हैं और उनका व्यवहार इतना मौलिक और नाना छटाएं लिये है। किंतु यह सब यहां बता पाना संभव नहीं है – इसके लिए तो विशेष ब्योरों में जाना होगा, जो जीवमंडल के विकास तथा उसके आधार पर बुद्धिमंडल के सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक – मानवजाति – के उद्‌भव के आंतरिक तर्क द्वारा निर्धारित हैं, और अंततः हम इस पुस्तक के दायरे से बहुत दूर निकल जायेंगे। किंतु साथ ही प्रणाली-तंत्र (मैथडोलॉजी) की दृष्टि से उस पृष्ठभूमि को नज़रंदाज़ करना भी अनुचित होगा जो मानव के पूर्वजों की आकृतिक संरचना और उनके व्यवहार के विविधतम पहलुओं के पुनर्कल्पन के लिए वानरों के बारे में जानकारी से बनती है। अब हम होमिनिड कुल के लिए आधार बने प्राइमेटों के आद्य रूप की आकृति के पुनर्कल्पन का प्रयास करते हुए इनमें से केवल एक पहलू पर ग़ौर करेंगे।

अफ़्रीका और यूरेशिया के विभिन्न इलाक़ों में विलुप्त वंशों और, कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार, विलुप्त कुलों के ऐसे कपियों (एप्स) के अवशेष मिले हैं, जिनकी बनावट आधुनिक मानवाभ कपियों की बनावट जैसी है, लेकिन अनेक ब्योरों में वे इनसे भिन्न भी हैं। इन अवशेषों के विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं, किंतु, खेदवश, इन अवशेषों में अधिकांश निचले जबड़ों और दांतों के अंशों के रूप में ही हैं, अर्थात कंकाल के वे ही अंश उपलब्ध हैं जो सबसे अधिक बचे रहते हैं। बहरहाल, दांतों-जबड़ों के आकार और संरचनात्मक विशेषताओं से मुख्य आहार का स्वरूप पता चल सकता है। साथ ही इनका शरीर के सामान्य आकार तथा शरीर की बनावट के कुछ ब्योरों के साथ भी घनिष्ठ सहसंबंध होता है। जीवाश्मी प्राइमेटों की शाखाओं तथा कपालेतर कंकाल के अंशों की इक्की-दुक्की खोजें भी आधुनिक मानवाभ वानरों तथा प्राइमेट गण के दूसरे प्रतिनिधियों की शरीररचना के तुलनात्मक प्रेक्षणों के साथ मिलकर पुनर्कल्पन के लिए उपयोगी हो सकती हैं। संक्षेप में यह कि पुनर्कल्पन शरीररचना के व्यापक तुलनात्मक अध्ययन तथा प्रचुर जीवाश्म सामग्री पर आधारित होता है।

यदि आप अपनी हथेली पर नज़र डालें तो वहां आपको भांति-भांति की रेखाएं दिखेंगी, जिनका संयोजन प्रत्येक व्यक्ति के लिए

अलग होता है, किंतु जो बिना किसी अपवाद के संसार के प्रत्येक व्यक्ति की हथेली पर पायी जाती हैं। ऐसी ही रेखाएं सभी लोगों की उंगलियों और तलवे पर भी होती हैं। मनुष्य के अलावा ऐसी रेखाएं वृक्षवासी वानरों के हाथ और पैर पर अनिवार्यतः होती हैं। यह तथ्य इस बात का प्रमाण माना जाता है कि मानव की उत्पत्ति में एक काल ऐसा था जब उसके वानराभ पूर्वज वृक्षों पर रहते थे। कुछ मामलों में जब इस बात के तुलनात्मक-आकृतिक और जीवाश्मी प्रमाण प्रस्तुत किये गये कि मानव के उद्‌विकास में वृक्षवास का चरण नहीं था – ऐसा सबसे अधिक विशद प्रयास सुविख्यात सोवियत मानवविज्ञानी और पुरातत्वविद ग० बोंच-ओस्मोलोव्स्की ने किया है – तो ये रेखाएं ही इन प्रमाणों को स्वीकार करने में आड़े आयीं। फिर भी वृक्षवास के चरण पर संदेह करने का भी निश्चित आधार अवश्य है। बात यह है कि वृक्षों पर रहनेवाले आधुनिक वानरों में अधिसंख्यों के लिए गमन का तरीक़ा है – बाहुदोलन (ब्रैकिएशन), अर्थात बांहों (अगली टांगों) के बल डालों पर लटकना और झूलना तथा इस तरह झूलते हुए प्राप्त गति के बल उछलकर एक डाल से दूसरी पर जाना। गमन की इस विधि के परिणामस्वरूप कुछ विशेष लक्षण बनते हैं, जैसे कि लंबी लचीली हथेली, छोटा अंगूठा और अधमुड़ी उंगलियां। इसके विपरीत मनुष्य के हाथ का लक्षण तो सशक्त, विकसित अंगूठा है। क्या ऐसा हाथ वृक्षवासी रूप के आधार पर बन सकता था? शायद ही। अतः यह सोचा जा सकता है कि आद्य रूप की गमन विधि वृक्षारोही क़िस्म की थी, कुछ हद तक वैसी जैसी गोरिला की पेड़ों पर चढ़ते समय होती है।

मानव के पूर्वजों के आद्य रूप की मुख्य गमन विधि वृक्षारोही क़िस्म की मान लेने से क्या निष्कर्ष निकलते हैं? बाहुदोलन की गमन विधि से काम लेनेवाले वानरों के हाथ की संरचना ही मौलिक नहीं है, उनके शरीर के भागों के अनुपात भी कम मौलिक नहीं होते – बांहें बहुत लंबी और धड़ भी लंबोतरा होता है जबकि टांगें अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। ऐसे अनुपात बाहुदोलनचारी मानवाभ कपियों – गिबन और चिम्पांज़ी – में तथा वानरों में भी पाया जाता है। प्रत्यक्षतः, यह आकृति के किन्हीं जैवयांत्रिक नियमों की अभिव्यक्ति है, जिनके फलस्वरूप प्राइमेट गण में धड़ और शाखाओं की

लंबाई में ऐसे अनुपातों का व्यापक प्रसार हुआ है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जो आद्य रूप बाहुदोलनचारी नहीं, वृक्षारोही था, उसकी बांहें कम लंबी थीं, धड़ अधिक छोटा था और टांगें अधिक लंबी। ऊपर हम यह तो इंगित कर ही चुके हैं कि शरीर की उदग्र स्थिति सभी होमिनिडों का प्रभेदात्मक लक्षण है। यह लक्षण कुछ हद तक वृक्षों पर चढ़ने की अवस्था में भी विकसित हो सकता था। इसका प्रमाण है गोरिला की गमन विधि – ज़मीन पर चलते समय वह प्रायः पिछली टांगों पर खड़ा हो जाता है। संक्षेप में कहें तो होमिनिडों का आद्य रूप निश्चित हद तक सर्वगामी था, वह पेड़ों पर चढ़ता था, लेकिन ज़मीन को भी नहीं भुलाता था, पेड़ों से उतरता रहता था, ताकि गोरिलों की भांति ज़मीन से, नीची झाड़ियों, आदि से आहार बटोर सके। ऐसी पारिस्थितिकी और ऐसा व्यवहार, प्रत्यक्षतः, शरीर का आकार भी सीमित करते थे: इस रूप के नर का भार ५०-७० किलोग्राम से अधिक शायद ही रहा हो, जबकि कद प्रायः आधुनिक चिम्पांज़ी जितना रहा होगा।

वानरों में विशालकाय रूप भी मिलते हैं, जिसका उदाहरण हैं गोरिला। २०० किलोग्राम से अधिक वज़न तथा भयानक शक्ति नर गोरिला के लिए असामान्य बात नहीं है। सौभाग्यवश, इनके बारे में सभी डरावने क़िस्सों के बावजूद गोरिला बड़े शांत जीव हैं, वे शाकाहारी हैं और उनकी आपस में टक्कर प्रायः कभी नहीं होती। इनका व्यवहार शांतिपूर्ण है तो भी हिंसक जंतु ऐसे शक्तिशाली जानवर पर हमला करने का साहस नहीं करते। पांचवें दशक में जावा और चीन में उच्चतः विकसित कपियों अथवा सबसे पहले होमिनिडों के, जिन्हें जाइगेंटोपिथेकस और मेगांथ्रोपस कहा गया, विशाल जबड़ों और दांतों के अंशों की खोज के बाद यह स्पष्ट हो गया कि मानवोत्पत्ति के आरंभिक काल में भी भीमकायता की प्रवृत्ति विद्यमान थी। जाइगेंटोपिथेकस और मेगांथ्रोपस को प्राइमेट गण के वर्गीकरण में कौन-सा स्थान मिले – इस प्रश्न को लेकर उग्र विवाद छिड़ा। कालांतर में उत्तरी भारत में हुई खोजों से एशिया में जाइगेंटोपिथेकस और मेगांथ्रोपस दोनों के वास-क्षेत्र की अनुमानित सीमाएं बहुत फैल गयीं। इन्हें कभी उच्चतः विकसित विलुप्त कपि बताया जाता था

तो कभी प्राचीनतम लोग। आजकल अधिसंख्य विशेषज्ञ इन रूपों की असाधारण मौलिकता को तो स्वीकार करते हैं, किंतु इनकी आकृति में ऐसे निर्विवाद प्रमाण नहीं पाते जिनसे कि इन्हें होमिनिड कुल में रखा जा सके। वे इन्हें मानवाभ वानरों की एक विलुप्त शाखा ही मानते हैं। इनके विराट आकार के बारे में आरंभ में जो धारणा बनी थी वह, प्रत्यक्षतः, अतिशयोक्तिपूर्ण थी। शरीररचना के तुलनात्मक अध्ययन से पता चला है कि स्तनपायी जीवों के विभिन्न गणों में विशाल जबड़े बनने की उद्विकासमूलक प्रवृत्ति के साथ शरीर के आकार में वृद्धि अनिवार्य नहीं थी। जबड़ों और दांतों का बड़ा हो जाना एक प्रकार से इन जंतुओं के जीवन में आहार प्रकार्य के महत्व के कारण हुआ स्थानीय अनुकूलन ही है। इसलिए ऐसे तंत्र के स्वामी जीवों को प्रायः महाकायी नहीं, बल्कि महाहनु (विशाल जबड़ेवाले) रूप कहा जाता है। लेकिन निश्चित परिस्थितियों में अपनी सारी उपयोगिता के साथ-साथ विशाल जबड़ा चरम विशेषीकरण का भी साक्षी है। सुविदित है कि चरम विशेषीकरण से संबंधित अनुकूलन का पथ पार कर चुका जीव उद्विकास की बंद गली में पहुंच जाता है। सो, हम यह कह सकते हैं कि होमिनिडों के आद्य रूप के समीप महाहनु रूप या भीमकाय रूप मानव वंशावली की आनुषंगिक शाखाएं थे।

महाहनुता के संबंध में शरीर के आकार पर विचार से अब हम क़पाल की संरचना के कुछ भागों के विवरण पर आते हैं। मस्तिष्क का आयतन निर्धारित करना विशेषतः महत्वपूर्ण है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह उद्विकास के सोपान में स्तनपायी जीवों का स्थान प्रतिबिंबित करनेवाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण है। एक ही जाति के अलग-अलग प्राणियों में इस आयतन के बीच काफ़ी अधिक भेद पाया जाता है, उदाहरणतः, एक ऐसे गोरिला के कपाल का वर्णन उपलब्ध है, जिसके मस्तिष्क का आयतन ७५२ घन सें० मी० था, तथापि समूह के नाते उनके मस्तिष्क का आयतन काफ़ी हद तक एक जितना ही होता है, इसलिए ठीक यही लक्षण वर्गीकरण के सिलसिले में इतना महत्व रखता है। ऊपर हमने आस्ट्रेलोपिथेकस और प्रेज़िंजैंथ्रोपस के मस्तिष्क के आकार के जो आंकड़े उद्धृत किये हैं उन्हें देखते हुए तथा वर्तमान मानवाभ वानरों के मस्तिष्क के

आयतन से उनकी तुलना करते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि होमिनिडों के आद्य रूप के मस्तिष्क का आयतन लगभग ४५०-५०० घन सें० मी० था। सभी ज्ञात जीवाश्मी अवशेषों तथा आधुनिक मानवाभ वानरों के साथ सादृश्य के आधार पर निश्चित विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि इस रूप का कपाल लंबोतरा था और उसकी बाहरी सतह पर काफ़ी स्पष्ट उभार थे, लेकिन वे चरम सीमा तक विकसित नहीं थे, जैसे कि, उदाहरणतः, नर गोरिला के कपाल पर ये उभार विशाल कटकों का रूप ले लेते हैं। मस्तिष्क और आनन (चेहरे) के कंकाल का अनुपात प्रायः वैसा ही था जैसा हम चिम्पांज़ी में पाते हैं, जो सभी मानवाभ वानरों में आकृति की दृष्टि से मानव के सबसे अधिक समीप है।

सो, होमिनिड कुल के गठन के लिए जो रूप मूल आधार बना, वह वृक्षों पर चलता था, कभी-कभी ज़मीन पर भी उतरता था, शरीर को उदग्र (सीधे खड़े होने की) स्थिति में लाने की प्रवृत्ति रखता था, कभी-कभार पिछली दो टांगों पर चलता था, उसके मस्तिष्क का आयतन ४५०-५०० घन सें० मी० था, आकार और शक्ति में वह चिम्पांज़ी जैसा था तथा चरम विशेषीकरण के उसमें कोई लक्षण नहीं थे। इस रूप से आस्ट्रेलोपिथेकस में संक्रमण कब हुआ यह हम अनुमानतः जानते हैं – प्लाइओसिन के अंत में या प्लाइस्टोसिन के बिल्कुल आंरभ में। मानव के पूर्वजों के जीवाश्मी अवशेषों के काल-निर्धारण की आधुनिक विधियों से इनकी आयु २००००००–३०००००० वर्ष निकलती है। किंतु यह संक्रमण कहां पर हुआ? पुरानी दुनिया के सारे उष्ण कटिबंध में जो सदा वानरों-कपियों के लिए, मानवाभ वानरों के लिए भी प्रमुख वास-क्षेत्र रहा है? सबसे अधिक संभावना इसी बात की है कि मानवजाति की उत्पत्ति उष्ण कटिबंध में और, शायद, उससे लगे कुछ उपोष्ण इलाक़ों में हुई, जिसका प्रमाण है प्राइमेट गण की आधुनिक जातियों का यहां फैला होना। साथ ही मानव के निकटतम पूर्वगामियों की पारिस्थितिकी भी हम निश्चित विश्वास के साथ पुनर्कल्पित कर सकते हैं। बहरहाल, पहले होमिनिडों ने अपनी आकृति, व्यवहार और औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता में उनके लिए आधार बने वानरों की तुलना में इतनी श्रेष्ठता नहीं पायी होगी कि जिन पारि-

स्थितिक कोष्ठकों में उनकी उत्पत्ति हुई उनकी विशिष्टता से वे पूरी तरह अलग हो जाते और शीघ्र ही सारे उष्ण कटिबंध में और उपोष्ण कटिबंध के एक भाग में फैल जाते। यह प्रक्रिया तो धीमी और क्रमिक ही रही होगी। यह मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि होमिनिडों की उत्पत्ति कुछेक परस्पर असंयोज्य इलाक़ों में हुई। ऐसा अनुमान हमें १९वीं शती के विज्ञान के स्तर पर ले जाता है। लगता है उन दिनों ही पहली बार बहूद्भववाद की प्राक्कल्पना प्रस्तुत की गयी थी – यह प्राक्कल्पना कि जीवाश्मी मानव और आधुनिक मानव के अलग-अलग समूहों का उद्भव वानराभ पूर्वजों की अलग-अलग जातियों से हुआ। शरीररचना की तुलनात्मक कसौटी पर यह प्राक्कल्पना खरी नहीं उतरी, तो भी कालांतर में नस्लवादी दृष्टिकोणों का आधार बनी। अतः, हमें अब उष्ण और उपोष्ण कटिबंधों में ऐसे क्षेत्र चुनने हैं, जिन्हें मानवजाति के गठन का क्षेत्र, मानवजाति की आदि जन्मभूमि माना जा सके।

आदि जन्मभूमि के प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ते हुए हमें इस बात का विशेषतः आभास होता है कि जीवाश्मों की खोजें कितनी आंशिक हैं और जीवाश्मी रूपों के भूगोल के बारे में हमारा ज्ञान कितना अपूर्ण है। जब कहीं किसी एक स्थान पर अधिक खोजें हो रही होती हैं, तब उसी स्थान को आदि जन्मभूमि बताया जाने लगता है। एशिया में पिथिकैंथ्रोपस और सिनेंथ्रोपस के अवशेषों की खोज और सविस्तार अध्ययन के साथ यह प्राक्कल्पना प्रस्तुत की गयी कि मानवजाति की आदि जन्मभूमि एशिया में ही थी। अभी हाल ही तक यह प्राक्कल्पना सबसे अधिक मान्य थी। पिछले २० वर्षों के दौरान अफ़्रीका में मानव जीवाश्मों की नयी-नयी, प्रचुर खोजों से इस सामग्री ने प्रमुख भूमिका पा ली है। परंतु, उधर, शिवालिक पहाड़ियों में, जिन्हें पिछली शती में ही जीवाश्मविज्ञानी जीवाश्मों के अथाह ख़ज़ाने के नाते जानते थे, आज भी होमिनिडों से मिलते-जुलते रूप मिल रहे हैं, भले ही ये खोजें अफ़्रीका में हुई खोजों जितनी प्रचुर नहीं हैं। इससे मानवजाति की एशियाई आदि जन्मभूमि की प्राक्कल्पना को नया बल मिला है, उसके नये समर्थक बने हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने कई बार मानवजाति की आदि जन्मभूमि अफ़्रीका में मानने के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है।

इसका कारण यह है कि अफ़्रीका में हुई खोजें अनन्य हैं, वे मानव के उद्विकास के सभी चरणों को प्रतिबिंबित करती हैं तथा अफ़्रीकी मानवाभ वानरों के साथ ही मनुष्य में सबसे अधिक समानता है (मानवजाति की आदि जन्मभूमि अफ़्रीका में मानने के लिए यह तर्क सबसे पहले डार्विन ने पेश किया था)। अफ़्रीकी या एशियाई प्राक्कल्पनाओं में कौन-सी सही है, तथा एशिया या अफ़्रीका महाद्वीपों का कौन-सा क्षेत्र आदि जन्मभूमि माना जाये – इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

होमिनिड कुल का उपकुलों में विभाजन

ऊपर हमने देखा है कि होमिनिडों के तीन प्रमुख लक्षण कालक्रम की दृष्टि से समांग नहीं हैं, उनमें सबसे पहले बना लक्षण उदग्रचारिता है। यह एक तथ्य ही इस बात का सैद्धांतिक अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त है कि न केवल होमिनिडों के पूर्वगामियों, बल्कि स्वयं इस कुल के विकास के दौरान भी अलग-अलग अंगों के उद्विकास की गति असमान रही। इसके अलावा जीवाश्मी होमिनिडों के बारे में मानवविज्ञानियों को उपलब्ध जानकारी की सारी आंशिकता के बावजूद, उससे पैर के उद्विकास की तुलना में हाथ के उद्विकास की असमानता स्पष्टतः देखी जा सकती है।

आस्ट्रेलोपिथेकस के हाथ की संरचना के बारे में हम मणिबंध (कलाई, कार्पस) तथा करभ (मेटाकार्पस) की कुछेक अस्थियों से, तथा पैरांथ्रोपसों और प्लीसिऐंथ्रोपसों की कुछेक अंगुलास्थियों से जानते हैं। इनकी मापों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आस्ट्रेलोपिथेकस के हाथ के लिए भारी परिवर्तनीयता अभिलाक्षणिक थी, हाथ के कंकाल की अस्थियों के अनुपात आधुनिक अनुपातों से भिन्न थे, स्वयं हाथ के अनुपात भी मौलिक थे: आस्ट्रेलोपिथेकस का करभ आधुनिक मानव की तुलना में लंबा था, इसके विपरीत उंगलियां छोटी थीं। यह निस्संदेह है कि पैरांथ्रोपस की प्रथम करभास्थि की संधि पर्याणरूपी (सैडल ज्वाइंट) थी, अंगूठे को हथेली की दिशा में लानेवाली अर्थात अभिवर्तनी मांसपेशी के जुड़ने के स्थान

पर कटक (रिज) विकसित था – यह सब इस बात का प्रमाण है कि अंगूठे में शेष उंगलियों के आमने-सामने आने की क्षमता थी। इसके साथ ही ये० दनीलोवा (१९६६) यह मानती हैं कि करभास्थि पर दो वर्तुलिकाओं (कंडरास्थियों, सेस्मॉयड बोन) का होना अविकास का लक्षण है अर्थात हाथ का अविकसित होना इंगित करता है। किंतु, उधर, व० यकीमोव (१९५१) ने मानवरूपी जीवों के हाथ में इनके न होने के आधार पर इसे विकास का लक्षण बताया है। जो भी हो, आस्ट्रेलोपिथेकस का हाथ होमो सेपियन्स की विशेषताएं पाने की दिशा में प्रगामी विकास के पथ पर काफ़ी आगे आ चुका था, परंतु फिर भी अनेक लक्षणों में आधुनिक हाथ से भिन्न था।

प्रेज़िंजैंथ्रोपस के हाथ की जो अस्थियां मिली हैं उनके आधार पर उसके हाथ का अधिक सही विवरण दिया जा सकता है। उसकी प्रथम करभास्थि की संधि भी, पैरांथ्रोपस की ही भांति, पर्याणरूपी थी। इसका अर्थ है कि अंगूठे में शेष उंगलियों के आमने-सामने आने की सुस्पष्ट क्षमता थी। लेकिन उसकी लंबाई आधुनिक मानव के तथा नियंडरथल मानव अर्थात पैलियोऐंथ्रोपस के अंगूठे की लंबाई से काफ़ी कम थी। इस लक्षण के अनुसार प्रेज़िंजैंथ्रोपस आधुनिक मानव और मानवाभों के बीच की कड़ी था। उसकी अंतस्थ अंगुलास्थियां (उंगलियों के अंतिम पोरों की अस्थियां) काफ़ी चौड़ी थीं। इन अवशेषों के वर्णनकर्ता जे० नेपियर ने इसे इस बात का प्रमाण माना है कि प्रेज़िंजैंथ्रोपस के हाथ की पकड़ में बहुत ज़ोर था। इस प्रकार, प्रेज़िंजैंथ्रोपस के हाथ में हम अविकास और विकास के लक्षणों का मौलिक अनुपात पाते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दो पैरों पर चलना सीख चुकने के बावजूद प्रेज़िंजैंथ्रोपस का हाथ अभी पूरी तरह परिष्कृत नहीं था, अतः उसके आकृतिक गठन में श्रम सक्रियता के पूर्वाधार कालांतर के होमिनिडों की अपेक्षा कम विकसित थे। इस दृष्टि से उसे आस्ट्रेलोपिथेकस के साथ जोड़ा जाता है।

पूर्णतः मानवी हाथ, जो आधुनिक मानव के हाथ से बहुत कम भिन्न था या ज़रा भी भिन्न नहीं था, कब बना? क्रीमिया की कीक कोबा गुफा में मिले नियंडरथल मानव के अवशेषों का अध्ययन

करते हुए ग० बोंच-ओस्मोलोव्स्की ने हाथ के बारे में जो आंकड़े प्राप्त किये उनसे यह पता चलता है कि पैलियोऐंथ्रोपस अथवा नियंडरथल मानव का हाथ कुल जमा मानवी हाथ ही था। हां, आधुनिक मानव के हाथ की अपेक्षा वह अधिक चौड़ा और भारी था, किंतु यह विशेषता, शायद, नियंडरथल मानव के पुष्टकाय होने, उसका शरीर-गठन अनघड़ होने और मांसपेशियां अतिविकसित होने से संबंधित थी। नियंडरथल मानवों की प्रथम करभास्थि की निकटस्थ संधि का रूप अभी स्थिर नहीं था। प्रत्यक्षतः, यह अस्थिरता पूर्ववर्ती चरण में तीव्र गति से विकसित हुए आकृति के किन्हीं तत्वों की अस्थिरता का अवशेष थी। इस संधि (जोड़) के कुछ रूपों में अंगूठे के लिए उंगलियों के सामने की ओर गति में जो कठिनाइयां पैदा हो सकती थीं, वे अंगूठे को हथेली की दिशा में ले जानेवाली मांसपेशी के अतिविकसित होने से दूर हो जाती थीं। अन्य सभी बातों में पैलियोऐंथ्रोपस का हाथ आधुनिक मानव के हाथ से भिन्न नहीं था। यह सोचा जा सकता है कि आधुनिक मानव के हाथ की ही भांति वह भी सूक्ष्म गतियों में सक्षम था।

आर्कैंथ्रोपस अर्थात पिथिकैंथ्रोपस वंश के प्रतिनिधियों के हाथ के बारे में ऐसा निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जावा पिथिकैंथ्रोपस के हाथ की कोई भी अस्थि नहीं मिली है और सिनेंथ्रोपस की केवल एक, मणिबंध की अर्धचंद्राकार अस्थि मिली है। आधुनिक मानव की इसी नाम की अस्थि से उसमें यदि कोई भिन्नता है तो केवल यह कि वह अधिक चौड़ी है। इस प्रकार यहां भी वही विशेषता प्रतीत होती है, जो कि नियंडरथल मानव के हाथ की थी। किंतु, निस्संदेह, केवल एक अस्थि के आधार पर ऐसा कहना जोखिम का काम है, सो आर्कैंथ्रोपस के हाथ के बारे में हमारी धारणा अटकल ही अधिक है। इस प्रश्न पर कोई मत बनाने का अवसर हमें पूर्व पुरापाषाणकालीन उद्योग के अध्ययन से प्राप्त परिणामों से मिलता है। चर्चा जावा द्वीप पर पजितन संस्कृति की खोज की है। इस बात की बहुत संभावना है कि यह पिथिकैंथ्रोपस के समकालिक है। उधर चीन की चोऊ-कोऊ-त्यान गुफा में सिनेंथ्रोपस के अवशेषों के साथ पत्थर के औज़ार मिले हैं। ये खोजें यह इंगित करती हैं कि पूर्व पुरापाषाण काल के एक स्थायी औज़ार के नाते

हस्तकुठार के प्रकट होने का काल आर्कैंथ्रोपस के गठन का काल ही है। औज़ारों के रूप और प्रकार्यात्मक प्रयोजनों की स्थिरता न केवल इस बात की साक्षी है कि प्राचीनतम लोगों की चेतना में कोई परिवर्तन आये और उनका तकनीकी कौशल अधिक समृद्ध हुआ, वह इस बात की भी साक्षी है कि उनके गति-तंत्र का परिष्कार हुआ, हाथ का आगे विकास हुआ और, शायद, अंगूठे एवं शेष उंगलियों की लंबाई के बीच सच्चा मानवी अनुपात बन गया। यह देखते हुए कि पूर्व पुरापाषाण काल में पत्थर के औज़ार बनाने की विधियां काफ़ी जटिल हो चुकी थीं, यह संभावना और भी अधिक सही प्रतीत होती है। इसीलिए यह अनुमान कि अपने प्रायः अंतिम, आधुनिक हाथ से बहुत मिलते-जुलते रूप में हाथ आर्कैंथ्रोपस के उद्भव के काल में ही बना – यह अनुमान पुरातत्वीय आंकड़ों के पूर्णतः अनुरूप लगता है और मानववैज्ञानिक जीवाश्म-सामग्री से हमें जो जानकारी प्राप्त है उससे भी मेल खाता है।

उल्लेखनीय है कि हाथ की छैनी के प्रकट होने तथा सच्चे मानवी हाथ के गठन के अनुमानित काल में ही मस्तिष्क का आयतन भी १००-१५० घन सें० मी० बढ़ा। आस्ट्रेलोपिथेकस और प्रेज़िंजैंथ्रोपस के लिए यह आंकड़ा जहां ५०० से ६०० घन सें० मी० के बीच था, वहीं जावा पिथिकैंथ्रोपस के मस्तिष्क का औसत आयतन ६०० घन सें० मी० है और सिनेंथ्रोपस का तो इससे भी १००-१५० घन सें० मी० अधिक। एक ओर, प्राचीन होमिनिडों द्वारा श्रम सक्रियता के अगले चरण में संक्रमण तथा, दूसरी ओर, उनकी आकृति के परिष्कार, सर्वप्रथम उन अंगों (मस्तिष्क और हाथ) के, जिनका द्रुत उद्‌विकास जारी था, परिष्कार के बीच समानांतरता देखने में आती है। इस समानांतरता से होमिनिड कुल में वर्गिकीय समूह निर्धारित करने का हमारा कार्यभार आसान होता है।

जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, तुलनात्मक-आकृतिक अध्ययनों से पता चला है कि सूक्ष्म गतियों के परिष्कार की दिशा में हाथ का विकास उदग्रचारिता के परिष्कार से पीछे रहा। आस्ट्रेलोपिथेकस और प्रेज़िंजैंथ्रोपस दोनों के मामले में हमें इसके सीधे और ठोस प्रमाण प्राप्त हैं। इसके आधार पर होमिनिड कुल को दो उपकुलों में बांटा जा सकता है – होमिनिन (**homininae**) उपकुल

और आस्ट्रेलोपिथेसिन (**Australopithecinae**) उपकुल। यदि यह ध्यान में रखा जाये कि मस्तिष्क के आकार की दृष्टि से भी उनमें भेद है और, आ॰ वलुआ के मत में, मस्तिष्क संबंधी सीमा-रेखा इन दोनों के बीच ही गुजरी है, तो इन दो समूहों की आकृतिक प्रत्यास्थापना के लिए अतिरिक्त आधार मिलता है। इन दोनों उपकुलों का कालक्रमिक सहसंबंध भी बोधगम्य है – आस्ट्रेलोपिथेकस, जिनमें प्रेज़िंजैंथ्रोपस भी आते हैं, होमिनिन उपकुल के प्रतिनिधियों के पूर्ववर्ती थे। भौतिक संस्कृति के विकास के प्रमुख चरणों के साथ प्रत्येक उपकुल का संबंध भी स्पष्ट है। प्रेज़िंजैंथ्रोपस के काफ़ी अनघड़ पाषाण औज़ारों को, प्रत्यक्षतः, उसके हाथ के जैव अपरिष्कार का ही प्रमाण मानना चाहिए। आस्ट्रेलोपिथेकसों के अनघड़ अस्थि-उद्योग पर यह बात और भी अधिक लागू होती है।

अमरीकी जीवाश्मविज्ञानियों वी॰ ग्रेगोरी और एम॰ हेल्मन ने इन दोनों उपकुलों को वर्गीकरण में शामिल किया। लेकिन आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल का कोई स्थान उन्होंने निश्चित नहीं किया, उसकी वर्गिकीय स्थिति के प्रश्न को उन्होंने खुला छोड़ा। उधर, जे॰ सिम्पसन की काफ़ी प्रचलित वर्गीकरण तालिका के अनुसार, आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल को मानवाभ वानरों के कुल में रखना चाहिए। जी॰ हेबरर ने इससे भिन्न विचार व्यक्त किये, जो कुछ हद तक इन पृष्ठों पर व्यक्त विचारों से मिलते-जुलते हैं। ये आस्ट्रेलोपिथेसिनों और होमिनिनों को एक कुल में रखने का आधार बने। किंतु प्राथमिकता के नियम को, जिसके अनुसार सभी वर्गिकीय एककों के शुरू में रखे गये नाम बने रहने चाहिए, अस्वीकार करके हेबरर ने दोनों उपकुलों के एक ही मूल शब्द पर आधारित नाम रखे – प्रिहोमिनिन (**Praehomininae**) आस्ट्रेलोपिथेसिन के लिए तथा यूहोमिनिन (**Euhomininae**) होमिनिन के लिए। अनेक वर्गिकीविदों ने इन नये नामों का अनुमोदन किया है और साहित्य में ये देखने में आते हैं। ये नाम पूर्णतः तर्कसंगत लगते हैं, किंतु प्राथमिकता का नियम भंग होने के कारण इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः ग्रेगोरी और हेल्मन द्वारा रखे गये नामों को बनाये रखना ही उचित है। जे॰ रॉबिन्सन (१९६१) और कोनिग्सवाल्ड (१९६४) ने ऐसा ही किया है।

इस अनुच्छेद के अंत में हम प्रेज़िंजैंथ्रोपस को एक अलग वंश – होमो हेबिलिस (Homo habilis) मानने के प्रस्ताव के बारे में अपने विचार प्रकट करना चाहेंगे। इस प्रस्ताव का अनेक विशेषज्ञों ने समर्थन किया है, और आदिम समाज के इतिहास की अनेक समस्याओं के हल पर इसका प्रभाव पड़ा है। वास्तव में ही, होमो वंश के प्रतिनिधि के इतने पहले प्रकट होने से मानव के उद्‌विकास के बारे में हमारी धारणा आमूल बदलती है, मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया के अनेक पहलुओं को नये ढंग से देखने की प्रेरणा हमें मिलती है। किंतु क्या प्रेज़िंजैंथ्रोपस के अवशेषों को होमो वंश के आरंभिक प्रतिनिधि के अवशेष मानने का कोई आकृतिक आधार है? ऊपर हमने दिखाया है कि मस्तिष्क के आकार की दृष्टि से प्रेज़िंजैंथ्रोपस आस्ट्रेलोपिथिकस से आगे नहीं है, हाथ के गठन में अविकास के अनेक लक्षणों में भी वह कालांतर के होमिनिडों से भिन्न है। इसलिए, हमारे विचार में, इस खोज को वर्गीकरण में वंश की कोटि प्रदान करना शायद ही उचित है। इसका नाम भी हमें बिल्कुल अनुचित लगता है। ऊपर जो कुछ बताया गया है उसके आधार पर प्रेज़िंजैं-थ्रोपस को आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल में रखा जाना चाहिए, अतः उसका वंश-नाम होमो नहीं हो सकता। साथ ही जाति-नाम हेबिलिस बना रहना चाहिए – प्राथमिकता के उस नियम के अनुसार ही जिसके कारण हेबरर द्वारा प्रस्तावित नामों को अस्वीकार करना पड़ा है। प्रत्यक्षतः, इसका सर्वाधिक उचित नाम आस्ट्रेलोपिथिकस या पैरांथ्रोपस हेबिलिस ही होना चाहिए।

आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल का वंशों में विभाजन तथा होमिनिडों के इतिहास में उसकी भूमिका

प्रेज़िंजैंथ्रोपस की वर्गिकीय स्थिति पर विचार के पश्चात अब सामान्यतः आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल के वर्गीकरण पर आना नियमसंगत ही है। यह समस्या बहुत जटिल है, क्योंकि आस्ट्रेलोपिथेसिनों की खोजों में केवल कुछ अंश ही मिले हैं, उनका वर्णन अपूर्ण है, अन्य जीवाश्मी रूपों की ही भांति उनके वर्गीकरण में भी केवल अस्थि-

अवशेषों पर निर्भर करना पड़ता है। इसके अलावा यह समस्या इस कारण और भी अधिक पेचीदा हो जाती है कि जीवाश्मविज्ञानियों, विशेषतः नये जीवाश्मों के आविष्कारकर्ताओं, में अपनी खोज की वर्गिकीय श्रेणी बढ़ाने की, सामग्री को आलोचनात्मक दृष्टि से न देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। पांचवें दशक के अंत और छठे दशक के आरंभ में, जब आस्ट्रेलोपिथेसिनों की प्रमुख खोजें हो चुकी थीं, उनके वर्गीकरण और पूर्ण वर्णन को समर्पित आर० डार्ट और आर० ब्रूम की पहली कृतियां प्रकाशित हुईं। उन्होंने आस्ट्रेलो-पिथेसिन उपकुल में तीन वंश माने – स्वयं आस्ट्रेलोपिथेकस, पैरांथ्रोपस और प्लीसिऐंथ्रोपस। यह विभाजन न केवल आकृतिक कसौटी – कपाल और कंकाल के गठन में कुछ आकृतिक भेदों – पर आधारित है, बल्कि खोजों के अलग-अलग भौगोलिक स्थानों को भी इसमें ध्यान में रखा गया है। १९६१ में एक और वंश – चादैंथ्रोपस – का वर्णन किया गया। ये वंश समरूपी नहीं हैं। वर्तमान धारणाओं के अनुसार, इनमें कुछेक जातियां सम्मिलित हैं। डार्ट आस्ट्रेलोपि-थेकस वंश में दो जातियां मानते हैं – अफ़्रीकी आस्ट्रेलोपिथेकस और आस्ट्रेलोपिथेकस प्रोमेथियस। पैरांथ्रोपस वंश में भी दो जातियां मानी गयीं – महाकाय पैरांथ्रोपस और विशालदंत पैरांथ्रोपस। इस प्रकार, इस उपकुल के लिए, प्रत्यक्षतः, बहुरूपता और वर्गिकीय संरचना की जटिलता अभिलाक्षणिक थीं। कालांतर में अफ़्रीका की ओमो घाटी, कूबी फ़ोरा और ओल्डुवाई दर्रे में हुई खोजों से भी इस बात की अभिपुष्टि हुई।

परंतु इस कथन के लिए प्रस्तुत आधार पर्याप्त प्रामाणिक नहीं हैं। बात यह है कि अफ़्रीकी आस्ट्रेलोपिथेकस जाति शिशु कपाल के आनन खंड और अंतःकपाल के अध्ययन के आधार पर निर्धारित की गयी है, जबकि यह ज्ञात है कि आयु के साथ मस्तिष्क और कपाल दोनों में कितना परिवर्तन आता है। आस्ट्रेलोपिथेकस वंश की दूसरी जाति – आस्ट्रेलोपिथेकस प्रोमेथियस वयस्क प्राणी की अस्थियों के अवशेषों के आधार पर तय की गयी है। इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि दोनों जातियों के लिए यदि आयु की दृष्टि से तुलनीय सामग्री उपलब्ध होती तो शायद उन्हें एक जाति मानना पड़ता। यही बात पैरांथ्रोपसों पर भी लागू होती

है – उनकी दोनों जातियां वयस्क प्राणियों के कपालों और कंकालों की अस्थियों के आधार पर निर्धारित की गयी हैं, किंतु उनके बीच जो भेद पाये गये हैं वे बहुत अधिक नहीं हैं, और यदि उन्हें प्राणिविज्ञान की कसौटी से देखा जाये तो सामान्यतः जातियों के बीच भेदों की जो अपेक्षाएं हैं उन पर वे पूरे नहीं उतरते। इस प्रकार, इस कुल की जातीय बहुरूपता अतिरंजना प्रतीत होती है। आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल में जातियों की सही-सही संख्या निर्धारित कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि सारी उपलब्ध सामग्री का स्वतंत्र रूप से आलोचनात्मक अध्ययन किया जाये, जो अभी तक किसी ने नहीं किया है।

वंशों के निर्धारण पर भी आत्मनिष्ठता की छाप है। पैरांथ्रोपस वंश इक्की-दुक्की खोजों के आधार पर अलग किया गया है, तिस पर इन खोजों का वर्णन भी अभी तक सतही तौर पर ही किया गया है। आस्ट्रेलोपिथेकस और प्लीसिऐंथ्रोपस वंशों के प्रतिनिधियों के बीच भेद भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यदि इस उपकुल के सभी रूपों के बीच भेदों के पैमाने को आंका जाये तो एक बात निर्विवाद रूप से दृष्टिगोचर होती है – आकार की दृष्टि से दो समूहों में बहुत अंतर है। पहला समूह अपेक्षाकृत तनु शरीर के रूपों का है, जो आस्ट्रेलोपिथेकस और प्लीसिऐंथ्रोपस दोनों में पाये जाते हैं। शरीर के आकार के अलावा इनके हनु (जबड़े) और दांत भी अपेक्षाकृत छोटे हैं। दूसरा समूह महाकाय रूपों का है, जिनके हनु और दांत बहुत बड़े हैं। ऐसे रूपों को ही व० बुनाक (१९५९) और म० ग्रेम्यात्स्की (१९६६) ने महाहनु रूप कहा है। ये पैरांथ्रोपस हैं। इस प्रकार, आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल में फ़िलहाल दो वंश निकलते हैं – १९२५ में डार्ट द्वारा प्रस्तावित आस्ट्रेलोपिथेकस (**Australopithecus**) वंश तथा १९३८ में ब्रूम द्वारा प्रस्तावित पैरांथ्रोपस (**Paranthropus**) वंश। जे० रॉबिन्सन (१९५४) ने भी ऐसा ही किया है, उन्होंने इन वंशों के बीच कुछ और शरीररचनात्मक भेद भी इंगित किये हैं। इन दो वंशों की सीमाओं में प्रेज़िंजैंथ्रोपस की स्थिति अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, किंतु इतना कहना होगा कि आकार की दृष्टि से अर्थात हमने इस उपकुल में वंशों के निर्धारण की जो कसौटी मानी है उसके अनुसार प्रेज़िंजैंथ्रोपस आस्ट्रेलोपिथेकसों से मिलता-जुलता है

और पैरांथ्रोपसों से बहुत भिन्न है। अतः उसका आस्ट्रेलोपिथेकस हेबिलिस नाम उचित प्रतीत होता है।

उपरोक्त सभी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल होमिनिड कुल की उत्पत्ति में प्राचीनतम मंज़िल है, वह निचली कड़ी है जो होमिनिनों को पशु जगत से जोड़ती है। आज इतना प्रमाणित माना जा सकता है कि इस उपकुल के जीव पूरे या प्रायः पूरे अफ़्रीका महाद्वीप पर फैले हुए थे। इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि इस उपकुल के प्रतिनिधि दूसरे महाद्वीपों पर भी बसे हुए थे, हालांकि इसके कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अतः चतुर्थ कल्प के आरंभ या, शायद, तृतीय कल्प के अंत में ही अफ़्रीका के पर्वतीय अर्धरेगिस्तानी इलाक़ों में मानवाभ वानरों की कुछ समष्टियों का द्विपद गमन की ओर संक्रमण आरंभ हुआ। पशु जगत के उद्विकास के निर्णायक मोड़ों के क्षणों में नैसर्गिक वरण में सदा जो तीव्रता आती है उसके फलस्वरूप यह प्रक्रिया अधिक तीव्र हुई तथा आकृति और व्यवहार में उद्विकासमूलक परिवर्तन तेज़ी से आये। इस प्रकार उदग्रचारिता की ओर पूर्ण और स्थायी संक्रमण हुआ। ऊर्ध्व शाखाओं के मुक्त हो जाने से औज़ारों के तौर पर वस्तुओं का स्थायी उपयोग करने का पूर्वाधार बना। खुले इलाक़े में बहुसंख्य हिंसक जंतुओं से रक्षा की आवश्यकता इस सिलसिले में एक अतिरिक्त प्रेरक थी। इसलिए पहले औज़ार मात्र श्रम के औज़ार ही नहीं, रक्षा और आक्रमण के साधन भी थे। प्राकृतिक वस्तुओं के स्थायी उपयोग के परिणाम-स्वरूप इन वस्तुओं को काम में लाने के लिए थोड़ा-बहुत ठीक करना– यह श्रम सक्रियता के पहले अंकुर थे। इस सक्रियता के रूप नाना थे – कंद-मूल-फल बटोरना, छोटे (और कभी-कभी बैबून जैसे बड़े) जानवरों का शिकार, आदि। औज़ारों के रूप विभिन्न थे और वे अलग-अलग सामग्रियों से बनाये जाते थे – प्रहारक औज़ार मुख्यतः जानवरों की टांगों की लंबी हड्डियों से तथा दूसरे औज़ार बटिकाश्म और, शायद, लकड़ी से भी।

होमिनिन उपकुल का वंशों में विभाजन

होमिनिड लक्षणत्रयी का तीसरा तत्व है मस्तिष्क, जो ऐसे विभाजन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। आर्कैंथ्रोपसों से पैलियोऐंथ्रोपसों की ओर तथा पैलियोऐंथ्रोपसों से आधुनिक मानव की ओर संक्रमण के दौरान, अर्थात जब उदग्रचारिता का गठन, निस्संदेह, पूरा हो चुका था तथा, अंशतः जीवाश्मिकीय और अंशतः पुरातत्वीय सामग्रियों द्वारा अभिपुष्ट अनुमान के अनुसार, हाथ बुनियादी तौर पर आधुनिक मानव के हाथ जैसा बन चुका था, तब भी मस्तिष्क का द्रुत विकास जारी रहा। मस्तिष्क के आकार और विकास का अनुमान ढालित अंतःकपाल, अर्थात कपाल की भीतरी सतह की छाप से लगाया जा सकता है। यद्यपि यह अनुमान स्वयं मस्तिष्क के अध्ययन पर आधारित नहीं होता और मस्तिष्क की संरचना, विशेषतः आंतरिक संरचना की बहुत-सी विशेषताओं का इससे पता नहीं चल सकता, तथापि प्राप्त जानकारी मस्तिष्क के विकास के प्रमुख चरणों के पुनर्कल्पन के लिए पर्याप्त होती है, क्योंकि उसकी सहायता से मस्तिष्क के आयतन और उसकी स्थूल संरचना का काफ़ी विस्तार से पता चल सकता है।

व० कोचेत्कोवा (१९६६, १९७३) और एफ़० टोबायस (१९७१) ने पैलियोऐंथ्रोपसों और जीवाश्मी नियोऐंथ्रोपसों के अंतःकपाल के आयतन के बारे में उपलब्ध सभी आंकड़े जमा किये। इनसे पता चलता है कि पैलियोऐंथ्रोपसों के चरण तक मस्तिष्क का आकार तेज़ी से बढ़ता रहा, मध्य प्लाइस्टोसिन से उत्तर प्लाइस्टोसिन युग तक की अवधि में यह वृद्धि ३५०-५०० घन सें० मी० रही। स्वयं पैलियोऐंथ्रोपसों में कुछेक ऐसे कालक्रमिक और भौगोलिक समूह थे, जिनके बीच मस्तिष्क के आयतन में भेद थे, किंतु कुल जमा ये भेद बहुत थोड़े थे और आर्कैंथ्रोपस तथा पैलियोऐंथ्रोपस के बीच भेद की तुलना में नगण्य ही थे। यह बात भी बहुत रोचक है कि पैलियोऐंथ्रोपसों और नियोऐंथ्रोपसों के बीच भेद बहुत कम हैं। नियंडरथल पुरुषों के २६ कपालों से मस्तिष्क का औसत आयतन १४६३.२ घन सें० मी० निकला है, ३ नारी कपालों से १२७०.१ घन सें० मी०। उत्तर पुरापाषाण काल के लोगों के

लिए तत्संबंधी आंकड़े हैं – १५८१.१ घन सें० मी० (१६ प्रेक्षणों का औसत) तथा १४७६.६ घन सें० मी० (११ प्रेक्षणों का औसत)। ऐसा प्रतीत होता है कि पैलियोऐंथ्रोपसों के अंतःकपाल का आयतन आधुनिक मानव के लिए लाक्षणिक इस आयतन जितना या प्रायः उतना हो गया था। विशेष साहित्य में यह मत भी प्रचलित है कि नियंडरथल मानव के मस्तिष्क का आयतन आधुनिक मानव से अधिक था, किंतु इन आंकड़ों से इसकी पुष्टि नहीं होती। पश्चिमी यूरोप के उत्तरकालीन नियंडरथल मानवों जैसे कुछ समूहों में, संभवतः, यह आयतन आधुनिक औसत आंकड़ों से थोड़ा-सा अधिक था। इस उद्‌विकासमूलक परिवर्तन के कारणों को लेकर लंबा विवाद चला है और इसकी व्याख्या के लिए अनेक प्राक्कल्पनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। यहां हमारे लिए ये सब कोई विशेष महत्व नहीं रखतीं, सो हम इन पर नहीं रुकेंगे। सारे मतभेदों के बावजूद मूल निष्कर्ष में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता है और निष्कर्ष यह है कि मस्तिष्क के आयतन की दृष्टि से पैलियोऐंथ्रोपस आर्कैंथ्रोपसों के बजाय आधुनिक मानव के ही अधिक समीप हैं।

मस्तिष्क का आयतन बदलने के साथ-साथ उसकी संरचना भी बदली। नयी-नयी खोजों के विवरण ज्यों-ज्यों प्रकट होते गये हैं, त्यों-त्यों आर्कैंथ्रोपसों और पैलियोऐंथ्रोपसों के अंतःकपालों की स्थूल संरचना का अध्ययन हुआ है, ऐसा कंकाल के आकृतिक अध्ययन के साथ-साथ किया गया है – जीवाश्मी खोजों के प्रायः सभी पूर्ण विवरणों में मस्तिष्क की संरचना के बारे में अध्याय भी हैं। इन सभी अध्ययनों से जो मुख्य बात पता चली है वह यह है कि मस्तिष्क की ऊंचाई और गोलार्धों के ललाट खंडों का आपेक्षिक आकार क्रमशः बढ़ता गया। वैसे, यह भी सच है कि पैलियोऐंथ्रोपसों के इन खंडों की संरचना अभी अपरिष्कृत ही थी, उनका रूप "चोंचनुमा" था। मस्तिष्क के विभिन्न खंडों का अनुपात भी काफ़ी अपरिष्कृत था तथा पार्श्विक और पश्चकपाल खंडों का आकार बढ़ रहा था – इस सबको देखते हुए यह माना गया कि पैलियोऐंथ्रोपसों और आधुनिक लोगों के मस्तिष्क की संरचना के बीच गहरी, सुस्पष्ट विभाजन-रेखा है। अधिसंख्य विशेषज्ञ इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। यह पैलियोऐंथ्रोपस और आधुनिक मानव के बीच भेदों के

पैमाने के मूल्यांकन की अभिव्यक्ति है। उद्विकास की दृष्टि से इस पैमाने को प्राकृतिक वरण के कार्य के अलग-अलग प्रभाव का सूचक बताया गया – वरणात्मक कारकों के प्रभाव में पैलियोऐंथ्रोपसों की आकृति का पुनर्गठन हुआ जबकि आधुनिक मानव पर इन कारकों का प्रभाव काफ़ी क्षीण रहा।

इस दृष्टिकोण से कुल जमा सहमत होते हुए भी हम यहां नियोऐंथ्रोपस के मस्तिष्क की स्थूल संरचना में उद्विकासमूलक पुनर्गठन के बारे में हाल ही में प्राप्त जानकारी का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते। चर्चा क्रोमेगनोन ३ और पाव्लोव खोजों की है। यहां मिले अवशेष उत्तर पुरापाषाण काल के बिल्कुल आरंभिक दिनों के हैं। क्रोमेगनोन ३ के ढालित अंतःकपाल में अधिक स्पष्टतया तथा पाव्लोव डेरे से प्राप्त ढालित अंतःकपाल में कम स्पष्टतया यह देखा जा सकता है कि निचले ललाट कर्णक (गाइरस) में विकास के केंद्र हैं, अपेक्षाकृत बड़े पश्चकपाल खंडों और अपेक्षाकृत छोटे अनुमस्तिष्क (सेरिबेलम) के बीच काफ़ी अपरिष्कृत अनुपात बना हुआ है। उत्तर पुरापाषाणकालीन लोगों के आरंभिक रूपों के अंतःकपालों की ऐसी संरचना इस बात की साक्षी है कि उद्विकास-मूलक पुनर्गठन कम से कम अंशतः जारी था, जिसका अर्थ है कि वरण का प्रभाव काफ़ी प्रबल था। प्रत्यक्षतः, इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पैलियोऐंथ्रोपसों और आधुनिक मानव के बीच विभाजन-रेखा विलुप्त तो नहीं होती, परंतु पहले की भांति स्पष्ट भी नहीं रहती, कुछ-कुछ धुंधली पड़ जाती है। यह निष्कर्ष होमिनिन उपकुल में जीवाश्मी मानव रूपों के सारतः सही और सर्वाधिक तर्कसंगत वर्गीकरण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, इस उपकुल के भीतर सर्वाधिक महत्वपूर्ण और परिवर्तनशील संरचना मस्तिष्क ही है, सो इसके गठन के रूपभेद ही इस वर्गीकरण में सर्वप्रथम प्रतिबिंबित होने चाहिए। प्रत्यक्षतः, उन उत्तरकालीन रूपों को जिनके मस्तिष्क का आयतन आधुनिक स्तर पर पहुंच या प्रायः पहुंच चुका था एक वर्ग में रखना चाहिए। उनके मुक़ाबले में पूर्वकालीन होमिनिडों को रखना चाहिए जिनके मस्तिष्क का आकार कम था। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों समूहों को वंश की श्रेणी प्राप्त

होनी चाहिए – यह बात वर्गीकरण की परंपरा के भी अनुरूप है। प्राथमिकता के नियम के कारण वंश-नामों के चयन की संभावनाएं सीमित हैं: कालक्रम की दृष्टि से आरंभिक वंश का नाम, प्रत्यक्षतः, ये० ड्युबुआ (१८९४) द्वारा की गयी खोज के नाम के अनुसार, पिथिकैंथ्रोपस होना चाहिए, कालक्रम में बाद में प्रकट हुए वंश का नाम होमो ही होना चाहिए, जो कार्ल लिन्ने ने 'प्रकृति व्यवस्था' के दसवें संस्करण (१७५८) में सुझाया था। पहले वंश के प्रतिनिधि आर्कैंथ्रोपस हैं, दूसरे वंश के पैलियोऐंथ्रोपस और नियोऐंथ्रोपस।

होमिनिन उपकुल का ऐसा विभाजन प्रस्तुत करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने उ जु-कान (१९६४) और म० ग्रेम्यात्स्की (१९५०, १९६२, १९६४) का अनुसरण किया है। कभी-कभी, जैसे कि म० नेस्तुर्ख़ (१९४१, १९६०) के वर्गीकरण में, वर्गिकीय दृष्टि से समान दो वंशों के स्थान पर तीन समान उपवंश माने जाते हैं (पैलियोऐंथ्रोपसों को अलग उपवंश माना जाता है), जो एक वंश में संगठित होते हैं। यह वंश हमारे वर्गीकरण में उपकुल की श्रेणी का होता है। ऊपर हम यह बता चुके हैं कि हम पैलियोऐंथ्रोपसों को एक स्वतंत्र समूह के नाते आर्कैंथ्रोपसों और नियोऐंथ्रोपसों दोनों के ही मुक़ाबले में रखने के बजाय उन्हें आधुनिक लोगों (नियोऐंथ्रोपसों) के साथ एक समूह में रखना क्यों उचित समझते हैं। वैसे, एक और दृष्टिकोण भी है जिसके अनुसार पैलियोऐंथ्रोपसों को आर्कैंथ्रोपसों के साथ एक समूह में मिलाकर उन्हें नियोऐंथ्रोपसों के मुक़ाबले में रखा जाता है। यह दृष्टिकोण इस धारणा पर आधारित है कि पूर्वोक्त रूप विकासमान थे, जबकि अंतोक्त अपेक्षाकृत स्थिर आकृतिक रूप हैं, जिन पर वरण का प्रभाव कम रहा। किंतु ऊपर हम बता चुके हैं कि कुछ नये तथ्य इस धारणा को ग़लत साबित करते हैं।

तो, आइये, इस अनुच्छेद का सारांश देखें। होमिनिन उपकुल के प्रतिनिधियों के लिए सबसे अधिक संरचनात्मक परिवर्तन मस्तिष्क में ही आये, और स्वाभाविक ही है कि उससे जुड़े कपाल के अनेक लक्षण भी बदले। पैलियोऐंथ्रोपस के चरण में मस्तिष्क का आयतन आधुनिक मानव के मस्तिष्क के आयतन जितना या प्रायः उतना हो गया। इस चरण में मस्तिष्क की संरचना का पुनर्गठन होना

तथा आधुनिक मानव में इस पुनर्गठन का संपन्न होना सामान्यतः होमो सेपियन्स के प्रकट होने तक द्रुत उद्‌विकास का तथा उत्तर पुरापाषाण काल में इसके रुक जाने का प्रमाण माना जाता है। इससे विपरीत दृष्टिकोण की अनेक बार आलोचना हुई है। किंतु पिछले वर्षों के अनुसंधानों से उत्तर पुरापाषाण काल के कुछ लोगों के ढालित अंतःकपालों पर तीव्र वृद्धि के केंद्रों का पता चला है, जो उन दिनों भी हो रहे उद्‌विकासमूलक पुनर्गठनों का प्रमाण हैं। दूसरी ओर, मस्तिष्क के आयतन में वृद्धि से ही उसकी संरचना के पुनर्गठन के लिए अनुकूल पूर्वाधार और संभावनाएं बनती हैं। इसलिए होमिनिन उपकुल में मस्तिष्क के आकार के आधार पर दो वंश – पिथिकैंथ्रोपस (Pithecanthropus) और होमो (Homo) – इंगित किये जा सकते हैं। प्रथम वंश में सभी आर्कैंथ्रोपस शामिल हैं, दूसरे में पैलियोऐंथ्रोपस और आधुनिक मानव (नियोऐंथ्रोपस)।

आर्कैंथ्रोपस वंश का जातियों में विभाजन तथा होमिनिडों के इतिहास में उसका स्थान

आर्कैंथ्रोपस वंश के वर्गीकरण में भी अलग-अलग खोजों की वर्गिकीय श्रेणी अधिक ऊंची बताने की वही प्रवृत्ति पायी जाती है जो हमने आस्ट्रेलोपिथेसिनों के वर्गीकरण में देखी। हर विद्वान अपनी खोज को, वह चाहे कितनी भी आंशिक क्यों न हो, अलग वंश बताता है। यह प्रवृत्ति ड्युबुआ से आरंभ हुई जिन्होंने वंश-नाम (पिथिकैंथ्रोपस) सुझाया और, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, प्राथमिकता के नियम का पालन करते हुए यह नाम बनाये रखा गया है। फिर सिनेंथ्रोपस (Sinanthropus) को भी वंश का दर्जा दिया गया। १९५४-१९५५ में के० अरम्बुर द्वारा उत्तरी अफ़्रीका में की गयी खोजों को भी वंश की श्रेणी प्रदान की गयी और उनका नाम ऐटलांथ्रोपस (Atlanthropus) रखा गया। इसके अलावा १९०७ में हाइडेलबर्ग के निकट मौएर गांव में हुई खोज को भी प्रायः एक अलग वंश बताया जाता है।

इस प्रकार, उस वर्गिकीय एकक में जिसे हमने वंश (आर्कैं-

थ्रोपस) माना है, चार वंश बताये जाते हैं। दूसरी ओर, इन्हें जातियां मानने के लिए पर्याप्त आकृतिक आधार भी है – पिथिकैंथ्रोपस और सिनेंथ्रोपस के कपाल के गठन, मस्तिष्क के आकार और संरचना में यद्यपि ब्योरों में कुछ भेद हैं तथापि समानता ही अधिक है। इसी प्रकार कुछ मौलिक लक्षणों के बावजूद हाइडेलबर्ग मानव और ऐटलांथ्रोपस के दांतों और जबड़ों की संरचना में समानता है। भौगोलिक कसौटी भी इन चारों रूपों को अलग-अलग जातियां ही प्रमाणित करती प्रतीत होती है – हाइडेलबर्ग मानव (यूरोप), ऐटलांथ्रोपस (उत्तरी अफ़्रीका), सिनेंथ्रोपस (पूर्वी एशिया), पिथिकैंथ्रोपस (दक्षिण-पूर्वी एशिया)। किंतु उपरोक्त सभी खोजों का अधिक बारीकी से आकृतिक अध्ययन करने पर इस धारणा में कुछ संशोधन करना आवश्यक हो जाता है।

सबसे पहले इस बात को ही लें कि जीवाश्मी मानव के इन रूपों में से कम से कम दो उद्विकास-सोपान के दो क्रमिक चरण हैं। ये हैं पिथिकैंथ्रोपस और सिनेंथ्रोपस। १९३६-१९४५ के दौरान प्रकाशित एफ़० वाइडनराइख़ के विलक्षण और सुप्रसिद्ध शोध ग्रंथों में पूरी निश्चितता के साथ यह प्रमाणित किया गया है कि सिनें-थ्रोपस पिथिकैंथ्रोपसों की तुलना में उद्विकास के अधिक ऊंचे चरण में थे। उनके मस्तिष्क का आयतन अधिक था, कपाल तोरण की ऊंचाई अधिक थी, अध्यक्षि (भौंह के ऊपर का) उभार कुछ कम हो गया था – ये तथा आकृति की कुछ अन्य कम महत्वपूर्ण विशेषताएं इसका प्रमाण हैं। पिछले दशकों में हुई पिथिकैंथ्रोपसों के नये अवशेषों की खोजें पूरी तरह इन भेदों की वास्तविकता की पुष्टि करती हैं। चौथे दशक में हुई पिथिकैंथ्रोपसों की खोजों में तथाकथित पिथिकैं-थ्रोपस ४ के कपाल के कुछ छोटे-छोटे अवशेष ही मिले थे, लेकिन उनसे भी यह पता चलता है कि उसका गठन बड़ा अपरिष्कृत था। कुछ विद्वानों ने तो पिथिकैंथ्रोपस ४ को अलग जाति मानने का प्रस्ताव भी रखा है, किंतु, प्रत्यक्षतः, इसके लिए पर्याप्त आधार नहीं है। बहरहाल, यह खोज इतना अवश्य दिखाती है कि पिथिकैंथ्रोपसों और सिनेंथ्रोपसों को एक दूसरे के मुक़ाबले में रखा जा सकता है, कि उद्विकास-सोपान में उनका स्थान क्रमिक है। पिथिकैंथ्रोपस वंश में इन दो जातियों को अलग करने की आवश्यकता उद्विकास

एवं आकृतिविज्ञान की दृष्टि से निर्विवाद है। प्राथमिकता के नियम के अनुसार इनके नाम क्रमशः ये होंगे – पिथिकैंथ्रोपस इरेक्टस (Pithecanthropus erectus) और पिथिकैंथ्रोपस पेकीनेंसिस (Pithecanthropus pekinensis)।

दो दूसरे रूपों – हाइडेलबर्ग मानव और ऐटलांथ्रोपस – के सिलसिले में विशेषज्ञों ने अनेक बार यह इंगित किया है कि वे पिथिकैंथ्रोपस से अधिक विकसित रूप हैं और इस दृष्टि से उनमें सिनेंथ्रोपस के साथ कुछ-कुछ समानता है। यही बात होमिनिडों के विकास के इस चरण के मानव के अवशेषों की दो नयी खोजों के बारे में कही जा सकती है। ये खोजें हंगरी के वेर्तेशस्योल्लेश नामक स्थान पर तथा जर्मन जनवादी जनतंत्र के बिल्जिंगेलेबेन नामक स्थान पर हुई हैं। इन चारों रूपों की एक दूसरे से समानता के बारे में निश्चित तौर पर कुछ कहना कठिन है, क्योंकि चारों मामलों में कपालों और निचले जबड़ों के अलग-अलग अंश ही मिले हैं। सो, प्रत्यक्षतः, इस मामले में भौगोलिक कसौटी ही प्रमुख है, इसलिए इन चारों रूपों की समष्टियों को एक जाति में संगठित किया जा सकता है, जो यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका में बसी हुई थी। प्राथमिकता के नियम के अनुसार ही इसका नाम पिथिकैंथ्रोपस हाइडेलबर्गेंसिस (Pithecanthropus heidelbergensis) रखा जा सकता है।

पिथिकैंथ्रोपस वंश का (अब जब हमने यह वंश निर्धारित कर लिया है तो प्राचीनतम होमिनिनों के लिए आर्कैंथ्रोपस के साथ-साथ यह नाम भी इस्तेमाल किया जा सकता है) वर्गीकरण तब तक पूरा नहीं माना जा सकता जब तक कि हम वर्गीकरण में तथाकथित जावा नियंडरथलों तथा पिछले दो दशकों के दौरान अफ़्रीका में हुई नयी खोजों के स्थान का प्रश्न हल नहीं कर लेते। पूर्वोक्त के कपाल १९३१ में जावा में सोलो नदी की घाटी में न्गांदोंगा नामक स्थान पर मिले थे। अधिसंख्य विशेषीकृत ग्रंथों और सामान्य रचनाओं – दोनों में ही सोलो नदी के जावा रूपों को पैलियोऐंथ्रोपस समूह में रखा गया है। जबकि एफ़० वाइडेनराइख़ ने अपनी कृति (१९५१) में इन रूपों का विशद विवरण प्रस्तुत करते हुए आश्वस्तकारी ढंग से यह प्रमाणित किया है कि मस्तिष्क और कपाल की संरचना की दृष्टि से जावा के रूप पैलियोऐंथ्रोपसों के बजाय पिथिकैंथ्रोपसों और

सिनेंथ्रोपसों के कहीं अधिक समीप हैं। मस्तिष्क के आयतन में वे सिनेंथ्रोपसों के समीप हैं, उनके कपाल की संरचना में कई ऐसी विशेषताएं हैं, जो उसका अल्पविकसित, अपरिष्कृत होना इंगित करती हैं, जैसे कि अत्यंत विकसित सेगिटल टोरस, कपाल के असाधारणतया बड़े उभार। व० बुनाक (१९५९) ने वाइडेनराइख के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। कतिपय सांख्यिक तुलनाएं भी यही दिखाती हैं। किंतु इन खोजों की वर्गिकीय स्थिति का प्रश्न पिथिकैंथ्रोपस वंश के साथ इनके इस सामीप्य से ही हल नहीं हो जाता। इनके काल-निर्धारण से यह पता चलता है कि ये पैलियोऐं-थ्रोपसों के समकालिक शायद ही न रहे हों, यहां तक कि ये आधुनिक मानव के प्राचीनतम प्रतिनिधियों के भी समकालिक हो सकते हैं। इनकी कुछ आकृतिक विशेषताओं में पैलियोऐंथ्रोपसों के साथ इनकी समानता देखी जा सकती है। इन खोजों की मौलिक आकृति, जिसके कुछ लक्षण उसका पिथिकैंथ्रोपसों के समान अल्पविकसित होना तथा कुछ विशेषताएं पैलियोऐंथ्रोपसों जैसा विकसित होना इंगित करती हैं, तथा इनका उत्तरवर्ती काल – इन दोनों बातों को देखते हुए पिथिकैंथ्रोपस वंश में एक चौथी जाति – पिथिकैंथ्रोपस सोलोएंसिस **(Pithecanthropus soloensis)** — मानी जा सकती है।

ओल्डुवाई दर्रे के तीन लाख साल पुराने संस्तरों में एक कपाल मिला है। वैज्ञानिक साहित्य में इसे ओल्डुवाई २ कपाल कहा जाता है। इस कपाल की ऊंचाई बहुत कम है और लंबाई बहुत अधिक, मस्तिष्क का आयतन लगभग १००० घन सें० मी० है। आकार के ये अनुपात तथा कपाल के, विशेषतः ललाट के उभारों का विकास देखकर जावा पिथिकैंथ्रोपसों की याद आती है। यह तो ज्ञात नहीं है कि इस रूप का वास-क्षेत्र कितना था, हां, इतना अवश्य स्पष्ट है कि इसकी लाक्षणिक विशेषताएं कूबी फ़ोरा के इससे बहुत पहले के अवशेषों में भी देखी गयी हैं। चर्चा दो कपालों की है, जो, प्रत्यक्षतः, पंद्रह लाख वर्ष से अधिक पुराने हैं। इनमें से एक – क्रमांक **KHM — EP** 3733 – के मस्तिष्क का आयतन ८५० घन सें० मी० है, जबकि दूसरा कपाल– **KHM — EP** 3883 – मस्तिष्क के आयतन में पहले से बड़ा है। इसका आयतन लगभग १००० घन सें० मी० है। ओल्डुवाई २ कपाल की संरचनात्मक विशेषताओं, जावा पिथिकैं-

थ्रोपस के साथ उसकी समानता तथा उसका अफ़्रीकी वास-क्षेत्र देखते हुए जी० हेबरर (१९६३) ने पिथिकैंथ्रोपस वंश में एक नयी जाति निर्धारित की और उसका नाम लुईस लीकी के सम्मान में पिथिकैंथ्रोपस लीकेई **(Pithecanthropus Leakeyi)** रखा। यह पिथिकैंथ्रोपस वंश में पांचवीं जाति है, जिसमें कूबी फ़ोरा के उपरोक्त रूपों को भी मानना चाहिए, इस बात के बावजूद कि इनके और ओल्डुवाई की खोज के बीच दस लाख वर्ष से भी अधिक का कालांतर है।

१९७२ में कूबी फ़ोरा में एक और कपाल ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इसका क्रमांक **KHM — EP** 1470 रखा गया। आरंभ में इसकी आयु २७०००००–३०००००० वर्ष पायी गयी, किंतु अब यह माना जाता है कि यह कपाल कम से कम १६ लाख वर्ष पुराना है, वैसे यह २५ लाख वर्ष से अधिक पुराना भी हो सकता है। इसके मस्तिष्क का आयतन आरंभ में ८००-८२० घन सें० मी० पाया गया, किंतु दुबारा से अधिक सही माप लेने पर ७००-७७५ घन सें० मी० निकला। यह कपाल जावा और लीकेई पिथिकैंथ्रोपसों के कपालों की अपेक्षा कहीं अधिक तनु है। इसकी तनुता अस्थियों की मोटाई में तथा ललाट का उभार अल्पविकसित होने में व्यक्त होती है। इस आधार पर यह सोचा जा सकता है कि यह कपाल किसी मादा प्राणी का है, किंतु इसके चेहरे की असाधारण ऊंचाई, जो आर्कैंथ्रोपसों और पैलियोऐंथ्रोपसों के लिए अधिकतम ऊंचाई जितनी है, यह इंगित करती है कि यह नर कपाल है। ऐसा होने पर दूसरे पिथिकैंथ्रोपसों के कपालों से उसके भेद बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसीलिए पिथिकैंथ्रोपस वंश में एक छठी जाति भी इंगित की गयी, जिसका नाम तुर्काना झील के पुराने नाम पर पिथिकैंथ्रोपस रुडोल्फ़ेंसिस **(Pithecanthropus rudolfensis)** रखा गया। प्रत्यक्षतः, १९७३ में कूबी फ़ोरा में मिला कपाल **KHM — EP** 1813 भी इसी जाति का माना जाना चाहिए। यह कपाल उन भौगोलिक संस्तरों में मिला है जो कम से कम १२ लाख साल पुराने हैं, किंतु १६ लाख साल से अधिक पुराने भी हो सकते हैं। यहां मिला कपाल, निस्संदेह, मादा प्राणी का है, कपाल का आकार बहुत छोटा है और मस्तिष्क का आयतन ५०० घन सें० मी० से अधिक नहीं है। किंतु संरचनात्मक

विशेषताओं की दृष्टि से यह कपाल **KHM — EP** 1470 कपाल जैसा ही है। ऐसा आकार मध्य अफ़्रीकी बौनों के आकार की याद दिलाता है। हो सकता है कि पर्यावरण के प्रभाव और वृद्धि प्रक्रियाओं में परिवर्तनों के कारण उत्पन्न बौनेपन की प्रवृत्ति और तत्संबंधी वरण अफ़्रीका में होमिनिड कुल के इतिहास के आरंभिक दिनों से ही विद्यमान हो? भावी खोजें इस प्रश्न का उत्तर देंगी।

होमिनिड कुल में पिथिकैंथ्रोपस वंश का स्थान इससे संबंधित खोजों के काल-प्रसार द्वारा निर्धारित होता है। जावा पिथिकैंथ्रोपस १०-१५ लाख साल पहले हुए थे, अफ़्रीकी पिथिकैंथ्रोपस उससे भी अधिक पुराने हो सकते हैं। सोलो नदी की घाटी के होमिनिड, जैसा कि इंगित किया जा चुका है, बहुत बाद के हैं। इस प्रकार, पिथिकैंथ्रोपस होमिनिनों का वह पहला समूह थे, जो आस्ट्रेलोपिथेकसों के आधार पर बना। यह समूह आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल और होमो वंश के बीच की कड़ी था, और बहुत लंबे काल तक जिया। पिथिकैंथ्रोपसों के कुछ रूप तो, प्रत्यक्षतः, होमो वंश के साथ-साथ अस्तित्वमान थे।

होमो वंश का जातियों में विभाजन

होमिनिडों के तीन प्रमुख लक्षणों में से दो – सीधे चलना और मुक्त हाथ, जो सूक्ष्मतम श्रम संक्रियाओं में सक्षम थे – ये दोनों, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, होमो वंश के प्रकट होने के समय ही बन गये थे। किंतु तीसरे लक्षण – मस्तिष्क – का होमो वंश के इतिहास के काल में भी तेज़ी से विकास होता रहा। इसका प्रमाण पैलियोऐंथ्रोपसों के ढालित अंतःकपालों और आधुनिक मानव के मस्तिष्क की संरचना की विशेषताओं के तुलनात्मक अध्ययन से मिलता है। इस विकास की अभिव्यक्ति स्वयं मस्तिष्क के आकार के परिवर्तन में नहीं हुई, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, आकार तो अधिकतम हो चुका था। इस विकास में मस्तिष्क के अलग-अलग खंडों के आकार और उनका अनुपात बदला, दूसरे शब्दों में, मस्तिष्क की संरचना का पुनर्गठन हुआ। अतः, उद्विकास के दत्त चरण

में होमिनिड लक्षणत्रयी की सर्वाधिक विकासमान संरचना का पता लगाने और इस संरचना के रूपांतरों के आधार पर वर्गिकीय समूह निर्धारित करने के नियम का सुसंगत पालन करते हुए हमें होमो वंश में विभेदन मस्तिष्क के गठन के अनुसार ही करना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आधुनिक मानव के मस्तिष्क की तुलना में पैलियोऐंथ्रोपस के मस्तिष्क की बनावट कहीं अधिक सरल थी – ऊंचाई में वह अल्पविकसित था, ललाट खंडों की आकृति अपरिष्कृत थी, पश्चकपाल खंड बहुत बढ़ा हुआ था, अनुमस्तिष्क छोटा था। इन आकृतिक लक्षणों के अनुसार विभेदन कालक्रमिक भेदों के साथ मेल खाता है – अधिक पुराने रूपों के मस्तिष्क की संरचना अपरिष्कृत है, जबकि उत्तरवर्ती रूपों में यह आधुनिक मानव से मिलती-जुलती है। मस्तिष्क की संरचना में भेद और भौतिक संस्कृति के विकास के चरण भी मेल खाते हैं – अल्पविकसित रूपों के अस्थि-अवशेष मोस्तारी संस्तरों में ही मिले हैं, जबकि अपेक्षाकृत विकसित रूप उत्तर पुरापाषाण काल के संस्तरों में। इस नियम के कुछ अपवाद, जैसे कि स्तारोसेल्ये (क्रीमिया) में मोस्तारी संस्तर में स्पष्टतया आधुनिक प्ररूप के बाल-कपाल का मिलना, विरल हैं और वे सामान्य नियमसंगति को नहीं बदलते। इस प्रकार, मानव संस्कृति के जो तत्व मोस्तारी काल में प्रकट हो सकते थे, उनका पूर्ण विकास वास्तव में जीवाश्मी मानवों की आकृतिक संरचना के आधुनिक मानव के स्तर तक पूर्णतः विकसित होने से जुड़ा हुआ है, और कुछ हद तक यह विकास, प्रत्यक्षतः, इस संरचना में निहित क्षमताओं के क्रियान्वयन का परिणाम है। निस्संदेह, यह बात सर्वप्रथम मस्तिष्क पर लागू होती है।

अतः, पैलियोऐंथ्रोपसों और नियोऐंथ्रोपसों में विभाजन अनेक अलग-अलग पहलुओं से देखने पर उचित निकलता है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती जीवाश्मी होमिनिडों के सामूहिक भेदों के बारे में यह दृष्टिकोण ही सबसे अधिक मान्य है। हमें याद है कि आधुनिक मानव के लिए होमो सेपियन्स जाति-नाम कार्ल लिन्ने ने अपने ग्रंथ 'प्रकृति व्यवस्था' के दसवें संस्करण में सुझाया था। पैलियोऐंथ्रोपसों के लिए दो जाति-नाम सुझाये गये थे – डब्ल्यू० किंग (१८६१)

द्वारा – होमो नियंडरथलेंसिस (Homo neanderthalensis) – तथा एल० विलसर (१८६७) द्वारा – होमो प्राइमीजीनियस (Homo primigenius) । दोनों नाम यों तो समान रूप से सफल हैं – पहला नाम एक प्रथम और सुप्रसिद्ध खोज के स्थान के भौगोलिक नाम पर आधारित है, जबकि दूसरे नाम में पैलियोऐंथ्रोपस की आकृति के अल्पविकास पर बल दिया गया है। बहरहाल, प्राथमिकता के नियम को मानते हुए पहले नाम को ही वरीयता दी जानी चाहिए।

पैलियोऐंथ्रोपस और आधुनिक मानव – इन दो जातियों को निर्धारित करते समय उनके बीच कंकाल, और विशेषतः कपाल आकृति में भेदों की ओर सदा विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। इन दोनों जातियों के बीच भेदों का अधिक से अधिक पूर्ण और सविस्तार आकृतिक विवरण पाने की चेष्टा करते हुए मानवविज्ञानी इन्हें एक दूसरे से अलग करनेवाले लक्षण खोजने में बड़े धीरज और चतुराई का परिचय देते हैं। इन खोजों का महत्व सैद्धांतिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। हम जानते हैं कि पैलियोऐंथ्रोपसों के अधिसंख्य जीवाश्म आंशिक ही होते हैं, प्रायः कंकाल अथवा कपाल की एक-दो अस्थियां ही मिलती हैं। सो, स्वाभाविक ही है कि आधुनिक मानव की तुलना में पैलियोऐंथ्रोपस के कंकाल की आकृति का अध्ययन जितनी अधिक अच्छी तरह कर लिया जायेगा, किसी खोज की जाति पहचानने की संभावनाएं उतनी ही अधिक होंगी।

पैलियोऐंथ्रोपस और आधुनिक मानव के कंकाल के गठन में जितने भी भेद हैं, उनमें प्रायः एक भी ऐसा नहीं है, जो अपने आप में निरपेक्ष महत्व रखता हो। जाति-निर्धारण के लिए अधिक से अधिक भेदों को मिलाकर देखना चाहिए और बहुधा ऐसा ही किया जाता है। कपाल का गठन अन्य लक्षणों से अधिक महत्वपूर्ण है, इसमें भी आनन खंड का नहीं, मस्तिष्क खंड का गठन : कपाल तोरण की ऊंचाई, अधिनेत्रगुहा का विकास, ललाट अस्थि का झुकाव, पश्चकपाल का रूप और उस पर मांसपेशियों के उभार का विकास। अधः हनु (निचले जबड़े) की आकृति भी महत्वपूर्ण है, विशेषतः चिबुक उत्सेध (ठोड़ी का आगे को निकला होना) तथा दांतों की संरचना। इनमें से कुछ लक्षण मस्तिष्क के आकार और रूप से जुड़े हुए हैं, कुछ जाति-निर्धारण में स्वतंत्र भूमिका अदा करते हैं, किंतु कुल जमा

इनका महत्व अनुपूरक ही होता है। इन सब बातों को देखते हुए मस्तिष्क की संरचना के आधार पर ही पैलियोऐंथ्रोपसों को नियोऐंथ्रोपसों से अलग करना चाहिए। हां, अगर अंतःकपाल की जानकारी उपलब्ध न हो और उसे पाना संभव न हो तब कपाल की वे विशेषताएं ही जिनका मस्तिष्क के गठन के साथ घनिष्ठ आकृतिक-शरीरक्रियात्मक सहसंबंध होता है, अग्रभूमि में आती हैं। इस दृष्टि से आधुनिक मानवों के कपालों पर नियंडरथल मानव के लक्षण पाये जाने की जिन अलग-अलग घटनाओं का उल्लेख वैज्ञानिक साहित्य में कई बार हुआ है, उनका कोई वर्गिकीय अर्थ नहीं है; किसी भी हालत में ऐसे तथ्यों का उपयोग इस या उस आधुनिक मानव नस्ल का पैलियोऐंथ्रोपसों के साथ सामीप्य प्रमाणित करने के लिए नहीं होना चाहिए।

सो, होमो वंश में मस्तिष्क की संरचना और उसके अंशों के अनुपात की दृष्टि से दो समूह बनते हैं। पहले समूह की विशेषता यह है कि उसमें अनेक अविकसित लक्षण बने रहे। इसमें पैलियोऐंथ्रोपस आते हैं। दूसरे समूह के लिए मस्तिष्क का आधुनिक स्तर तक पूर्ण विकास अभिलाक्षणिक है। यह नियोऐंथ्रोपसों का समूह है। इस आधार पर होमो वंश में दो जातियां मानी गयी हैं – होमो नियंडरथलेंसिस तथा होमो सेपियन्स (बुद्धिसंपन्न मानव)। इस अंतिम जाति के प्रकट होने के काल में ही अन्य प्रायः सभी लक्षणों में भी मानव शरीर की आधुनिक संरचना का गठन पूरा हो गया। इस प्रकार, होमिनिड कुल और होमो वंश का वर्गीकरण निम्न रूप में होता है।

कुल: होमिनिड **(Family Hominidae, Gray, 1825)**

पहला उपकुल: आस्ट्रेलोपिथेसिन **(Subfamily Australopithecinae, Gregory and Hellman, 1939)**

पहला वंश: आस्ट्रेलोपिथेकस **(Genus Australopithecus, Dart, 1925)**

दूसरा वंश: पैरांथ्रोपस **(Genus Paranthropus, Broom, 1938)**

दूसरा उपकुल: होमिनिन **(Subfamily Homininae, Gregory and Hellman, 1939)**

पहला वंश : पिथिकैंथ्रोपस (Genus Pithecanthropus, Dubois, 1894)

पहली जाति : पिथिकैंथ्रोपस इरेक्टस (Species Pithecanthropus erectus, Dubois, 1894)

दूसरी जाति : पिथिकैंथ्रोपस पेकीनेंसिस (Species Pithecanthropus pekinensis, Black, 1929)

तीसरी जाति : पिथिकैंथ्रोपस हाइडेलबर्गेसिस (Species Pithecanthropus heidelbergensis, Schoetensack, 1908)

चौथी जाति : पिथिकैंथ्रोपस सोलोएंसिस (Species Pithecanthropus soloensis, Oppenoorth, 1932)

पांचवीं जाति : पिथिकैंथ्रोपस लीकेई (Species Pithecanthropus Leakeyi, Heberer, 1963)

छठी जाति : पिथिकैंथ्रोपस रुडोल्फ़ेंसिस (Species Pithecan thropus rudolfensis, Alexeev, 1978)

दूसरा वंश : होमो (Genus Homo, Linnaeus, 1758)

पहली जाति : होमो नियंडरथलेंसिस (Species Homo neanderthalensis, King, 1861)

दूसरी जाति : होमो सेपियन्स (Species Homo sapiens, Linnaeus, 1758)

होमिनिडों के इतिहास में पैलियोऐंथ्रोपस का स्थान

विचाराधीन प्रश्न की हमारी व्याख्या अधूरी न रह जाये इसके लिए होमो वंश की जातियों के बीच आनुवंशिक परस्पर संबंधों तथा पूर्ववर्ती वंश की जातियों के साथ उनके सहसंबंध पर कुछ शब्द कहे जाने चाहिए, क्योंकि मानवोत्पत्ति विषयक साहित्य में इस समस्या को सदा एक प्रमुख समस्या माना जाता रहा है। व्यवहारिकतः चर्चा इस बात की है कि आर्कैंथ्रोपस और आधुनिक मानव के संदर्भ में पैलियोऐंथ्रोपस का स्थान कहां है। पिछली सदी में और इस सदी के पहले दो दशकों में पैलियोऐंथ्रोपसों को होमिनिड कुल के इतिहास में एक आनुषंगिक शाखा ही माना जाता था, जिसका आधुनिक मानव के विकास के साथ कोई संबंध नहीं था।

ऐसा दृष्टिकोण पैलियोऐंथ्रोपस की आकृतिक मौलिकता तथा आधुनिक मानव के साथ उसकी आकृति में भेदों के अतिमूल्यांकन पर आधारित था। किंतु १९२७ में चेकोस्लोवाकियाई विद्वान अ० ह्रद्लीच्का ने यह प्रमाणित कर दिखाया कि आधुनिक मानव के उद्विकास में नियंडरथल चरण भी रहा था। इसके लिए उन्होंने आकृतिविज्ञान के तर्क प्रस्तुत किये (पैलियोऐंथ्रोपस की आकृति आर्कैंथ्रोपस और नियोऐंथ्रोपस की आकृतियों के बीच की है, नियोऐंथ्रोपसों के कपालों पर नियंडरथल लक्षण मिलते हैं), भौगोलिक कसौटी इंगित की (आस्ट्रेलिया को छोड़कर, जहां मनुष्य बाद में बसा, पुरानी दुनिया के सभी महाद्वीपों पर पैलियोऐंथ्रोपस फैले हुए थे,) नियंडरथल मानव के कंकालों और आधुनिक मानव के प्राचीनतम कंकालों की खोजों के सापेक्षिक कालक्रम की ओर ध्यान दिलाया (पूर्वोक्त सदा उत्तरोक्त से अधिक पुराने पाये गये हैं) तथा पुरातात्विक तथ्यों को उपयोग किया (मुस्तारी उद्योग और उत्तर पुरापाषाणकालीन उद्योग के बीच सातत्य है)। कालांतर में हुई खोजों से ह्रद्लीच्का के इस मत का औचित्य सिद्ध हुआ कि नियंडरथल अवस्था होमिनिड कुल के इतिहास का एक चरण थी। इन खोजों से यह भी पता चला है कि पैलियोऐंथ्रोपसों का वास-क्षेत्र आरंभिक आनुमानों से भी कहीं अधिक व्यापक था। इसका एक उदाहरण है सोवियत अकादमीशियन अ० ओक्लाद्निकोव द्वारा १९३८ में उज़्बेकिस्तान की तेशिक ताश गुफा में पैलियोऐंथ्रोपस के कंकाल की खोज।

होमिनिडों के उद्विकास में पैलियोऐंथ्रोपसों को आनुषंगिक शाखा मानने के पुराने दृष्टिकोण का ही एक रूपांतर प्रिसेपियन्स **(Presapiens)** की प्राक्कल्पना है, जो हेबरर, वलुआ तथा अन्य कई पश्चिम यूरोपीय मानवविज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसके अनुसार, पैलियोऐंथ्रोपसों के साथ-साथ या, शायद, कालक्रम में उनसे कुछ पहले भी ऐसे मानवों का अस्तित्व था, जिनकी आकृति आधुनिक मानव की आकृति से बहुत कम भिन्न थी। यह प्राक्कल्पना स्वांस्कॉम्ब (इंगलैंड) तथा फ़ोंतेश्वाद (फ़्रांस) में हुई खोजों पर आधारित है। किंतु ये खोजें चूंकि आंशिक ही हैं इसलिए इनके आधार पर पूरे विश्वास के साथ कुछ कहना कठिन

है। या० रोगीन्स्की (१९४७, १९५१) ने प्रिसेपियन्स की प्राक्क-ल्पना के खंडन के लिए बहुत काम किया है, उन्होंने यह दिखाया है कि अनेक लक्षणों में स्वांस्कॉम्ब में मिला कपाल आधुनिक मानव के कपाल की अपेक्षा पैलियोऐंथ्रोपस के कपाल से कहीं अधिक मिलता-जुलता है। फ़ोंतेश्वाद में प्राप्त कपाल के बारे में यही बात ऐ० त्रिंकाउस (१९७३) ने प्रमाणित की है। ओमो घाटी (इथियो-पिया) के कपाल भी कुछ सिद्ध नहीं करते, हालांकि उनके बारे में शुरू में लिखा गया था कि वे आधुनिक मानव के अतिप्राचीन काल के कपाल हैं। इनकी प्राचीनता संदेहास्पद है और आकृति की दृष्टि से भी उनका होमो सेपियन्स रूपी कपाल होना निर्विवाद नहीं है। अतः प्रिसेपियन्स की प्राक्कल्पना का तथ्यात्मक आधार बहुत कमज़ोर है। इसके अलावा इसमें यह नहीं बताया जाता कि उन प्राचीन सेपियन्सी रूपों की उत्पत्ति क्या है, जिनसे आधुनिक मानव बना माना जाता है। यह सब देखते हुए इस प्राक्कल्पना के प्रति आलोचनात्मक रुख़ ही अपनाया जा सकता है। जहां तक पैलि-योऐंथ्रोपस के स्थानिक रूपभेदों तथा आधुनिक मानवों के साथ उनके आनुवंशिक संबंध की बात है, इन सभी प्रश्नों पर आधुनिक मानव की उत्पत्ति के प्रसंग में विचार करना ही हमें उचित प्रतीत होता है।

पैलियोऐंथ्रोपसों के इतिहास की कालक्रमिक सीमाएं बहुत व्यापक हैं: आज से प्रायः १५०००० वर्ष से ३५००० वर्ष पहले तक इनका काल था। स्वतःस्पष्ट है कि इतने लंबे काल के दौरान पैलियो-ऐंथ्रोपसों की शारीरिक विशेषताओं का काफ़ी अधिक विकास हुए बिना नहीं रह सकता था। इस विकास की विस्तृत रूपरेखा हमारे लिए अभी अस्पष्ट ही है। अभी यह भी स्पष्ट नहीं है कि आर्कैं-थ्रोपसों की कौन-सी जाति नियंडरथल जाति के गठन का आधार बनी। किंतु उपरोक्त सभी बातों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि नियं-डरथल जाति होमो सेपियन्स के उद्‌भव का आधार बनी। इसी से होमिनिड कुल के इतिहास में इसका स्थान निर्धारित होता है।

वर्गिकीय समूहों के समामेलन की प्रवृत्ति

ऊपर के पृष्ठों पर लेखक ने होमिनिडों के वर्गीकरण की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो उसके अपने विशेष कार्यों तथा संसार के अनेक देशों में प्रकाशित विशद ग्रंथों में दिये गये जीवाश्मी अवशेषों के विवरणों और उनके अध्ययन के परिणामों पर आधारित है। इस व्याख्या को माननेवाले या इससे मिलते-जुलते विचार रखनेवाले विद्वानों के जो हवाले ऊपर दिये गये हैं उनसे पता चलता है कि वर्गीकरण के प्रश्नों पर लेखक अपने दृष्टिकोण में अकेला नहीं है, कि यह दृष्टिकोण उन सिद्धांतों पर आधारित है, जिन्हें बहुत-से विद्वान स्वीकार करते हैं और जिनका गहन अनुशीलन हुआ है। हम इस बात पर विशेषतया ज़ोर दे रहे हैं, क्योंकि मानवविज्ञान में होमिनिड कुल में आनेवाले सभी रूपों के विस्तृत वर्गीकरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ इससे विपरीत प्रवृत्ति भी है, जिसमें वर्गिकीय समूहों का समामेलन किया जाता है और मानव के प्राचीन पूर्वजों के सभी जीवाश्मी रूपों को कुछ थोड़ी-सी जातियों और वंशों में ही बांटा जाता है। ऊपर हमने यह इंगित किया था कि कोई जीवाश्मविज्ञानी जब कोई खोज करता है तो बहुधा वह उसे ऊंचे से ऊंचा वर्गिकीय दर्जा प्रदान करने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से समामेलन की प्रवृत्ति को सामान्यतः वर्गीकरणविज्ञान में और विशेषतः जीवाश्मी मानवों के वर्गीकरण में एक अग्रगामी प्रवृत्ति मानना चाहिए। किंतु किसी उपागम को, चाहे वह कितना भी कारगर क्यों न हो, सुसंगत रूप से एक जड़सूत्र की भांति क्रियान्वित करने से इस बात का खतरा पैदा हो जाता है कि निष्कर्ष बस एक खाका बनकर रह जायेंगे और वास्तविकता की द्वंद्वात्मक विविधता खो जायेगी। हमारे मामले में पहले से ही यह कहा जा सकता है कि वर्गिकीय समूहों को अत्यधिक बड़ा करने से अलग-अलग रूपों के बीच आकृतिक भेद नज़रंदाज़ किये जायेंगे और मानवोत्पत्ति की सारी प्रक्रिया में एक भयावह एकरूपता आ जायेगी, जबकि ये आकृतिक भेद प्राचीन होमिनिडों के स्थानिक दलों के बीच आनुवंशिक परस्पर संबंधों की विविधता प्रतिबिंबित करते हैं।

मानवोत्पत्ति में वर्गिकीय समूहों का दायरा बढ़ाने और परिणामतः

उनकी कुल संख्या घटाने की प्रवृत्ति ऐ० मेयर के लेख (१९५१) से आरंभ हुई। यह लेख उन्होंने मानवविज्ञान में आनुवंशिक अनुसंधानों का क्षेत्र बढ़ाने तथा सामान्यत: सैद्धांतिक मानवविज्ञान में आधुनिक आनुवंशिकी की विधियों और अभ्युपगमों के उपयोग को समर्पित संगोष्ठी में पेश किया था। उद्विकास-जीवविज्ञान के लब्धप्रतिष्ठ सिद्धांतकार मेयर ने अपने विषय के दृष्टिकोण से अपने विचार व्यक्त किये। अनेक मामलों में उन्होंने मानवविज्ञानियों की इस बात के लिए बिल्कुल सही आलोचना की कि वे जीवाश्मी रूपों को अनुचित ही वंश का दर्जा प्रदान कर देते हैं – इसके उदाहरण हम ऊपर देख चुके हैं। मेयर के कार्य की विशेष शाखा है पक्षिविज्ञान और इस क्षेत्र में भी उनकी गिनती संसार के प्रमुख विशेषज्ञों में होती है। क्या कारण है कि पक्षिविज्ञानी और उद्विकासविद ने मानवोत्पत्ति की समस्याओं की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की, इनमें से कुछ समस्याओं की अपनी मौलिक समझ पेश की और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उसका मंडन किया? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें मेयर के विचारों की प्रणाली से अवगत होना चाहिए। वर्गिकीय समूहों का दायरा सीमित करने की जीवाश्मविज्ञानियों की जिस प्रवृत्ति की उन्होंने आलोचना की उसके मुक़ाबले में उन्होंने उद्विकास-जीवविज्ञान और जीवाश्मिकी के तथ्यों के आधार पर समसामयिक जातियों और वंशों की जीवाश्मी जातियों और वंशों से तुलना करते हुए यह प्रस्ताव रखा कि मानव के सभी जीवाश्मी पूर्वजों को, आस्ट्रेलोपिथेकस समेत एक वंश – होमो – में रखा जाये, जिसमें तीन जातियां हों – होमो ट्रांसवालेंसिस (**Homo transvaalensis**), होमो इरेक्टस और होमो सेपियन्स। पहली जाति में उन्होंने सभी आस्ट्रेलोपिथेसिनों को रखा, दूसरी में सभी आर्कैंथ्रोपसों को तथा तीसरी में पैलियोऐंथ्रोपसों और आधुनिक मानव को। मानवविज्ञान में पिछले दिनों दो पारिभाषिक शब्द प्रचलित हुए हैं – वर्गीकरण में समामेलन के समर्थकों को लम्पर (अंग्रेज़ी के **lump** शब्द से बना) कहा जाता है तथा वर्गीकरण में विखंडन के समर्थकों को स्प्लिटर (अंग्रेज़ी के **split** शब्द से बना) कहा जाता है। यह समझना कठिन नहीं है कि मेयर का प्रस्ताव मानवोत्पत्ति में "लम्परों" के दृष्टिकोण की चरम अभिव्यक्ति है।

पिछले दिनों जीवाश्मिकी में "लम्परवाद" का बहुत प्रचलन हुआ है। यह पूर्ववर्ती "स्प्लिटरवाद" पर नियमसंगत प्रतिक्रिया ही है। स्वाभाविक ही है कि समय की चेतना के अनुरूप यह प्रतिक्रिया मानवोत्पत्ति में काफ़ी प्रबल सिद्ध हुई और जीवाश्मी सामग्री पर काम करनेवाले विशेषज्ञों ने, विशेषतः उन विशेषज्ञों ने, जो प्राचीन होमिनिडों के कालक्रमिक विकास का कमोबेश पूर्ण चित्र पुनर्कल्पित करने का प्रयास कर रहे थे, मेयर के प्रस्ताव का पूर्ण या आंशिक समर्थन किया। उल्लेखनीय है कि सभी होमिनिडों को एक वंश में सम्मिलित करने के प्रस्ताव को सबसे पहले स्वीकार करनेवालों में जे० रॉबिन्सन (१९६१) भी थीं। उन्होंने कभी आस्ट्रेलोपिथेसिनों को आस्ट्रेलोपिथेकसों और पैरांथ्रोपसों में विभाजित करने का सुझाव रखा था और, जेसा कि हमने ऊपर सिद्ध करने का प्रयास किया है, यह विभाजंन आज भी सार्थक है। स्वयं रॉबिन्सन ने आर्कैंथ्रोपसों तथा उत्तरवर्ती होमिनिडों के समामेलन के विचार को तो स्वीकार किया, लेकिन आस्ट्रेलोपिथेसिनों के बारे में अपना पहला दृष्टिकोण बनाये रखा। इसके बाद के वर्षों में भी अब तक कई ऐसी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आस्ट्रेलोपिथेसिनों की वर्गिकीय स्थिति को भांति-भांति से आंका गया है, किंतु उनसे उत्तरवर्ती होमिनिडों के समामेलन की प्रवृत्ति को अक्षुण्ण रखा गया है। यह प्रवृत्ति अंग्रेज़ीभाषी देशों में विशेषतः प्रचलित है, जबकि जर्मनभाषी देशों में इसके विपरीत विखंडन की प्रवृत्ति बनी हुई है और विकसित हो रही है।

इस अध्याय के पूर्ववर्ती भागों से सहज ही यह समझा जा सकता है कि लेखक का "लम्परवाद" के प्रति रुख आलोचनात्मक है। हालांकि हम यह मानते हैं कि पहली नज़र में यह "लम्परवाद" प्रगामी लगता है, कि इसके प्रकट होने के पीछे जीवाश्मिकी के कई वस्तुगत कारण हैं, कि नित नये वर्गिकीय समूहों के आविष्कार की मनमानी यह बंद करता है। तो फिर सवाल भर उठता है कि इस आलोचनात्मक रुख के पक्ष में क्या तर्क पेश किये जा सकते हैं और मानवोत्पत्ति में "लम्परवाद" की सैद्धांतिक दुर्बलता किस बात में निहित है। हमारे विचार में, यहां दो तर्क विशेषतः महत्वपूर्ण हैं। इस प्राक्कल्पना के कुछ समर्थक यह मानकर चलते हैं और

कुछ खुलेआम इसकी घोषणा करते हैं कि प्राचीन होमिनिडों के स्थानिक दलों के बीच किसी तरह की आनुवंशिक बाधाएं नहीं थीं और इन दलों के प्रतिनिधियों के बीच संकरण संभव था, वैसे ही जैसे कि प्रकृति में निकटतः संबंधित जातियों के जंतुओं का कभी-कभी संकरण होता है। यदि संकरण की कसौटी को ही सर्वोपरि मान लिया जाये तो सभी प्राचीन होमिनिड वास्तव में ही एक जाति के हैं और उनके अधिजातीय विभेदन की संभावना बहुत कम है। लेकिन, पहली बात, निकटतः संबंधित जातियों के प्रतिनिधियों का संकरण प्रकृति में एक नियम नहीं, विरला अपवाद है, दूसरे, होमिनिडों के उद्‌विकास के आरंभिक चरणों में आनुवंशिक बाधाओं के न होने की प्राक्कल्पना आनुवंशिकीविज्ञानियों और मानवविज्ञानियों द्वारा आधुनिक समाज में इन बाधाओं के अध्ययन के सारे अनुभव के विपरीत बैठती है। इनकी भूमिका, विशेषतः भौगोलिक बाधाओं की भूमिका तो आज भी बहुत बड़ी है, मानवजाति के इतिहास के उदयकाल में तो इन कारकों का प्रभाव कहीं अधिक प्रबल रहा होगा। आबादी की अल्प सघनता भी आनुवंशिक बाधाओं का प्रभाव प्रबल करती होगी। सो, हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन होमिनिडों में स्वतंत्र संकरण होता था (यदि इसके जैव पूर्वाधार थे भी, तो भी व्यवहार में यह असंभव था), परिणामस्वरूप उन्हें एक ही जाति के प्रतिनिधि मानने का पूर्वाधार नहीं रहता। वैसे, हमें यह मानना होगा कि यह तर्क परोक्ष ही है। लेकिन स्तनपायी जीवों की तुलना में प्राचीन होमिनिडों के अलग-अलग दलों के बीच कपालों और कंकालों में भेदों के प्रत्यक्ष प्रेक्षण भी इस तर्क की पुष्टि करते हैं। इन भेदों का जो परिमाण पाया गया है वह जातीय और अंतःजातीय भेदों की अपेक्षा वंशीय और अधिवंशीय भेदों के ही अधिक अनुरूप है। इस प्रकार, प्रत्यक्ष तर्क भी "लम्परवाद" का खंडन करता है और होमिनिडों के विस्तृत वर्गीकरण को उचित ठहराता है।

होमिनिडों के वर्गीकरण पर विचार कर चुकने के पश्चात अब यह तर्कसंगत होगा कि हम मानव के पूर्वजों के गठन और विकास के कारकों पर तथा उन प्रेरक शक्तियों पर ग़ौर करें, जिन्होंने मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया का संचालन किया तथा जो वानर से नर

में संक्रमण के समय तथा होमिनिडों के सारे उद्‌विकास के दौरान प्रगामी आकृतिक परिवर्तन लाती रहीं। इन पंक्तियों के लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि इन प्रक्रियाओं की सारी जैव नियम-संगतियां श्रम द्वारा निर्मित विशेष सरणियों के रास्ते काम करती थीं, सो मानवोत्पत्ति के कारकों का निरीक्षण करते हुए हम अगले अध्याय में आर्कैंथ्रोपसों और पैलियोऐंथ्रोपसों की श्रम सक्रियता की चर्चा करेंगे।

अध्याय दो

औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की उत्पत्ति और आरंभिक इतिहास

औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की उत्पत्ति और संरचना

जिसे हम पशु व्यवहार कहते हैं, उसके और जिन क्रियाओं को आधुनिक मानव के निकटतम पूर्वगामियों की श्रममूलक संक्रियाएं और सामाजिक व्यवहार कहा जाता है उनकी समष्टि के बीच स्पष्ट भेद करने के लिए यह ठीक-ठीक जानना आवश्यक है कि औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता क्या चीज़ है। हमने इस अध्याय के शीर्षक में "औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता ..." से पहले "आरंभिक होमिनिडों का" पद इसलिए नहीं जोड़ा है कि, हमारे मत में, औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता, जो कार्यसाधक, सोद्देश्य, परिणामदायी श्रम है, केवल होमिनिडों में पायी जाती है, कि पशुओं में औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता दिखाने के सभी प्रयास प्रमाणहीन तथा सिद्धांततः निराधार हैं और उच्चतर पशुओं द्वारा किन्हीं वस्तुओं को औज़ार के तौर पर इस्तेमाल किये जाने की जो इक्की-दुक्की घटनाएं देखने में आती हैं, उन्हें वैसे ही औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता नहीं कहा जा सकता, जैसे ऊदबिलावों द्वारा बांध खड़े किये जाने, चींटियों और दीमकों द्वारा बांबियां बनाये जाने और पक्षियों द्वारा घोंसले बुने जाने को औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आगामी पृष्ठों पर औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता पर इसी दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

किंतु पहले हम मनुष्यपूर्व, पशुसुलभ, सहजवृत्तिक अथवा परावर्ती श्रम विषयक उस प्राक्कल्पना का ज़िक्र करना चाहेंगे जिसे सबसे पूर्ण रूप में सोवियत विद्वान ब० पोर्शनेव (१९५५) और यू० सेम्योनोव (१९६२) ने प्रतिपादित किया था (यद्यपि समाज की उत्पत्ति के पहले चरणों के बारे में इन दोनों विद्वानों के बुनि-

यादी विचारों में गंभीर अंतर है) और जिसे सोवियत साहित्य में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। ब० पोर्शनेव ने मनुष्य के उद्विकास के आरंभिक चरणों की व्याख्या जीवविज्ञान के नियमों के आधार पर किये जाने और यह दिखाने के लिए कि पशुओं और आदिमानवों के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं, अपितु पूर्ण समानता थी और मनुष्यत्व के तत्व का प्रकट होना आधुनिक मानव – होमो सेपियन्स – के अस्तित्व में आने के साथ जुड़ा हुआ है, बहुत कुछ किया है और अपने विचारों के पक्ष में विदग्ध तर्क प्रस्तुत किये हैं। दूसरी ओर, यू० सेम्योनोव ने भी मानवोत्पत्ति के आरंभिक चरण को ठोस सामाजिक अंतर्वस्तु से भरपूर सिद्ध करने और बहुत सारे सामाजिक संबंधों का भ्रूण प्राचीनतम और प्राचीन होमिनिडों के झुंडों के गर्भ में ही खोजने के लिए बहुत काम किया है। सहजवृत्तिक अथवा परावर्ती मनुष्यपूर्व श्रम के संबंध में दोनों विद्वानों के दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न हैं। वे इस परिघटना की अलग-अलग ढंग से व्याख्या करते हैं। किंतु हमारे लिए महत्वपूर्ण वह है जो उनके बीच समान है, अर्थात पशुसुलभ श्रम के यथार्थ अस्तित्व में विश्वास और इस अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न। ब० पोर्शनेव और उनके समर्थक कहते हैं कि नियंडरथल मानव अथवा पैलियोऐंथ्रोपस पशु था। इसलिए वे पशुसुलभ श्रम के इतिहास को, सहजवृत्तिक श्रम के इतिहास को आधुनिक मानव के प्रकट होने तक ले आते हैं और इस लिहाज़ से मधुमक्खी तथा नियंडरथल मानव की सक्रियता के बीच न सिर्फ़ कोई अंतर नहीं देखते, बल्कि ऐसा कोई अंतर न होने का निश्चयपूर्वक दावा भी करते हैं। किंतु यू० सेम्योनोव – और बहुत से अन्य विद्वान भी – इस प्रकार के निष्कर्षों का घोर विरोध करते हैं। उनके मत में, पशुओं और मनुष्यों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा है, जो पिथिकैंथ्रोपसों और सिनेंथ्रोपसों को, अर्थात आर्कैंथ्रोपसों को पशु जगत से पृथक करती है। ये विद्वान परावर्ती श्रम को आर्कैंथ्रोपसों से पूर्ववर्ती चरण की विशेषता बताते हैं। किंतु इस सबके बावजूद समस्या के संबंध में उनका दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर वही रहता है, अर्थात वे भी उसी सीमा की बात करते हैं जो वास्तविक, सच्चे श्रम को मनुष्यपूर्व पशुसुलभ श्रम से अलग करती है। मतभेद केवल इस बारे

में रहते हैं कि कालानुक्रम सारिणी में इस सीमा को कहां रखा जाये।

सहजवृत्तिक श्रम विषयक प्राक्कल्पना का सैद्धांतिक प्रयोजन क्या है? मानवजाति की विकासीय गत्यात्मकता की संकल्पना में श्रम के इस रूप का क्या स्थान है? खेद है कि आज के सूचना-अत्युत्पादन के ज़माने में, वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिणामों को संक्षेप में ही प्रस्तुत किये जाने के ज़माने में वैज्ञानिक लोग यह विरले ही बताते हैं कि शोध की कोई निश्चित दिशा या कोई निश्चित वैज्ञानिक प्राक्कल्पना उन्होंने किन मनोवैज्ञानिक कारणों से चुनी है। हम समझते हैं कि हमारी रुचि के प्रसंग में मुख्य उत्प्रेरक पशुओं की जीवन-सक्रियता के निम्नतर रूपों और मनुष्य की सक्रियता के उच्चतर रूपों के बीच में जिन रूपों का अस्तित्व था, उनकी सोद्देश्य तलाश है, अर्थात अंतिम विश्लेषण में यह मुख्य उत्प्रेरक व्यवहार के क्षेत्र की गतिकी के अध्ययन के संबंध में विकासवादी उपागम को वैसे ही प्रस्थापित करने की इच्छा है जैसे एक शताब्दी पहले आकृतिविज्ञान के क्षेत्र में किया गया था। समकालीन जीव-विज्ञान ने ऋजुरैखिक विकासवादी उपागम को त्याग दिया है, किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से वह व्यवहार के अध्ययन के संबंध में अभी भी अपनाया जाता है। व्यवहार एक ऐसी परिघटना है कि जो आकृति से अकल्पनीय रूप से अधिक पेचीदा है और जिसने जीवित पदार्थ के बहुविध रूपों के बीच असंख्य प्रकार के संबंधों के लिए आधार प्रदान किया है तथा सतत परिवर्तनशील, प्रायः अप्रत्याशित मानव व्यवहार, श्रम सक्रियता, सामाजिक संबंधों, विचारधारा के क्षेत्र, आदि को जन्म दिया है। असंदिग्ध रूप से कारगर द्वंद्वात्मक उपागम है, जो यह मानकर चलता है कि पूर्ववर्ती विकास के आधार पर गुणात्मकतः नयी परिघटनाएं जन्म लेती हैं, जो अपने से पहले की परिघटनाओं से बुनियादी तौर पर भिन्न होती हैं। वर्तमान मनुष्य के पूर्वजों – प्राचीन होमिनिडों – की औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता, हमारे मतानुसार, ठीक ऐसी ही गुणात्मकतः नयी परिघटना थी।

सहजवृत्तिक श्रम विषयक प्राक्कल्पना का तथ्यात्मक आधार भी कमज़ोर है। उसके विरोध में क्या तर्क दिये जा सकते हैं? प्राणिमनोविज्ञान संबंधी साहित्य एतद्विषयक प्रेक्षणों से भरा

पड़ा है कि किसी पशु के लिए उसकी सहजवृत्तिक क्रियाएं तब कितनी ऊलजलूल, निरर्थक और यहां तक कि हानिकारक सिद्ध होती हैं जब वह किसी नये परिवेश में पहुंच जाता है और उसकी भिन्न परिस्थितियों में बनी हुई सहजवृत्तियां नयी परिस्थितियों से बेमेल होती हैं। सहजवृत्तिक व्यवहार के मूल में हमेशा अनुकूली मनोशरीर-क्रियात्मक प्रोग्राम होते हैं, जो आनुवंशिकतः नियत और किन्हीं निश्चित पारिस्थितिक अवस्थाओं के लिए कठोर वरण की प्रक्रिया में निर्मित होते हैं। इसलिए सहजवृत्तिक व्यवहार व्यवहारात्मक क्रियाओं का एक संकीर्ण क्षेत्र ही है और किसी भी प्रकार इस या उस पशु के व्यवहार की संपूर्ण बहुविधता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इन पृष्ठों का लेखक पशुओं के व्यवहार में स्वचालित सहजवृत्तिक क्रियाओं की अभिभूतकारी प्रधानता रहने और उनकी चिंतन-सक्रियता का क्षेत्र अत्यंत सीमित होने का समर्थक नहीं है (निस्सं-देह, यहां आशय उच्चतर क़िस्म के जीवों से है), यद्यपि इस प्राक्कल्पना के हिमायतियों की तादाद इसके बावजूद आज भी काफ़ी बड़ी है कि प्रायोगिक अनुसंधानों के परिणाम उसका खंडन करते हैं। पशुओं की व्यवहारात्मक क्रियाएं, संभवतः, निरुपाधिक परावर्तन-तंत्रों के आधार पर अथवा एकमात्र उनके ही आधार पर निष्पादित नहीं होती हैं। फिर भी पशुओं की निर्माणकारी और अन्य "सृजनकारी" सक्रियता मनुष्यों के वस्तुतः सृजनकारी कार्यकलाप से मुख्य रूप में इसी कारण भिन्न है कि वह, यानी पशुओं की सक्रियता, संकीर्ण सीमाओं के भीतर पूर्वनियत तथा लगभग विचलनहीन होती है, पशु आनुवंशिकता की पुकार सुनने को विवश होता है तथा उसका उत्तर भी देता है, चाहे वह ऐसी परिस्थितियों में ही क्यों न हो कि जिनमें इस प्रकार का उत्तर देने से उसकी मृत्यु हो सकती है। सहजवृत्ति एक सीमित दायरे में ही कार्यसाधक है, क्योंकि वह अप-रिवर्त्य अथवा लगभग अपरिवर्त्य और स्वस्फूर्त होती है। इसलिए ऊदबिलावों के डेरे, पक्षियों के घोंसले और मधुमक्खियों के छत्ते उबा डालने की हद तक एक जैसे होते हैं या अत्यंत कम ही एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसके अलावा ऊदबिलाव बांबी नहीं बना सकता और चींटियां नाले पर बांध नहीं खड़ा कर सकतीं।

जब हम कहते हैं कि सहजवृत्ति अपरिवर्त्य होती है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह विकासमूलक दृष्टि से भी पूर्णतः अपरिवर्त्य होती है। जब प्राणियों का समूह किसी भिन्न पारिस्थितिक वातावरण में रहने लगता है, तो सहजवृत्ति बदल जाती है। सहजवृत्तिक व्यवहार पीढ़ियों के परिवर्तन के साथ भी बदलाव की प्रक्रिया से गुज़रता है, अगर जीवन की भौगोलिक परिस्थितियां बदलती हैं या उसी जाति के अन्य प्राणियों अथवा दूसरी जातियों के प्राणियों से संबंधों में परिवर्तन आते हैं। किंतु ये सब बातें सहजवृत्तिक व्यवहार के समूहगत और कालगत उद्‌विकास के संदर्भ में ही सही हैं।

सहजवृत्ति अपरिवर्त्य और पूर्णतः स्वचालित दूसरे अर्थ में है, यानी अलग-अलग प्राणियों में उसकी पूर्ण पुनरावृत्ति तथा समानता के अर्थ में। हर प्राणी की क्रियाएं दूसरे प्राणियों की क्रियाओं को दोहराती हैं और इस तरह व्यवहारात्मक प्रतिकृतियों का निर्माण करती हैं, जिनकी समष्टि ही "निर्माणकारी" अथवा सामान्यतः "कार्यकारी प्रभाव" उत्पन्न करती है। एक ऊदबिलाव वही करता है जो अन्य ऊदबिलाव करते हैं; एक चींटी के व्यवहार का अध्ययन कर लेने के बाद हम चाहें तो दर्जनों दूसरी चींटियों के उसी प्रकार के अध्ययन पर समय बरबाद नहीं भी कर सकते हैं; सभी पक्षियों के घोंसले एकसमान होते हैं, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें उनके व्यवहार का सुनिश्चित स्थिररूप पहले से ज्ञात है। उसमें यदि कोई आपरिवर्तन होते हैं, तो वे कम ही दिखायी देते हैं और जो सबसे मुख्य बात है, सारे समूह के व्यवहार के दायरे में कम ही महत्व रखते हैं।

जातिगत व्यवहार की ऐसी स्थिरता के कारण सोचा जा सकता है कि घोंसलों, डेरों तथा अन्य निर्माणों के रूप में उसके जो फल होते हैं वे कितना भी समय गुज़र जाये, कम ही बदलते हैं। जीवाश्मिकीय सामग्रियों से संबंधित प्रेक्षणों से यह सिद्ध कर पाना कठिन है, किंतु जिन मामलों में हम जातियों के जीवाश्मिकीय इतिहास को जानते हैं, उन मामलों में बहुत संभव है कि उनके व्यवहार की मुख्य विशेषताओं में विकासमूलक परिवर्तन कम ही आये होंगे। असल में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वे बहुत धीरे-धीरे

ही बदलती हैं और वह भी तब जब जीवन की किन्हीं नयी परिस्थितियों में पड़कर स्वयं जाति में ही परिवर्तन आ जाता है। दूसरी ओर, औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता में अत्यधिक कालगत गत्यात्मकता होती है (यह उसकी एक बुनियादी विशेषता है) और उसमें सृजन के कार्य उल्लेखनीय भूमिका अदा करते हैं। वह बड़ी जल्दी अपना रूप बदल लेती है और उसके इतिहास में गुणात्मक रूप से अधिक ऊंचे चरण में क्रांतिकारी संक्रमण प्रायः दिखायी देते हैं। यहां तथाकथित पशुसुलभ श्रम से बुनियादी अंतर साफ़ ज़ाहिर है।

"कार्य सक्रियता" की, जो ख़ास तौर से कीटों में बहुत ही सुव्यक्त है, एक मुख्य विशेषता प्रकार्यों का बंटवारा है। यह बंटवारा कभी-कभी तो इतना विकसित होता है कि अलग-अलग कार्य करनेवाले एक ही जाति के अलग-अलग प्राणी आकृति में भी एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। इस तरह से बहुत ही अधिक विविध संक्रियाओं का निष्पादन संभव बनता है। यह वैविध्य अपनी कार्यसाधकता तथा आभासी सोद्देश्यता से हमें चकित कर डालता है। किंतु इस आश्चर्यजनक सिंफ़नी में तनिक-सी अव्यवस्था का सुर पैदा कर दीजिये, किसी कृत्रिम विघ्न के ज़रिये काम की संतुलित, सुबद्ध लय को भंग कर दीजिये और आप वह चीज़ देखेंगे जो प्रसिद्ध जां फ़ाब्र से लेकर आज तक के सैकड़ों शौक़िया कीटविज्ञानियों ने देखी है: व्यवस्था का स्थान अव्यवस्था ले लेगी और अपना नियत कार्य करनेवाले प्राणी बदली हुई परिस्थितियों में अपने को बिल्कुल ही असहाय पायेंगे।

इस प्रकार शरीरक्रियाजन्य "श्रम विभाजन", पशुओं की "कार्य सक्रियता" के जटिल रूप जहां इस जटिलता को बनाये रखने का तरीक़ा हैं वहां, जैसा कि हमें लगता है, वे विकासमूलक दृष्टि से संभावनाहीन तथा गतिशून्य हैं और उत्क्रमणशील विकास का मुख्य मार्ग नहीं, अपितु उससे निकलनेवाली अंधगलियां हैं। वे सक्रिय अनुकूलन का परिणाम होते हैं, पर उनका संबंध जीवनीय सक्रियता के संकीर्ण क्षेत्र से और इस सक्रियता को किन्हीं निश्चित पारिस्थितिक कोष्ठकों के अनुरूप बनाने से ही है। कार्य विभाजन में हर प्राणी का स्थान आनुवंशिक तौर पर पूर्वनिर्धारित होता है, जबकि वास्तविक श्रम विभाजन की प्रक्रिया में विशेषीकरण

व्यष्टियों की शारीरिक विशेषताओं पर विरले ही आधारित होता है। किन्हीं श्रम संबंधी क्रियाओं को करते समय, उदाहरण के लिए, शक्ति के अभाव जैसी कमी को सहज ही व्यावसायिक कौशल द्वारा पूरा किया जा सकता है। सहजवृत्तिक श्रम और वास्तविक श्रम के बीच एक मौलिक अंतर यह भी है।

विचाराधीन समस्या के सिलसिले में जिस एक और चीज़ का अवश्य ज़िक्र किया जाना चाहिए, वह है औज़ारों का उपयोग। इस बारे में दीर्घ काल से बहस चल रही है कि किसे वस्तुतः औज़ार माना जाना चाहिए और किसे नहीं। इस बहस के दौरान बहुत सारे परिकल्पनात्मक मत भी प्रकट किये गये हैं और ठोस प्रेक्षणों पर आधारित मत भी। यहां हम इस बहस के चक्कर में पड़े बिना (उसकी कुछ विस्तार से चर्चा हम आगे चलकर करेंगे) ऐसी किसी भी वस्तु को औज़ार मान लेंगे जिसे कोई पशु परिणाम को यथाशीघ्र पाने के लिए या वैसे भी पाने के लिए इस्तेमाल करता है। यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है – और इसके लिए पशुओं पर किये गये प्रयोगों से प्राप्त बहुसंख्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं – कि वे, यानी पशु, औज़ार इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण के लिए, बंदर किसी चीज़ को प्राप्त करने के लिए डंडे या लकड़ी का, फलों की गिरी निकालने के लिए पत्थर का उपयोग करते हैं, हाथी मक्खियां भगाने के लिए सूंड में टहनियां पकड़कर हिलाता है, मगर... मगर यह सब यदा-कदा ही किया जाता है और इसमें आवश्यक नियमितता नहीं है ; ये क्रियाएं की भी जा सकती हैं और नहीं भी की जा सकती हैं, क्योंकि उनसे किन्हीं बुनियादी जीवनीय आवश्यकताओं की तुष्टि नहीं होती है। जीवपारिस्थितिकीविदों को, जो जंतुओं के व्यवहार का अध्ययन करते हैं, अरसे से ज्ञात है कि बंदर डंडों या पेड़ की टहनियों द्वारा एक दूसरे को डरा सकते हैं, मगर जब सचमुच झगड़ा होने लगता है, तो हथियार दांतों को बना लिया जाता है। कई दशक पहले इसके बारे में मानवाभ वानरों के मनोविज्ञान के उत्कृष्ट अध्येता व० केलेर ने भी लिखा था (१९३०)। निम्नतर स्तरों के प्राणियों पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। पशुओं द्वारा किन्हीं वस्तुओं का शरीर के अंगों के अनुपूरक औज़ारों के तौर पर उपयोग

एक क्षणिक घटना है, जो जाति के जीवन में सारतः कुछ नहीं बदलती है।

उल्लेखनीय है कि सहजवृत्तिक श्रम की समस्या की चर्चा कार्ल मार्क्स ने भी की थी। 'पूंजी' के पहले खंड में श्रम को समाज की आर्थिक व्यवस्था का एक संरचनात्मक घटक बताते हुए उन्होंने श्रम के पहले पशुओं जैसे सहजवृत्तिक रूपों का उल्लेख किया था और श्रम के इतिहास के उस दौर के बारे में लिखा था, जब श्रम अभी अपने आदिम, सहजवृत्तिक रूप से मुक्त नहीं हो पाया था। हमारा मत है कि मार्क्स पशुसुलभ श्रम को क़तई वास्तविक श्रम के विरोध में नहीं रख रहे थे और श्रम के इतिहास को दो विशेष चरणों – पशुओं जैसा सहजवृत्तिक श्रम और वास्तविक श्रम – में नहीं बांट रहे थे। उन्हें उतनी सामग्री उपलब्ध नहीं थी जितनी कि आज के विज्ञान को उपलब्ध है। फिर भी उन्होंने देखा कि आदिम मनुष्यों की श्रम संक्रियाओं में सहजवृत्तिक हरक़तों की मात्रा आज के तकनीकी श्रम के रूपों की अपेक्षा ज़्यादा थी और इसलिए प्राचीन होमिनिडों के व्यवहार के सारे क्षेत्र में वे आधुनिक समाज की अपेक्षा कहीं अधिक पायी जाती थीं। मार्क्स की भांति हम भी प्रथम आदिम श्रम प्रक्रियाओं के निष्पादन में सहजवृत्तियों की भूमिका से इंकार नहीं करते, बल्कि उसे स्वीकार ही करते हैं, किंतु इस स्वीकृति का अर्थ उनकी पशुओं जैसे सहजवृत्तिक श्रम की प्राक्कल्पना के रूप में जड़पूजा करना क़तई नहीं है।

तो औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता या श्रम सक्रियता मनुष्य के साथ शुरू होती है। मनुष्य से हमारा तात्पर्य वर्तमान मानव-जाति से ही नहीं, उसके होमिनिड पूर्वजों की लंबी शृंखला से भी है। व्यवहारात्मक क्रियाओं की समष्टि के रूप में, सामान्यतः क्रियाकलाप के क्षेत्र के रूप में इस सक्रियता का सार क्या है? बिल्कुल स्पष्ट है कि वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संरच-नात्मक घटकों का घात-प्रतिघात होता है, इन घटकों के बीच परिवर्तनशील परस्पर संबंध होते हैं और इस सबके साथ ही स्वयं प्रक्रिया की अविभाज्यता तथा परिणामिता भी बनी रहती है। इस प्रक्रिया का विवेचन-विश्लेषण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। उसके विभिन्न पहलुओं – अभिप्रेरणात्मक सिद्धांतों, श्रम सक्रियता

के रूपों, श्रम संक्रियाओं की परिणामिता, श्रम सक्रियता की उत्पादिता का सामान्य मूल्यांकन और बहुत-से दूसरे पहलुओं – के बारे में बहुसंख्य शोध-रचनाएं उपलब्ध हैं, जिन्हें अर्थशास्त्रियों, मनोविज्ञानवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों, आदि ने लिखा है। उनमें उन्होंने श्रम प्रक्रियाओं का यथासंभव पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमें यहां उनमें से सभी पर ठहरने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि इस पुस्तक की विषयवस्तु – मानवजाति के आविर्भाव की प्रक्रिया की जांच – के लिए केवल श्रम सक्रियता की उत्पत्ति और उसके बुनियादी संरचनात्मक घटकों के निर्माण के प्रश्न ही महत्व रखते हैं।

कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी' के प्रथम खंड में श्रम सक्रियता के जिन मुख्य तथा सर्वाधिक बुनियादी संरचनात्मक घटकों का उल्लेख किया है, हम समझते हैं कि उनके दायरे में श्रम सक्रियता के सभी पहलू पूर्ण रूप से आ जाते हैं। साथ ही मार्क्स का यह विवेचन इस सक्रियता की भीतरी रचना के अत्यंत अंतरंग पहलुओं में झांकने की संभावना भी देता है। ये बुनियादी संरचनात्मक घटक तीन हैं: स्वयं श्रम, अर्थात श्रम संक्रियाओं की समष्टि; श्रम की वस्तु, अर्थात वह वस्तु जिस पर श्रम लक्षित होता है और जिस पर उसका अनुप्रयोग किया जाता है; और श्रम का साधन, अर्थात वह वस्तु जिसकी मदद से श्रम संपन्न किया जाता है, यानी श्रम का औज़ार। इस त्रि-अंगी प्रणाली में श्रम के सभी मुख्य संरचनात्मक तत्व प्रतिबिंबित हुए हैं, किंतु साथ ही वह अपने आप ही नहीं, अपितु जननिक पहलू से भी अन्वेषणात्मक प्रणाली है, क्योंकि प्रत्येक घटक के, यहां तक कि अपने परिणामों के रूप में स्वयं श्रम कर्मों के भी पुरातात्विक अवशेषों की शक्ल में भौतिक मूर्तरूप पाये जाते हैं, जिनकी मदद से उनकी कालक्रमिक गतिकी का ही पुनर्ज्ञान नहीं किया जा सकता, अपितु उनकी उत्पत्ति पर पड़े रहस्यावरण को भी उठाया जा सकता है। श्रम के साधनों, औज़ारों के इतिहास के संबंध में विशेषतः काफ़ी अधिक काम हुआ है। मानवजाति के इतिहास के आरंभिक चरणों की भौतिक संस्कृति के अन्य पहलुओं के बारे में हमें इन औज़ारों के अलावा और सामग्रियां कम ही उपलब्ध हैं। इसलिए श्रम के औज़ारों का अध्ययन ही प्रागैतिहासिक

पुरातत्व का मुख्य विषय बना हुआ है। स्वयं श्रम सक्रियता के चिह्नों तथा श्रम की आरंभिक वस्तुओं के चिह्नों के अभाव के बावजूद औज़ारों के अध्ययन से हम औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की उत्पत्ति के संबंध में अनुमान लगा सकते हैं, क्योंकि औज़ार केवल श्रम के साधन के रूप में ही, श्रम करने की आवश्यकता की तुष्टि के रूप में ही पैदा होता है और इसके अलावा उसका कोई अन्य प्रकार्य नहीं है। यदि औज़ार था, तो श्रम भी था और यदि औज़ारों के चिह्न नहीं हैं, तो औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के संबंध में अटकलें ही लगायी जा सकती हैं।

इस सिलसिले में इस बात की सही समझ काफ़ी महत्वपूर्ण बन जाती है कि वास्तविक औज़ार क्या है, उसे कैसे पहचाना जाये, उसके जैसी ही अन्य वस्तुओं से उसका भेद कैसे किया जाये। स्पष्ट है कि यहां आशय औज़ारों के मात्र विभेदक लक्षणों से नहीं है – कुल्हाड़ी, हथौड़ा और बहुत-से अन्य तकनीकी दृष्टि से अधिक जटिल औज़ारों को हम बचपन से ही जानते हैं और उन्हें पहचानने के लिए उनकी किसी परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। हमारा आशय इससे है कि पत्थर, लकड़ी, हड्डी या सींग से बनाये हुए आदिम औज़ार का ऐसे पत्थर या लकड़ी से भेद कैसे किया जाये, जिस पर आदमी ने काम नहीं किया है या जिसे आदमी ने नहीं गढ़ा अथवा तराशा है। प्रथम दृष्टि में यह बहुत ही सरल काम लगता है, किंतु पुरापाषाण काल का पुरातत्व इसकी असंख्य मिसालें पेश करता है कि कभी-कभी मामूली अश्मपिंड में औज़ार को पहचान पाना अथवा, इसके विपरीत, किसी काफ़ी पेचीदा शक्ल के पत्थर में औज़ार देखने का आग्रह त्यागना बड़ा कठिन होता है। ५० ही वर्ष पहले तक बहुत-से पुरातत्वविद तथाकथित उषःपाषाण (इयोलिथ) उपकरणों को बड़ी गंभीरता से लेते थे, जिन पर जैसे कि कृत्रिम विधायन के निशान पाये गये थे, किंतु वास्तव में ये निशान नदी के पानी, आदि के कार्य के परिणामों के रूप में प्रकृति की ही कारस्तानी थे। उषःपाषाण उपकरणों के बाद भी प्रायः बहसें छिड़ती रहीं (उनमें से कुछ की हम यहां चर्चा करेंगे) कि अमुक अतिसरल आदिम औज़ार समूह को वास्तविक औज़ार माना जाये या आभासी औज़ार। इन बहसों ने एक बार फिर दिखाया कि औज़ार की

वास्तविक कसौटी निर्धारित कर पाना कितना कठिन है। किंतु उन्होंने साथ ही इस क्षेत्र में हमारे ज्ञान को, वस्तुओं की आकृति तथा साधारणतम औज़ारों के निर्माण की प्रविधि के संबंध में हमारी समझ को गहनतर भी बनाया और कहीं अधिक आत्मविश्वास के साथ कृत्रिम विधायन के चिह्नों को पहचानना और इस प्रकार प्राकृतिक, मनुष्य द्वारा अविधायित वस्तुओं के ढेर में से वास्तविक औज़ारों को अलग करना सिखाया।

सरलतम औज़ार की बुनियादी विशेषताएं – जैसा कि आज हम उन्हें समझते हैं – क्या हैं और हम कैसे तय कर सकते हैं कि हमारे हाथ में अथवा हमारे सामने जो वस्तु है वह प्राकृतिक वस्तु नहीं, अपितु मानवनिर्मित औज़ार है, मनुष्य के श्रम का साधन है? इस संबंध में हम अमरीकी पुरातत्वविद टी० विन्न के प्रेक्षणों के विशेष महत्व पर ज़ोर देना चाहेंगे। हमें लगता है कि उन्होंने प्रस्तर उपकरणों की कुछ आकृतिक विशेषताओं की ओर ठीक ही ध्यान आकृष्ट किया है, क्योंकि ये विशेषताएं, एक ओर तो, लक्ष्योद्दिष्ट क्रियाओं के फलस्वरूप आकृति-विशेष की कृत्रिम उत्पत्ति का असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत करती हैं और, दूसरी ओर, किन्हीं नयी मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं के निर्माण को दिखाती हैं, जो श्रम के विकास के साथ-साथ होनेवाले चिंतन के विकास के नये युग के अनुरूप होती हैं। टी० विन्न ने इसीमिल से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन किया था और उसकी ओल्डुवाई से प्राप्त अवशेषों से तुलना की थी। इसीमिल से प्राप्त सामग्री १७०००० -३३०००० वर्ष और ओल्डुवाई दर्रे से प्राप्त सामग्री ११५००००-१६००००० वर्ष पुरानी मानी जाती है। इस प्रकार, १० लाख वर्ष से भी ज़्यादा लंबे कालखंड के दौरान औज़ारनिर्माण में हुए परिवर्तनों और साथ ही उसमें प्रतिबिंबित मानसिक संरचनाओं के विकासक्रम का अनुमान लगाया जाता है।

टी० विन्न मानस के चार साधारण, किंतु बुनियादी संक्रियात्मक गुण बताते हैं, जिनका प्रतिबिंब पत्थर के औज़ारों में देखा जा सकता है। ये गुण हैं: पूर्ण से अंश के और अंश से पूर्ण के संबंध की समझ, अंशों के सहसंबंध का ज्ञान, दिक्काल संबंधों की चेतना और वस्तुओं अथवा संक्रियाओं की एकरूपता का बोध। वस्तुपरक

रूप से विद्यमान पत्थर के औज़ारों के प्रतिबिंब के तौर पर ये चार मानसिक संरचनाएं इसीमिल से प्राप्त पत्थर के औज़ारों की आकृति में प्रदर्शित हुई हैं। उनमें, एक, न्यूनतम श्रम का व्यय करके आवश्यक आकृति गढ़ी गयी है, यानी भावी औज़ार की आकृति की समझ इतनी स्पष्ट है कि कम से कम संसाधन करके आवश्यक आकृति का औज़ार बना लिया गया है (पहला गुण); दो, काटनेवाली धार सीधी रखी गयी है, जो आनुक्रमिक आघातों की शक्ति में संतुलन बनाये रखकर ही संभव था (दूसरा गुण); तीन, औज़ार को द्विपार्श्व सममिति प्रदान करने की योग्यता का प्रदर्शन किया गया है (तीसरा गुण); और, चार, अनुप्रस्थ काट के विभिन्न स्तरों पर औज़ार को सममित बनाये रखा गया है (चौथा गुण)। ओल्डुवाई से प्राप्त औज़ारों में हमें द्विपार्श्व सममिति के इक्के-दुक्के उदाहरण ही मिलते हैं, हालांकि औज़ारों के निर्माण के दौरान अनुप्रस्थ काट में अचर त्रिज्या के महत्व की कुछ-कुछ समझ दिखायी जाने लग गयी थी। ओल्डुवाई की ही अधिक पुरानी सामग्री में तो ये साधारणतम बातें भी नहीं दिखायी देतीं। इस प्रकार, हम आकृति के एक ऐसे विकास के साक्षी बनते हैं जो औज़ारों के भ्रूण रूपों के निर्माण से काफ़ी अधिक विकास कर चुके उद्योग की ओर संक्रमण के दौरान मनुष्य की श्रम सक्रियता तथा मानस के स्वाभाविकतः उत्तरोत्तर जटिल बनते जाने का प्रदर्शन करता है।

यह सब इस प्रश्न का भी काफ़ी स्पष्ट उत्तर दे देता है कि किस ऐतिहासिक क्षण से अश्मपिंड से औज़ार बनाये जाने लगे थे। संभवतः, औज़ारनिर्माण और मानस के चारों तत्त्व औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के इतिहास के सबसे आरंभिक कालों में ही पैदा हो गये थे। उपरोक्त चार विशेषताओं – संसाधन द्वारा आवश्यक आकृति पैदा करना, काटनेवाली सीधी धार बनाना, औज़ार को द्विपार्श्व सममिति प्रदान करना और अनुप्रस्थ काट में विभिन्न स्तरों पर औज़ार को सममित बनाये रखना – में से किसी एक की भी उत्पत्ति की कसौटी के अनुसार हम किसी भी वस्तु को औज़ार कह सकते हैं, यदि उसमें चाहे क्षीण रूप में ही सही, इनमें से कोई एक लक्षण विद्यमान है। इन लक्षणों को ढूंढ़ते हुए यदि किसी वस्तु में हमें

उनमें से एक भी लक्षण मिल जाता है तो हम कह सकते हैं कि औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता अस्तित्व में आ चुकी थी।

इस प्रकार, हम न केवल वास्तविक औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता को प्राचीन होमिनिडों से जोड़ते हैं, बल्कि हमारे पास इस सक्रियता के ऐतिहासिक आरंभबिंदु का निर्धारण करनेवाली कसौटी भी है, जो चाहे निर्दोष न हो, किंतु पर्याप्त वस्तुपरक अवश्य है। औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आरंभबिंदु का निर्धारण अधिक वस्तुपरक होता, यदि हम कार्ल मार्क्स द्वारा बतायी गयी उसकी संरचना के मुताबिक़ न सिर्फ़ श्रम के साधनों – औज़ारों – की खोज से निदेशित हो सकते, बल्कि भौतिक अवशेषों में साकार हुई श्रम संक्रियाओं के तथा वे जिन वस्तुओं पर लक्षित थीं, उनके प्रथम चिह्नों का भी विश्लेषण कर पाते। किंतु, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, ऐसे चिह्न अत्यंत विरल हैं, अनियमित रूप से मिलते हैं तथा अभी उनका सुनिश्चित निर्वचन नहीं किया जा सकता है। इस कारण औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आरंभबिंदु का निर्धारण सबसे अधिक पहले औज़ारों को ठीक-ठीक पहचानने पर ही निर्भर है। इस प्रकार, हम अपने पूर्वोल्लिखित सूत्र में थोड़ा-सा परिवर्तन करके कहते हैं: यदि औज़ार है, तो इसका अर्थ है कि श्रम मौजूद था और यदि औज़ारों के चिह्न नहीं हैं, तो औज़ार-निर्माण संबंधी सक्रियता या श्रम सक्रियता के संबंध में अटकलें ही लगायी जा सकती हैं।

औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आविर्भाव के पारिस्थितिक पूर्वाधार

इससे पहले कि हम औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आरंभिक क़दमों पर विचार करें, उसमें संक्रमण की पारिस्थितिक पृष्ठभूमि की जांच कर लेना, यानी मनुष्य के पूर्वजों के रहन-सहन के ढंग के प्रश्न की, वानराभ पूर्वजों से मनुष्य में संक्रमण के दौरान प्राकृतिक परिवेश के परिवर्तनों के प्रश्न की छानबीन कर लेना उचित होगा। पूर्ववर्ती अध्याय में मानवोत्पत्ति के उन पहलुओं पर प्रकाश डाला गया था, जो उसे एक सामाजिक प्रक्रिया ही नहीं, वरन

एक प्राकृतिक जैव प्रक्रिया के रूप में भी समझने की संभावना देते हैं। इस प्राकृतिक जैव प्रक्रिया की पृष्ठभूमि एक निश्चित भौगोलिक परिवेश था, जिसके विशिष्ट लक्षणों ने निश्चय ही मानवोत्पत्ति से संबंधित बहुत-सी बातों पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला था। यही कारण है कि हम आगे बढ़ने से पहले यहां होमिनीकरण की और औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आविर्भाव की पारिस्थितिक पूर्वापेक्षाओं पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

यह वह क्षेत्र है, जिसमें मानवोत्पत्ति विषयक सिद्धांत प्रकृति तथा उसके इतिहास से संबंधित बहुत ही विविध विज्ञानों – भूगोल, पुराभूगोल, जीवाश्मिकी, भूविज्ञान, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान और पुरावनस्पतिविज्ञान – से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हो जाता है। इन सब विज्ञानों से संबंधित सामग्री तथा प्रेक्षणों का पूर्ण समाहार, एक दूसरे से वस्तुपरक तुलना और कालक्रमानुसार व्यवस्थापन करके ही उस भौगोलिक परिवेश का अपेक्षाकृत पूर्णता के साथ पुनर्कल्पन किया जा सकता है, जिसमें वानर का मानवीकरण हुआ था। तभी हम प्लाइओसिन और प्लाइस्टोसिन युगों के संधिकाल के जीव तथा वनस्पति जगत का पुनर्कल्पन और प्राकृतिक वातावरण में आये उन भूवैज्ञानिक तथा पुराभौगोलिक परिवर्तनों का अनुमान भी कर सकते हैं, जिन्होंने होमिनिडों के निर्माण की ओर ले जानेवाली विकासमूलक प्रक्रिया पर अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों तरह का प्रभाव डाला था। हमने जिन विज्ञानों के नाम गिनाये हैं, उनमें मनुष्य के पूर्वजों के प्राकृतिक परिवेश के पुनर्कल्पन से संबंधित अनुसंधान कार्य अनेक दशकों से चल रहे हैं। यूरोप ही नहीं, अफ़्रीका तथा एशिया में भी जहां-जहां मनुष्य के पूर्वजों के अवशेष मिले हैं, वर्तमान काल में उन सभी जगहों पर ऐसे शोध किये जा रहे हैं। उन प्राकृतिक परिस्थिति समुच्चयों और जलवायु विशेषताओं का पता लगाया गया है जो यूरोप तथा एशिया में हिमकालों के परिवर्तन और अफ़्रीका में वर्षा तथा सूखे के मौसमों के परिवर्तन के सहगामी थे। वैज्ञानिक लोग विभिन्न महाद्वीपों पर प्लाइओसिन युग के अंत और प्लाइस्टोसिन युग के भूवैज्ञानिक तथा जीवाश्मवैज्ञानिक इतिहास की घटनाओं के तुल्यकालन में भी काफ़ी सफलताएं पा चुके हैं।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, मनुष्यजाति की उत्पत्तिस्थली के बारे में हमारा ज्ञान काफ़ी अधूरा है। अतः होमिनीकरण के प्रारंभिकतम चरण की भौगोलिक अवस्थाओं के बारे में किसी प्राथमिक निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस या उस भूभाग की पुरा-भौगोलिक परिस्थितियां सर्वोपरि महत्व ग्रहण कर लेती हैं और सोचा जाता है कि वे समग्रतः मानवोत्पत्ति के सारे प्रारंभिक काल के लिए मॉडल का काम करेंगी। ठोस रूप में कहें, तो बात होमि-निड लक्षणत्रयी के सबसे पहले लक्षण – उदग्रचारिता – की चल रही है, क्योंकि उसके परिणामस्वरूप ही जहां व्यवहार के स्थिर-रूपों में परिवर्तन आये तथा सामान्यतः व्यवहार का जटिलीकरण हुआ, वहां हाथ को टेक का काम करने से छुटकारा मिला, और इसका मतलब है कि औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के लिए सबसे आवश्यक प्रेरक पैदा हुआ। इस विषय को किसी न किसी रूप में उठानेवाले विद्वानों ने अपने सैद्धांतिक अनुसंधानों में उदग्रचारिता में संक्रमण की परिस्थितियों को समझाने पर उचित ही ध्यान केंद्रित किया है। जहां तक प्रश्न के भौगोलिक पहलू का संबंध है तो सभी प्रस्तावित प्राक्कल्पनाएं, हमारी दृष्टि में उचित ही, इस या उस रूप में एक परिवेश से दूसरे परिवेश में संक्रमण की स्वीकृति पर, पारिस्थितिक कोष्ठक के परिवर्तन की स्वीकृति पर आधारित हैं। ऐसे संक्रमण के बिना चलने के ढंग में परिवर्तन को, चार शा-खाओं के सहारे चलने के बजाय उदग्रगमन को, यानी खड़े होकर चलने को नहीं समझाया जा सकता। किंतु, स्वाभाविकतः, दूसरे परिवेश में संक्रमण की बात को अलग-अलग सीमा तक और अलग-अलग प्रकार से ही स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए, कुछ वैज्ञानिक अगर एक दृश्यभूमि से वैसी ही दूसरी दृश्यभूमि में संक्रमण की बात करते हैं, तो दूसरे वैज्ञानिकों के अनुसार, पारिस्थितिक कोष्ठक पूरी ही तरह से बदल गया था। नतीजे के तौर पर विचाराधीन समस्या के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण पाये जाते हैं।

फिर भी यदि इन दृष्टिकोणों का सामान्यीकरण किया जाये, तो दो निदर्शी ख़ाके सामने आते हैं। उनमें से एक के अनुसार, उदग्रचारिता में संक्रमण किसी चट्टानी जगह पर हुआ होगा, जबकि

दूसरे के अनुसार, खड़े होकर चलना सीख पाने में मुख्य कारक वन से वनहीन खुले स्थान में संक्रमण था। चट्टानी दृश्यभूमि संबंधी प्राक्कल्पना का व्यापक तथा बहुमुखी प्रतिपादन प्रसिद्ध रूसी प्राणि-विज्ञानी और जीवाश्मविज्ञानी प० सूश्किन ने किया था। मूलतः पक्षीविज्ञानी और यूरेशिया के विभिन्न भागों के पक्षियों से संबंधित अनेक मौलिक रचनाओं का लेखक होने के कारण वह जीव-विज्ञान के सामान्य प्रश्नों में भी गहरी रुचि रखते थे और उन्होंने केंद्रीय एशिया के प्राणिजगत के विकास की अपने महत्व की दृष्टि से असाधारण रूपरेखा प्रस्तुत की थी। चट्टानी दृश्यभूमि की प्राक्क-ल्पना – होमिनिडों के विकास से संबंधित उनकी प्राक्कल्पना को इस नाम से पुकारा जा सकता है – केंद्रीय एशिया के प्राणिजगत के उद्विकास के विभिन्न चरणों के बारे में उनके विचारों का ही एक अंग है।

प० सूश्किन (१९२८) यह मानकर चले थे कि पिछले कुछ करोड़ वर्षों में केंद्रीय एशिया में स्थलचर और नभचर प्राणियों का अत्यंत तीव्र गति से विकास हुआ है। इसके कुछ समय बाद अ० बोरिस्याक द्वारा पूर्वानुमानित और आर० एंड्रयूज़ के अमरीकी अभियानदल तथा सोवियत वैज्ञानिकों के अभियानदलों की खोजों द्वारा सत्य प्रमाणित केंद्रीय एशिया में जीवन के स्थलीय रूपों के असाधारण बाहुल्य ने ठोस जीवाश्मी साक्ष्यों द्वारा प० सूश्किन की संकल्पना की इस बुनियादी प्रस्थापना की पुष्टि कर डाली।

अपेक्षाकृत संकीर्ण नदी-घाटियों, जो कुछ मामलों में समुद्रतल से काफ़ी अधिक ऊंचाई पर स्थित हैं, और बीच-बीच में विशाल स्तेपियाई मैदानों से युक्त पहाड़ी चट्टानी दृश्यभूमि आज भी केंद्रीय एशिया के भौगोलिक परिदृश्य की मुख्य विशेषता है और सारे चतुर्थ महाकल्प के दौरान भी रही थी। एक अन्य बहुत महत्वपूर्ण विशेषता वर्षाभाव तथा शुष्क जलवायु थी। इन परिस्थितियों में पहाड़ी इलाक़ों में रहनेवाले उच्चतर कोटि के वानर सिर्फ़ स्थलगामी थे और चारों शाखाओं के बल चलते-फिरते थे। किंतु चलते हुए पत्थरों के कारण जगह का सावधानी से निरीक्षण करने के लिए पिछले पैरों पर खड़े होने की आवश्यकता और चट्टानों पर चढ़ते हुए बिल्कुल सीधा हो जाने की हद तक शरीर की स्थिति का परिवर्तन उन

प्राणियों की उत्तरजीविता में सहायक बने, जिनमें सीधे हो पाने तथा देर तक इस स्थिति में रह सकने की क्षमता अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित थी। चट्टान पर चढ़ पाना ही, प० सूश्किन के मत में, वह प्रकार्यात्मक उपलब्धि थी, जिसके साथ उदग्रचारिता का और हाथों की टेक की भूमिका से मुक्ति का समारंभ हुआ। बाद में ऐसा दृष्टिकोण बहुमान्य नहीं रह गया, हालांकि कतिपय विशेषज्ञ आज भी उस पर अड़े हुए हैं।

आगे चलकर जब अफ़्रीकी सामग्री की ओर ध्यान आकृष्ट होने के कारण अफ़्रीका महाद्वीप की पारिस्थितिक विशेषताओं और उसकी दृश्यभूमियों के इतिहास में रुचि ली जाने लगी, तो यह संकल्पना प्रतिपादित की गयी कि उदग्रचारिता में संक्रमण चट्टानों पर चढ़ने का परिणाम नहीं था, अपितु मानवाभ वानरों द्वारा उष्ण-देशीय वनों को छोड़कर अन्य दृश्यभूमि अवस्थाओं में जाकर रहने का परिणाम था। इस प्राक्कल्पना का कोई निश्चित प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि उसे लगभग एक ही समय कई अंग्रेज़, अमरीकी और सोवियत अनुसंधानकर्ताओं ने पेश किया था। भौगोलिक दृष्टि से उसका सार यह है कि उष्णदेशीय वनों का क्षेत्रफल घटने लग गया था, जिससे जानी-पहचानी खाद्य सामग्रियों की उपलभ्यता कम हो गयी और उष्णदेशीय वन के उस स्तर पर आबादी-बाहुल्य हो गया, जिस पर आम तौर पर वानर रहते हैं। इस भौगोलिक कारक की वजह से वरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी और चूंकि मानवाभ वानर, विशेषतः जिनसे मानव की उत्पत्ति हुई, संभवतः, विशेषीकृत रूप नहीं थे, इसलिए वरण आकृति को पारिस्थितिक कोष्ठक के विस्तार की संभावनाओं की दिशा में परिवर्तित करने लगा। मानवाभ वानर वृक्षों से नीचे भूमि पर उतरने और नये परिवेश का अभ्यस्त बनने को विवश हुए। यह नया परिवेश उष्ण-देशीय विरल-वन प्रदेश अथवा उष्णदेशीय सवाना प्रदेश था।

वहां उनका नये अत्यंत खतरनाक हिंस्र जीवों से साक्षात्कार हुआ और यूथ संगठन के अपेक्षाकृत क्षीण और अल्पसंख्य होने के कारण वे आसानी से शत्रुओं का ग्रास बन सकते थे। नये पारिस्थितिक कोष्ठक में जाति-परिरक्षण का एकमात्र उपाय यह था कि, एक ओर, हिंस्र जानवरों से संघर्ष में ज़िंदा रहा जाये और, दूसरी ओर,

परिचित भोजन के अभाव को जाति-लोप का कारण न बनने दिया जाये। पहली समस्या के समाधान में शरीर का उदग्र स्थिति में संक्रमण, हाथों की टेक की भूमिका से मुक्ति, पत्थरों और डंडों का रक्षा-साधनों तथा औज़ारों के तौर पर उपयोग करने की कुशलता का विकास और यूथों का एकजुट होना तथा उनके भीतर सामूहिकता की उत्तरोत्तर प्रबल भावनाओं का पैदा होना सहायक बने। दूसरी समस्या मांसभक्षी बनकर हल की गयी। किंतु दोनों ही न केवल शत्रुओं और भूख से बचाव के ज़रिये थे, बल्कि आगे विकास के लिए प्रबल उत्प्रेरक भी थे। चयापचय के तीव्रण के लिए और बहुत-से शारीरिक प्रकार्यों, विशेषतः मस्तिष्क के प्रकार्यों के जटिल बनने के लिए सामिष आहार के महत्व का उल्लेख फ़्रेडरिक एंगेल्स ने भी किया था।

इस प्रकार पारिस्थितिक कोष्ठक के परिवर्तन की दत्त प्राक्कल्पना में वृक्षावासी अवस्था स्थान पा जाती है, किंतु बहुत-सी अन्य कठिनाइयां फिर भी बनी रहती हैं, जैसे नये पारिस्थितिक कोष्ठक का अभ्यस्त बनने की कठिनाई, वानस्पतिक आहार से मांसाहार में संक्रमण की व्यवहारात्मक तथा शरीरक्रियात्मक कठिनाइयां, आदि।

आज उस पारिस्थितिक परिवेश का पुनर्निर्माण कहां तक संभव है, जिसमें मनुष्य का पूर्वज-रूप रहा करता था? सिद्धांत में, चतुर्थ महाकल्प के पुराभूगोल, वनस्पतियों तथा जीवों के अपने वर्तमान ज्ञान के आधार पर हम पर्याप्त विश्वास के साथ कह सकते हैं कि इस महाकल्प के आरंभिक भाग में दक्षिणी तथा पूर्वी अफ़्रीका बीच-बीच में चट्टानी शिखरों और स्तेपियाई तत्त्वों से युक्त एक पहाड़ी प्रदेश का दृश्य उपस्थित करता था। भारत की शिवालिक पहाड़ियों में भी वे ही घटक पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। सामान्यरूपेण, उस काल में केंद्रीय एशिया और पूर्वी तथा दक्षिणी अफ़्रीका की भौगोलिक विशेषताओं में आज की अपेक्षा कहीं अधिक साम्य था।

कुछ ऐसी भी प्राक्कल्पनाएं हैं जो मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया को तृतीय तथा चतुर्थ महाकल्पों के संधिकाल में दक्षिणी तथा पूर्वी अफ़्रीका में तीव्र विवर्तनिक गतियों और बड़े-बड़े वेदीनुमा भागों के ऊर्ध्वपातों से संबंधित कतिपय पुराभौगोलिक प्रेक्षणों के आधार पर समझाती हैं। सैद्धांतिकतः ऐसी परिघटनाएं उस पुराभौगोलिक स्थिति

में भी घट सकती थीं जो केंद्रीय एशियाई स्थलियों के लिए लाक्षणिक थी (भूआकृतिक दृष्टि से हिमालय के गिरिपाद हिमालय पर्वत-तंत्र में सम्मिलित हो ही रहे हैं), और यह काल (तृतीय तथा चतुर्थ महाकल्पों का संधिकाल) या इससे कुछ पहले का काल यूरेशिया में भी सघन पर्वतीय ऊर्ध्वपातों का काल था। पर्वतनिर्माण के फलस्वरूप विकिरण का बढ़ना अनिवार्य था और इसलिए संभव है कि आरंभिक होमिनिड वर्धित विकिरणयुक्त वातावरण में रह सकते थे। यदि यह प्राक्कल्पना सही है तो सर्वथा संभव है कि इस विकिरण ने कोई न कोई आनुवंशिक प्रभाव छोड़ा ही होगा और मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया के आरंभिक चरणों में उसने उल्लेखनीय भूमिका भी अदा की ही होगी। किंतु यह मात्र अनुमान है, हालांकि इस विषय में आगे अनुसंधान किये जा सकते हैं। दूसरी ओर, केंद्रीय एशिया, हिमालय और अफ़्रीका की उत्तर तृतीय महाकल्पीय तथा पूर्व चतुर्थ महाकल्पीय दृश्यभूमियों में साम्य से संबंधित प्रेक्षण सर्वथा वास्तविक हैं।

चट्टानी शिखरों से युक्त पहाड़ियां, आंशिकतः झाड़ियों तथा इक्के-दुक्के बड़े वृक्षों से ढकी हुई और आंशिकतः खुले मैदानों के रूप में फैली हुई घाटियां, शुष्क, गरम जलवायु, विभिन्नतम वनस्पतियां एवं प्राणिजगत – लगभग यह थी वह दृश्यभूमि तथा वह जलवायु जिनमें मानवोत्पत्ति का पहला अंक खेला गया और जिनमें आद्य रूप का मानवीकरण हुआ, यानी वह उदग्रचारी बना, उसके हाथ मुक्त हुए तथा उसने औज़ारों का निर्माण आरंभ किया।

मानवाभ वानर वर्तमान काल में निश्चय ही एक ऐसा प्राणि-रूप है, जिसके वास-क्षेत्र संकुचित होते जा रहे हैं, हालांकि पहले वे काफ़ी व्यापक थे। हम कल्पना कर सकते हैं कि कैसे मनुष्य का आद्य रूप, जो कोई एक जाति अथवा जातियों की समष्टि रही होगी, उष्णदेशीय वन को छोड़कर उससे मिलती-जुलती – किंतु बिल्कुल उसी जैसी नहीं – सवाना की परिस्थितियों में आकर रहने लगा होगा। होमिनिडों की आकृति में वृक्षावासी अवस्था का जो प्रतिबिंब मिलता है, वह बहुत करके उद्‌विकास के उस दूरवर्ती चरण का अवशेष है, जो मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया से ऐन पहले का चरण था। हम समझते हैं कि उदग्रचारिता के आविर्भाव का और

नयी परिस्थितियों में चतुष्पाद गमन के बजाय द्विपाद गमन की श्रेष्ठता का कारण वृक्षारोही ढंग के गमन से चट्टानों पर चढ़ पाने में संक्रमण और इसके साथ पर्याप्त तेज़ी से स्थान-परिवर्तन कर पाने की आवश्यकता थे। प्राथमिक समूहों–यूथों–की सदस्य-संख्या में परिवर्तन शायद ही आया, किंतु ऐसा सोचा जा सकता है कि स्वयं यूथ अधिक सचल बन गये और पहले से कहीं अधिक व्यापक इलाक़े में विचरने और शिकार तथा खाद्य-संग्रहण करने लगे। संभवतः, मानवीकरण (होमिनीकरण) की पहली अवस्था ऐसी थी।

उदग्रचारिता में संक्रमण और हाथों की टेक की भूमिका से मुक्ति ने स्थलीय परिवेश का अभ्यस्त बनने की अपरिमित संभावनाएं प्रस्तुत कीं और डंडों तथा पत्थरों को औज़ारों के तौर पर इस्तेमाल किये जाने को प्रोत्साहित किया। स्थलीय जीवन की परिस्थितियों में हिंस्र जानवरों से रक्षा की आवश्यकता ने छोटे यूथों को अधिक एकजुट बनाया और उनके भीतर परस्पर सहायता तथा सामूहिक क्रियाओं के कुछ व्यवहार-तंत्रों को जन्म दिया। प० क्रोपोत्किन (१९०७) ने प्राणिजगत की प्रगति का प्रबल उत्प्रेरक बताते हुए जिस परस्पर समर्थन तथा सहायता के बारे में इतने भावपूर्ण ढंग से लिखा है, हमें लगता है कि मानवोत्पत्ति के इस चरण में ही वह बहुत अधिक बढ़ा था और उसमें वे विशेषताएं पैदा हुई थीं जिनसे आगे चलकर इन गुणों के शुद्ध मानविक रूप विकसित हुए। बहुत संभव है कि प्रतिरक्षा में रक्षा के साधनों के तौर पर पत्थरों और डंडों का प्रयोग भी शामिल था, जो यदि याद किया जाये कि आधुनिक मानवाभ वानर गंभीर झगड़ा होने पर कैसे डंडे उठाकर फेंकते हैं, तो व्यवहार के दीर्घकालीन उद्‌विकास का परिणाम होना चाहिए और प्रतिरक्षा में पत्थरों तथा डंडों के प्रयोग से उनका औज़ारों के तौर पर प्रयोग किये जाने में संक्रमण स्वाभाविक ही लगता है। इस तरह हम सोचते हैं कि औज़ारनिर्माण अथवा श्रम से संबंधित सक्रियता में संक्रमण के पारिस्थितिक पूर्वाधारों के प्रश्न को हल किया जा सकता है।

औज़ारनिर्माण संबंधी और आर्थिक सक्रियता का आरंभ

सबसे पहले फ़ेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में मानवजाति की आर्थिक सक्रियता के इतिहास के दो कालानुक्रमिक चरणों – विनियोजी अर्थव्यवस्था और उत्पादक अर्थव्यवस्था – के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची थी। विनियोजी अर्थव्यवस्था पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर होती है। उसमें मनुष्य केवल प्रकृति के उत्पादों का विनियोजन करना, उन्हें लेना जानता है और स्वयं कुछ उत्पादित नहीं करता। आद्य मानव की औज़ारनिर्माण संबंधी सारी सक्रियता का स्वरूप विनियोगात्मक था। लोग मात्र उपभोग करते थे, उत्पादन नहीं। शिकार, संग्रहण और मछली पकड़ना प्रकृति के तैयार उत्पादों के विनियोजन के विभिन्न रूप हैं और उनके दौरान किसी नयी वस्तु का निर्माण, उत्पादन नहीं किया जाता है। जब वानस्पतिक तथा जैव आहार के प्राकृतिक भंडारों के रूप में किसी इलाक़े के खाद्य संसाधन समाप्त हो जाते थे तो मनुष्य के पूर्वज उस इलाक़े को छोड़कर नये इलाक़े में चले जाने को विवश हो जाते थे। इसी कारण वे पूरी तरह प्राकृतिक प्रक्रियाओं तथा प्राकृतिक विपदाओं की मौसमी आवर्तिता पर निर्भर थे और इसी कारण उनका रहन-सहन सचल, घुमंतू अथवा अर्ध-घुमंतू क़िस्म का था। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का आभास, चाहे वह क्षीण-सा ही है और यूरोपीय सांस्कृतिक विश्व के साथ संपर्कों के परिणामों द्वारा आंशिकतः विकृत भी है, हमें इतिहासकारों और नृजातिवर्णन की रचनाओं में अभिलिखित समाजों – १८वीं, १९वीं शतियों के आस्ट्रेलियाई मूलवासियों, रूसियों के आगमन से पहले साइबेरिया के भीतरी भागों में रहनेवाली शिकारी जन-जातियों और १८वीं शती के उत्तर अमरीकी इंडियनों के शिकारी क़बीलों – से मिलता है। इन और बहुत-से अन्य आदिम समुदायों की मिसालें भौगोलिक परिवेश पर निर्भरता, आर्थिक चक्र के पूरी तरह से मौसमी स्वरूप और अस्थायी शिविरोंवाली घुमंतू जीवन-पद्धति का पर्याप्त प्रमाण दे देती हैं। और ध्यान रहे कि ये सभी समाज अथवा समुदाय, जिनका हमने अभी-अभी उल्लेख किया

है, मनुष्य के वर्तमान प्ररूप के प्रतिनिधि हैं और आकृतिक, शरीर-क्रियात्मक तथा मानसिक दृष्टि से उद्विकास की प्राचीन होमिनिडों की अपेक्षा बहुत अधिक ऊंची सीढ़ी पर स्थित हैं।

होमिनिड कुल के पृथक्करण की उपरिवर्णित कसौटी किस हद तक औज़ारनिर्माणमूलक कसौटी की संपाती है? दूसरे शब्दों में, उदग्रचारिता के आविर्भाव और श्रम के पहले औज़ारों के प्रकट होने के बीच क्या थोड़ा-बहुत भी कालसाम्य पाया जा सकता है? उदग्रचारिता ने, जैसा कि हम पहले भी कई बार बता चुके हैं, हाथों को उन्मुक्त कर दिया था और इस लिहाज़ से वह, जैसा फ़्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है, श्रम सक्रियता के विकास की सबसे महत्वपूर्ण पूर्वशर्त थी।

आर० डार्ट द्वारा अग्नि के निशानों और इन निशानों के सम्मान में प्रोमेथियस के नाम से पुकारे गये आस्ट्रेलोपिथेकस (आस्ट्रेलोपिथेकस प्रोमेथियस) के अवशेषों की खोज (१९४८) ने, जैसा कि मालूम है, उग्र विवाद को जन्म दिया था और अंततः इस खोज की न अन्य तथ्यों से और न सैद्धांतिकतः ही अकाट्य पुष्टि हो सकी थी। किंतु डार्ट द्वारा ही एक अन्य क्षेत्र में किये गये अन्वेषणों – आस्ट्रेलोपिथेकसों में नियमित औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की विद्यमानता सिद्ध करने तथा उसके रूपों का पुनर्कल्पन करने की उनकी कोशिशों – को हम किसी भी प्रकार टाल नहीं सकते। डार्ट ने दक्षिणी अफ़्रीका की आस्ट्रेलोपिथेकसों के अवशेषों से युक्त गुफाओं से प्राप्त जानवरों की हड्डियों में ऐसी बहुत अधिक हड्डियां पायीं, जिन्हें, उनके मत में, औज़ारों के तौर पर अधिक सुविधाजनक ढंग से इस्तेमाल किये जाने के लिए संसाधित किया गया था। लंबी हड्डियों और सींगों की सतह पर खरोंचों के निशान हैं, जो उनसे लगातार किसी चीज़ पर चोट किये जाने का सबूत पेश करते हैं। डार्ट द्वारा प्रकाशित चित्रों को देखकर इस धारणा से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है कि चोट करने के औज़ारों के तौर पर इस्तेमाल किये जाने के निशानों से युक्त हिरण के सींग और बड़े स्तनपायियों की लंबी हड्डियों के डायाफ़ाइसिस आत्मरक्षा और हमले के वास्तव में उत्कृष्ट साधन थे। कई मामलों में तो उन्हें असंदिग्ध तौर पर कोई अतिरिक्त रूप दिया गया है, ताकि हाथ में ज़्यादा आसानी

से पकड़ा जा सके या चोट करने के औज़ार के तौर पर उनकी कारगरता बढ़ायी जा सके। इन प्रेक्षणों के संबंध में हुई विशेष पुरातात्विक बहस की चर्चा हमें पुरातत्व के जंगल में बहुत दूर ले जायेगी, जबकि यहां हमारे लिए उसके केवल निष्कर्ष ही महत्व रखते हैं। यहां हमारी रुचि यही जानने में हो सकती है कि हड्डी के औज़ारों के कृत्रिम मूल के संबंध में दिये गये तर्कों में कोई दम है या नहीं, और अगर है तो कितना। आर० डार्ट के प्रेक्षणों तथा निष्कर्षों को संदेह की दृष्टि से आज भी देखा जाता है, फिर भी वे विज्ञान में अधिकाधिक स्थान पाते जा रहे हैं और आस्ट्रेलोपिथेकसों की औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के प्रमाणों के तौर पर अधिकाधिक स्वीकार किये जा रहे हैं।

यदि हड्डियों और सींगों के औज़ारों के तौर पर नियमित उपयोग के ही नहीं, उनके जान-बूझकर और चाहे अत्यल्प तथा अपूर्ण ही सही संसाधन के भी इस तथ्य को स्थापित तथ्य मान लिया जाये, और इसमें अब जैसे कि अधिक संदेह के लिए कोई गुंजायश है नहीं, तो इससे आस्ट्रेलोपिथेकसों द्वारा औज़ारों के निर्माण और उनकी औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के सोद्देश्य स्वरूप के बारे में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। और औज़ारों का निर्माण भी तथा एतद्संबंधी सक्रियता की सोद्देश्यता भी सारतः एक ऐसा अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण हैं, जो इस सक्रियता का, जैसा कि हमने ऊपर दिखाया, पशुओं के सहजवृत्तिक व्यवहार से भेद करने तथा शब्द के पूर्ण अर्थ में उसे श्रम सक्रियता समझने की संभावना देता है।

इन सब बातों को देखते हुए हम सोवियत मानववैज्ञानिक साहित्य में प्रायः पायी जानेवाली उन प्रस्थापनाओं से सहमत नहीं हो सकते, जिनके अनुसार प्राचीन होमिनिडों की आकृति तथा संस्कृति के विकास के चरणों के बीच घनिष्ठ संबंध है। व० कोचेत्कोवा हमारे द्वारा भी पहले उद्धृत कार्ल मार्क्स की इस प्रस्थापना का हवाला देती हैं कि किसी भी प्रकार के श्रम के तीन घटक होते हैं: सोद्देश्य क्रियाकलाप, अर्थात स्वयं श्रम, श्रम की वस्तु और श्रम का साधन। यदि हम आस्ट्रेलोपिथेकसों द्वारा हड्डी तथा सींग के चाहे आंशिक ही सही, आरंभिक संसाधन के तथ्य को स्वीकार

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर लेते हैं तो यहां स्पष्टतः हमारे सामने औज़ार तैयार करने से संबंधित सोद्देश्य, कार्यसाधक सक्रियता है, जिसमें श्रम की वस्तु पशुओं और वनस्पतियों के रूप में बाह्य प्रकृति है, जिनका शिकार अथवा संग्रहण किया जाता है। जहां तक श्रम के साधन का ताल्लुक़ है, तो श्रम सक्रियता के विकास के पहले चरण में सोद्देश्य रूप से प्रयुक्त पत्थरों, डंडों तथा हड्डियों के अतिरिक्त स्वयं आस्ट्रेलोपिथेकसों के शरीर के अंग, मुख्य रूप से हाथ, औज़ार के तौर पर अपना अवशिष्ट महत्व बनाये रख सकते थे। यह असंभव ही है कि श्रम के सभी घटक तैयार रूप में और एक साथ ही पैदा हो गये थे – यह उद्‌विकास और इतिहास दोनों के नियमों के विरुद्ध होता। अतः श्रम के तीनों घटकों के शेलीयन युग में ही, आर्कैंथ्रोपसों के काल में ही पैदा होने की बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता।

आस्ट्रेलोपिथेकसों के हड्डी के औज़ारों को कृत्रिम औज़ार नहीं, अपितु आत्मरक्षा और हमले के प्राकृतिक अंगों, यानी हाथों का नैसर्गिक सिलसिला मानने के लिए भी कोई ख़ास आधार नहीं हैं। उसके पक्ष में एकमात्र तर्क उनके उद्‌विकास की धीमी गति है, जो मानवोत्पत्ति के पहले चरण में मनुष्य के शरीर की आकृतिक विशेषताओं के उद्‌विकास की गति से ज़्यादा नहीं है। औज़ारों और मानव अंगों के उद्‌विकास की गति के आकलन तथा उनकी प्रत्यक्ष तुलना की विवादास्पदता पर रुके बिना हम केवल एक प्रतितर्क का उल्लेख करेंगे: यदि हमारे सामने सोद्देश्य सक्रियता की मिसाल है (हम समझते हैं कि ऊपर हम इसे प्रमाणित कर चुके हैं) और यदि हमारे सामने श्रम की वस्तु तथा श्रम का साधन भी हैं (चाहे यह साधन अभी कभी-कभार आस्ट्रेलोपिथेकस के शरीर के अंग ही क्यों न होते हों), तो श्रम के केवल पिथिकैंथ्रोपसों के काल में जाकर ही पैदा होने की उपरोक्त धारणा के विपरीत हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिए कि आस्ट्रेलोपिथेकसों के यहां श्रम सक्रियता के भ्रूण मौजूद थे, जिन्हें पशुओं के व्यवहार जैसे सहजवृत्तिक कार्य मात्र नहीं समझा जा सकता। उद्‌विकास के आरंभिक चरणों में श्रम के औज़ारों में परिवर्तन की धीमी गति भी उन्हें औज़ार माने जाने के विरुद्ध तर्क नहीं है। प्रकृति और समाज में उद्‌विकास सब कुछ का होता है, गतिहीन कोई भी परिघटना नहीं

है, किंतु विकासमूलक परिवर्तनों की गति परिघटनाओं की परिभाषा का अंग नहीं होती और परिघटनाओं का वर्गीकरण पदार्थ की गति की तीव्रता के अनुसार नहीं, अपितु गति के रूपों के अनुसार किया जाता है, ऊर्जाओं के विनिमय की गति के अनुसार नहीं, अपितु संरचनात्मक स्तरों के अनुसार किया जाता है।

वास्तविकता के विरुद्ध, यानी अफ़्रीका की बटिकाश्मीय अथवा तथाकथित काउफ़न संस्कृति के कृत्रिम मूल के विरुद्ध कोई दो दशक पहले अनेक तर्क दिये गये थे, जिनका सार यह था कि इस संस्कृति के औज़ार समझे जानेवाले बटिकाश्मों का विशिष्ट रूप प्राकृतिक पत्थर के प्राकृतिक विधायन का परिणाम था। किंतु बाद की खोजों ने आरंभ में पाये गये बहुत-से बटिकाश्मीय औज़ारों के कृत्रिम स्वरूप और उनकी अतिप्राचीनता को, उनके कम से कम बीस-पचीस लाख वर्ष पुराना होने को सिद्ध कर दिया। इन औज़ारों की संस्कृति को ओल्डुवन अथवा ओल्डुवाई संस्कृति के नाम से पुकारा जाने लगा। अब तक ऐसे औज़ार पूर्वी अफ़्रीका में कूबी फ़ोरा और ओल्डुवाई में अनेक स्थलों पर पाये जा चुके हैं।

ये भोंडे और काफ़ी हद तक बेढंगे औज़ार क्वार्ट्ज़ और अन्य कठोर शैलों के टुकड़ों की बहुत बड़ी तादाद के बीच से एकत्र किये गये हैं। फिर भी उनकी आकृति में एक निश्चित आवृत्तिशीलता पायी जाती है। वे अपेक्षाकृत छोटी स्थलियों पर पाये गये हैं, जहां हड्डियों और कछुओं के कर्परों के टुकड़े बिखरे पड़े हैं, जो दिखाते हैं कि उन्हें पत्थर के औज़ारों की मदद से तोड़ा गया था। औज़ारों की प्रामाणिकता की पुष्टि ऐसी आकृति के औज़ार प्राकृतिक तरीक़ों से (उदाहरणार्थ, पानी की यांत्रिक क्रिया से एक पत्थर पर दूसरे पत्थर की चोट के ज़रिये) पाने के प्रयोगों की असफलता, उनके भूवैज्ञानिक संस्तरण की परिस्थितियों से संबंधित प्रेक्षणों और शल्कन में एक निश्चित एकरूपता का प्रदर्शन करनेवाले बटिकाश्मों के संसाधन के स्वरूप से भी होती है। इस प्रकार, औज़ारों की आकृति की आवृत्तिशीलता, चाहे वह बहुत अधिक स्पष्ट न भी हो, और जिस सांस्कृतिक संस्तर में ये औज़ार पाये गये हैं, उसके निश्चित स्वरूप को देखते हुए हम अभी भी जब-तब सुनायी दे जानेवाले संशय के स्वरों से सहमत नहीं हो सकते। वास्तव में ये तथ्य हमें ओल्डुवाई

संस्कृति में मनुष्य की भौतिक संस्कृति के विकास का पहला चरण और भ्रूणावस्था में स्थित सचेतन, सोद्देश्य श्रम सक्रियता का परिणाम देखने को ही विवश करते हैं।

मनुष्य के उद्विकास के इस चरण में औज़ारों का एक भाग हड्डियों और सींगों से बनाया जाता था। संभवतः, आघात औज़ार लकड़ी जैसी सहज उपलभ्य और संसाधनीय सामग्री से भी बनाये जाते थे, किंतु, स्वाभाविकतः, उनके अवशेष नहीं बच पाये हैं। वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अनुसंधान इस आरंभिक चरण में भी जायमान समाज के पर्याप्त ऊंचे स्तर का प्रदर्शन करते हैं। वैज्ञानिकों को अस्थायी बस्तियों तथा आवासों के निशान, जटिल तथा बहुविध आकृतियों के औज़ार और प्रकृति की बहुत-सी वस्तुओं के आहार के तौर पर उपयोग के साक्ष्य मिले हैं (ग० ग्रिगोरियेव, १९७७)। इस प्रकार, औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के उषाकाल में ही हमारा औज़ारों की विविधता से साक्षात्कार हो जाता है, जो उनकी प्रकार्यात्मक विविधता को भी दर्शाती थी। इससे उन प्रायः दोहराये जानेवाले दावों का खंडन हो जाता है, जिनके अनुसार पुरापाषाण काल के प्रारंभिक चरणों से अधिक उत्तरवर्ती चरणों में संक्रमण एक ही प्रकार के औज़ार – शेलीयन हस्तकुठार – से कई प्रकार के औज़ारों की ओर विकास का परिचायक है।

ये आदिम औज़ार क्या काम आते थे? वानस्पतिक खाद्य के संग्रहण में (यद्यपि इस खाद्य में क्या-क्या शामिल था, यह स्पष्ट नही है) पत्थर के औज़ार खानेयोग्य जड़ों को खोद निकालने, छोटे जंतुओं के विवरों की खुदाई करने और उष्णदेशीय कीटों, उदाहरणार्थ, दीमकों की बांबियों को तोड़ने के लिए इस्तेमाल किये जा सकते थे। मनुष्य के लिए पर्याप्त ख़तरनाक दांतोंवाले थोड़े-बहुत भी बड़े कृंतक जीवों के विवरों की खुदाई करते ही इन जीवों को लकड़ी के डंडों या हड्डियों से मार देना पड़ता था। पत्थर का औज़ार मांस काटने में काम आता था। बहुत संभव है कि वह मुख्य रूप से मांस को हड्डियों से अलग करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। कुछ विद्वानों का मत है कि आरंभिक होमिनिडों के लिए मांस का एक मुख्य स्रोत हिंस्र जानवरों के भोजन के अवशेष थे। किंतु इससे सहमत हो पाना कठिन ही है। गरम और पर्याप्त

नम जलवायु में मांस जल्दी सड़ जाता है और थोड़े-से समय के बाद ही खाने के लायक़ नहीं रह जाता। जानवरों के खाने के बाद बचे मांस पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। दूसरी ओर, पूर्णतः शुष्क जलवायु में मांस बहुत जल्दी सूख जाता है और यह भी मरे हुए जानवरों के मांस के इस्तेमाल में बाधक बनता है। संभवतः, मांस को सुरक्षित रखने की असंभवता ने ही आदिम मनुष्य को आहार की सतत सोद्देश्य खोज करते रहने और लगभग रोज़ाना शिकार पर निकलने को, सक्रिय जीवन-पद्धति अपनाने को मजबूर किया। आस्ट्रेलोपिथेकसों के अवशेषों के साथ-साथ हिरणों के सींगों और बैबूनों की फूटी हुई खोपड़ियों का पाया जाना और कुछ नहीं, बड़े जानवरों – बंदरों और खुरदार प्राणियों – के शिकार के अस्तित्व का ही प्रमाण है। यह शिकार कैसे किया जाता था? खुरदार पशु आम तौर पर बड़े-बड़े झुंड बनाकर रहते हैं और उनके शिकार के लिए या तो काफ़ी देर तक पीछा करना पड़ता है या चुपके से पास पहुंचकर एकाएक वार करना। द्विपादों द्वारा औज़ार हाथ में लेकर खुरदार पशुओं का देर तक पीछा करने की बात असंभव प्रतीत होती है, क्योंकि ऐसे पशु प्राइमेटों की अपेक्षा अधिक फुर्तीले तथा सहनशील होते हैं। जहां तक चुपके से पास जाकर मारने या घेरकर शिकार करने का सवाल है तो, संभवतः, ये ही शिकार के वे तरीक़े थे, जो पूरी तरह उदग्रचारी बनने के बाद प्राचीनतम होमिनिडों – आस्ट्रेलोपिथेकसों – द्वारा मुख्य रूप से इस्तेमाल किये जाते थे। शिकारियों का एक दल चुपके से पास आकर पशुओं को डरा देता था और दूसरा दल उस जगह पर घात लगाये रहता था जहां से उन्हें अनिवार्यतः गुज़रना होता था। शायद, शिकार की प्रक्रिया में हड्डी, सींग अथवा लकड़ी के सोंटे जानवरों के मारने के लिए मुख्य साधन थे, जबकि खाल निकालने में मुख्य रूप से बटिकाश्म औज़ारों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के शिकार ने निश्चय ही मांस के भंडारों और मांसाहार को बढ़ाया, समूह के सदस्यों के परस्पर संबंधों में और यूथ के अंदर के आधारिक संबंधों की संरचना में व्यवस्था का एक अतिरिक्त घटक पैदा किया और सामूहिक ढंग से कार्य करने की आदत को पुख़्ता बनाया।

कुछ शब्द उसके विकास के बारे में कहने चाहिए जिसका पहले

भी उल्लेख किया जा चुका है और जिसे दैनंदिन जीवन की संज्ञा दी जा सकती है। समकालीन समाज के संदर्भ में दैनंदिन जीवन की संकल्पना का नृजातिवृत्त-विशेषज्ञों के बीच काफ़ी हद तक सर्व-मान्य धारणाओं के अनुसार एक न्यूनाधिक निश्चित अर्थ है और सामान्यतः वह आज के जटिल जीवन की अन्य परिघटनाओं से सर्वथा स्वतंत्र है। किंतु प्राचीनतम होमिनिडों के पर्याप्त अस्पष्ट तथा असंगठित संरचनावाले समुदायों के आदिम जीवन की पृष्ठभूमि में जीवन के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों का एक दूसरे से अलग, स्वतंत्र होना कठिन था। अतः इस प्रसंग में हम दैनंदिन जीवन की संकल्पना में उस सबको शामिल करेंगे जो आर्थिक सक्रियता की संकल्पना के दायरे में नहीं आता और उन समाजों के आंतरिक, घरेलू जीवन से संबंध रखता है जिन्हें हम आदिम यूथ कहते हैं और जिनकी आगे चलकर विस्तार से चर्चा करेंगे। सबसे पहले इसमें बस्तियों तथा आवासों की व्यवस्था, जीवन के चक्र और उसकी आवर्तिता को शामिल किया जाता है। बहुसंख्य प्रेक्षणों से इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि मानवाभ वानर केवल एक रात्रि के लिए ही डेरा बनाते हैं और व्यावहारिकतः एक निश्चित प्रदेश की सीमाओं के भीतर घुमंतू जीवन बिताते हैं। कल्पना की जा सकती है कि आरं-भिक आस्ट्रेलोपिथेसिन मानवाभ वानरों से बहुत भिन्न न रहे होंगे। किंतु, दूसरी ओर, यह स्थिति बहुत समय तक जारी नहीं रह सकती थी। शिकार के जटिल बनने से उसकी कारगरता बढ़ी। बाल्यावस्था की अवधि के आरंभ में धीरे-धीरे और फिर उत्तरोत्तर तेज़ी से दीर्घतर होते जाने के कारण चाहे अल्पकाल के लिए ही सही, एकस्थानजीवी बनकर, यानी बस्तियां बनाकर रहने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। इन बस्तियों में उपरिवर्णित प्रकार्य काफ़ी सफलता के साथ संपन्न किये जा सकते थे। आस्ट्रेलोपिथेसिनों और पिथिकैं-थ्रोपसोंवाले चरणों के बारे में उपलब्ध सारी सामग्री इनके अल्पका-लिक शिविर बनाकर रहने को ही इंगित करती है, हालांकि उन्हें फिर भी काफ़ी लंबे समय के लिए इस्तेमाल किया जाता था। उनके लिए सामान्यतः शैलाश्रयों और उनके सामने की खुली जगहों को चुना जाता था।

तो ऐसा मानने के लिए पर्याप्त आधार है कि होमिनिड कुल

की सीमाओं की आकृतिक (उदग्रचारिता तथा हाथों की मुक्ति) और औज़ारनिर्माणमूलक कसौटियां परस्पर संपाती हैं। स्पष्टतः, उदग्रचारिता में संक्रमण प्राचीनतम होमिनिडों के नये प्रदेशों में फैलने, परिवेश के प्रति नया रवैया अपनाने और जीवन की पारिस्थितिक विविधता के लिए इतना प्रबल उत्प्रेरक सिद्ध हुआ कि उसके तात्कालिक परिणाम के तौर पर मुक्त ऊपरी शाखाओं (हाथों) का सक्रिय बनना, वस्तुओं पर पकड़ का मजबूत होना और फिर उनका नियमित इस्तेमाल में आना तथा औज़ार का रूप धारण करना अनिवार्य ही थे। होमिनिड कुल के अलग हो जाने की अन्य किसी भी आकृतिक कसौटी का औज़ारनिर्माणमूलक कसौटी के साथ ऐसा संपात संभव नहीं है।

इस प्रकार, प्रत्यक्ष शरीररचनात्मक प्रेक्षणों और अप्रत्यक्ष सैद्धांतिक कारणों द्वारा सही ठहरायी गयी और हमारे द्वारा अपनायी गयी आकृतिक कसौटी का औचित्य औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटी के साथ उसके संपात से सिद्ध हो जाता है। पत्थर के अनगढ़ औज़ारों के साथ प्रेज़िंजैंथ्रोपस के अवशेषों का मिलना इस संपात को पर्याप्त स्पष्टता के साथ दिखा देता है ; इसके साथ ही प्रेज़िंजैंथ्रोपस के पैर के तले का अध्ययन कोई संदेह नहीं रहने देता कि उद्विकास के इस चरण में पूर्ण द्विपादता हासिल कर ली गयी थी। जहां तक अन्य आस्ट्रेलोपिथेसिनों का संबंध है, तो उनके द्वारा पत्थर के औज़ार बनाने के असंदिग्ध प्रमाणों का अभाव होने पर भी ऐसा समझने के लिए पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि वे जीवों की हड्डियों और सींगों से औज़ारों का नियमित सोद्देश्य निर्माण करने लग गये थे। इस चरण में लकड़ी के सोंटे का इस्तेमाल भी संभव लगता है, किंतु मिट्टी में लकड़ी के दीर्घकाल तक सुरक्षित न रह पाने के कारण इस अनुमान को किसी भी तरह प्रमाण के तौर पर नहीं लिया जा सकता है। फिर भी दक्षिण-पूर्वी एशिया की प्रसिद्ध और अत्यंत प्राचीन स्थलियों से जीवाश्मी लकड़ी के जो औज़ार मिले हैं वे पूर्व पुरापाषाण काल में औज़ार बनाने की सामग्री के रूप में लकड़ी के इस्तेमाल की अप्रत्यक्ष पुष्टि करते हैं।

जैसा कि हम देखते हैं, पुरातत्व के साथ मिलकर मानव-वैज्ञानिक सामग्री मानव समाज की कालानुक्रमिक सीमाओं को काफ़ी

पीछे धकेल देती है और उसके मूल को अभी हाल ही तक प्रचलित मान्यताओं की तुलना में बहुत गहराई में ले जाती है। यदि प्राप्त वस्तुओं की, जिनमें प्रेज़िंजैंथ्रोपस के अवशेष भी शामिल हैं, निरपेक्ष आयु के अब तक किये गये निर्धारणों से निदेशित हुआ जाये तो औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के पहले अंकुरों का काल और उनके साथ ही मानव समाज के आरंभ का काल १५ लाख वर्ष से भी अधिक पहले मानना होगा। प्रेज़िंजैंथ्रोपस की निरपेक्ष आयु साढ़े १७ लाख वर्ष आंकी जाती है और अफ़्रीका में ओमो नदी (इथियोपिया) की घाटी में तथा तुर्काना झील के तट पर प्राप्त जीवाश्मी हड्डियों तथा औज़ारों की आयु तो लगभग २५ लाख वर्ष बतायी जाती है। इससे मनुष्य और समाज की आयु मानववैज्ञानिक, भूवैज्ञानिक और ऐतिहासिक साहित्य में अपेक्षाकृत हाल ही तक – दो-तीन दशक पहले तक – व्याप्त धारणाओं की तुलना में लगभग तिगुना बढ़ जाती है। पहले पिथिकैंथ्रोपसों के अवशेषों की आयु कोई १० लाख वर्ष ही आंकी जाती थी। अब वह भी दोगुना बढ़ायी जा सकती है। इस प्रकार, औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आरंभ के साथ पैदा हुए मानव समाज के पास अपनी संस्थाओं के विकास तथा उनके इतिहास के लिए हमारी अब तक की सबसे साहसिक कल्पना से भी कहीं अधिक समय था।

औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता का विकास

ऊपर हमने होमिनिन उपकुल का दो वंशों में जो विभाजन किया था, वह पुरापाषाण काल के दौरान पत्थर के औज़ारों के विकास के चरणों से किस हद तक मेल खाता है? पुरापाषाण काल को सामान्यतः पूर्व और उत्तर, इन दो चरणों में बांटा जाता है। इस प्रकार, यहां विभाजन-रेखा स्थूलतः पैलियोऐंथ्रोपस और आधुनिक मानव के बीच की विभाजन-रेखा की संपाती है, न कि पैलियोऐंथ्रोपस और आर्कैंथ्रोपस के बीच की विभाजन-रेखा की। ऐसे में हम पाते हैं कि पुरातात्विक और मानववैज्ञानिक शोधों के परिणामों में स्पष्ट साम्य नहीं है, यदि हम मानववैज्ञानिक शोधों के परिणामों

की वैसी व्याख्या करें जैसी यहां की गयी है। अतः सबसे पहले इसकी जांच करनी होगी कि यह विरोध कितना गंभीर और असाध्य है। किंतु ऐसा करने से पहले हम उचित समझते हैं कि पुरातात्विक सामग्री के आधार पर आधुनिक मानव के प्रकट होने से पहले की भौतिक संस्कृति के इतिहास के जो मुख्य चरण निर्धारित किये गये हैं, उनकी स्थूल जानकारी दे दें।

पिथिकैंथ्रोपसों द्वारा प्रतिनिधीत आर्कैंथ्रोपसों की अवस्था से शुरू करके हम शब्द के वास्तविक अर्थ में पूर्व पुरापाषाण काल में, यानी उस युग में पहुंचते हैं जब औज़ार के तौर पर भी और औज़ार बनाने के साधन के तौर पर भी अधिकांशतः पत्थर का उपयोग होता था और उसने हड्डियों तथा लकड़ी का या तो स्थान ले लिया था, या उनके उपयोग को किन्हीं गौण हथियारों के निर्माण तक सीमित कर दिया था। ठीक इस युग में ही हमारा पत्थर के औज़ारों की आकृतियों की नियमित आवृत्ति से साक्षात्कार होता है। पूर्व पुरापाषाणकालीन तकनीक के विकास के आरंभिक चरण में हज़ारों ही नहीं, लाखों साल तक अंडाकार और दो तरफ़ से संसाधित किया हुआ हस्तकुठार मुख्य औज़ार-रूप बना रहा। उसके दोनों काटनेवाले किनारे एक ओर आख़िर में मिल जाते थे और जो अधिक चौड़ा छोर था वह हाथ में पकड़े जाने के लिए सुविधाजनक था। इस औज़ार के प्रयोजन की हमारी समझ में आज भी तबसे कोई ज़्यादा वृद्धि नहीं हो पायी है जब गत शती के अंतिम चतुर्थांश में इसे पहले-पहल खोजा गया था। शायद, उसका आविष्कार एक ही और बार-बार दोहरायी जानेवाली संक्रिया के निष्पादन के वास्ते नहीं हुआ था। उससे काफ़ी तरह-तरह के काम किये जाते थे। किंतु पूर्व पुरापाषाण काल के अवशेषों के अध्ययन के विकास ने दिखाया है कि पूर्व पुरापाषाण काल के आरंभिक शेलीयन युग में हस्तकुठार के लगभग एकमात्र औज़ार होने की जो पूर्व मान्यता थी वह अपर्याप्त ज्ञान और कुठार के वरणात्मक चयन पर आधारित थी, क्योंकि पूर्व पुरापाषाण काल की स्थलियों पर पाये जानेवाले सभी औज़ारों में से उसकी आकृति ही निगाहों को सबसे अधिक आकृष्ट करती थी। पूर्व पुरापाषाण काल का मनुष्य हस्तकुठारों के अतिरिक्त खंडक (चॉपर) भी

तैयार करता था, जो भोंडे, अनगढ़ औज़ार थे, जिनकी आकृति अधिक अस्पष्ट तथा अस्थिर थी और जिन्हें, शायद, अधिकांशतः चोट करने और काटने के लिए इस्तेमाल किया जाता था।

एश्यूलीयन युग की अनेक प्रसिद्ध स्थलियां हैं, जहां पशुओं की हड्डियों के विशाल ढेर पाये गये हैं। ये आदिम मानवों के स्थायी शिकारी डेरे थे। मारे गये पशुओं में सबसे अधिक संख्या घोड़ों और अन्य खुरदार पशुओं की है। इसका अर्थ है कि आस्ट्रेलोपिथेकसों से लेकर आर्कैंथ्रोपसों तक लगातार हांके द्वारा शिकार का महत्व बढ़ता गया और उसके तरीक़ों में सुधार किया जाता रहा। मांस का उपयोग पहले से अधिक नियमित बना, यद्यपि हम नहीं समझते कि इसकी वजह से छोटे जानवरों का शिकार और कंद-मूलों का संग्रह पूरी तरह से बंद हो गये होंगे। मनुष्य सर्वभक्षी जीव है, किंतु, संभवतः, इस चरण में ही प्राणि-प्रोटीन उसके आहार का मुख्य और काफ़ी हद तक नियमित घटक बना होगा।

अगले नियंडरथल मनुष्यवाले युग में हमारा प्रस्तर-संसाधन तकनीक के मोस्तारी चरण से साक्षात्कार होता है। अब औज़ारों के मुख्य रूप द्विपक्षीय संसाधन की प्रविधि को जारी रखनेवाली बेधनियां और एक ही ओर से संसाधित खुरचनियां बन जाती हैं। बहुत सारे औज़ार पत्थरों के टुकड़ों से निकाले गये शल्कों से तैयार किये जाते हैं, जबकि स्वयं क्रोड़ को भी, जो चक्के जैसा रूप ग्रहण कर लेता है, प्रायः और संसाधित-विधायित करके औज़ार के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। काटनेवाली धार बनाने के लिए किया जानेवाला परिष्करण कहीं अधिक सूक्ष्म और ज्यामितीय दृष्टि से अधिक परिशुद्ध बन जाता है और औज़ारों की क़िस्मों में काफ़ी अधिक विविधता आ जाती है, यद्यपि जो मुख्य क़िस्में हैं वे अपना मानक परिशुद्ध रूप यथावत बनाये रखती हैं। संक्षेप में, हम तकनीकी ज्ञान की, अर्थात विभिन्न प्रकार के पत्थरों के गुणों तथा उनके संसाधन-विधायन के सर्वाधिक कार्यसाधक तरीक़ों के ज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति के ही साक्षी नहीं बनते, बल्कि तकनीकी कौशल में, अर्थात वस्तुओं के प्रहस्तन, आघात क्रियाओं की परिशुद्धता, आघातों की दिशा के अनुरूप शक्ति व्यय करने की योग्यता और हाथ की क्रियाओं की

आवृत्तिशीलता बनाये रखने की योग्यता में इज़ाफ़ा होता हुआ भी देखते हैं। सांस्कृतिक परंपराओं के जटिल बनते जाने का शिकार के स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ा, जिसकी पुष्टि इससे होती है कि अब जब भी जीवों की क़िस्मों और भौगोलिक परिस्थितियों को देखते हुए संभव होता था, हांके द्वारा बड़े हिंस्र जानवरों का भी शिकार किया जाने लगा। पश्चिमी यूरोप के दक्षिणी इलाक़ों की प्रागैतिहासिक स्थलियों में विशाल मात्रा में गुफा-भालू की खोपड़ियां पायी गयी हैं। यह आकार में आज के भूरे भालू की सबसे बड़ी क़िस्मों से भी कहीं अधिक बड़ा जानवर था। ऐसे शिकार का मतलब था कि औज़ार बढ़ गये थे, पहले से अधिक क़िस्मों के पशुओं का शिकार किया जा सकता था और नियंडरथल मानव जीवन-निर्वाह के मामले में अधिक स्वतंत्र बन गया था। अग्नि का प्रयोग तथा संरक्षण निश्चय ही प्राचीन होमिनिडों के श्रम, आर्थिक क्रियाकलाप और कर्तव्यों का एक अंग था। अग्नि के स्थायी प्रयोग के पहले प्रमाण पिथिकैंथ्रोपसों के युग के अंतिम दौर से संबंध रखते हैं और पीकिंग के निकट चीनी पिथिकैंथ्रोपसों के डेरों की जगहों पर पाये गये हैं (यद्यपि संभव है कि अग्नि का यदा-कदा प्रयोग आस्ट्रेलोपिथेकसों को भी ज्ञात था, जिसकी पुष्टि आस्ट्रेलोपिथेकस प्रोमेथियस के अवशेषों के मिलने की पहले बतायी जा चुकी परिस्थितियों से होती है), किंतु नियंडरथल युग में तो अग्नि असंदिग्धतः एक स्थायी जीवन-साथी बन जाती है। नियंडरथल मानवों के लिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। उनमें से पहला खुरदार जानवरों के हांके में या बड़े हिंस्र पशुओं के शिकार में संभवतः अग्नि, रालयुक्त मशालों या मात्र जलती हुई टहनियों की भूमिका से संबंध रखता है। इसमें संदेह नहीं कि अग्नि ने शिकार में सफलता की संभावना बहुत बढ़ा दी। अग्नि के दैनंदिन प्रयोग का दूसरा परिणाम आहार में भुनी हुई वस्तुओं का और आगे चलकर उबली हुई वस्तुओं का भी उपयोग था। नतीजे के तौर पर आर्कैंथ्रोपसों के चरण के अंत से ही प्राणि-प्रोटीन तापोपचारित और अधिक पाचनीय रूप में शरीर में पहुंचने लग गया, जिसने चयापचय की क्रियाशीलता बढ़ाकर उत्तरकालीन पिथिकैंथ्रोपसों, विशेषतः नियंडरथल मानवों की बाल पीढ़ी की वृद्धि

तथा विकास के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियां बनाकर उद्-विकासमूलक आकृतिक प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

किंतु आर्कैंथ्रोपसों के युग के आखिरी दौरों में शिकार के जटिल-तर बनने तथा झुंडों में रहनेवाले खुरदार पशुओं का और बाद में, पैलियोऐंथ्रोपसों के युग में, बड़े हिंस्र पशुओं का भी शिकार शुरू किये जाने, इसके नतीजे के तौर पर सामूहिक आर्थिक सक्रियता के ज़्यादा पेचीदा बनने, अग्नि पैदा करने की विधियों के आवि-ष्कार, अग्नि के गुणों को जान लेने और भोजन में विविधता बढ़ जाने के कारण अस्थायी शिविरों का स्थान स्थायी डेरों ने ले लिया, जिनका अस्तित्व कई दशकों तक बना रहता था। इनके लिए कैसी जगहें चुनी जाती थीं? ज्ञात है कि उत्तरकालीन पिथिकैंथ्रोपस भी काफ़ी गहरी गुफाओं को इस्तेमाल करने से नहीं डरते थे और तेज़ी से उन्हें आबाद करने लग गये थे। नियंडरथल मानव पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। किंतु नियंडरथल मानव के ज़माने में अगला क़दम भी उठाया गया। यह था खुली स्थलियों पर आवास के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियों में संक्रमण। कभी-कभार ऐसे आवास आस्ट्रेलोपिथेकसों और पिथिकैंथ्रोपसों द्वारा भी बनाये जाते थे। किंतु उनके जो अवशेष मिले हैं, वे बड़े अनि-श्चित ढंग के हैं। आबाद-क्षेत्रों के विस्तार का यह परिणाम हुआ कि मैदानी इलाक़ों को आबाद किया जाने लगा, जो रहने के लिए सुविधाजनक थे और जहां शिकार के लिए जीव-जंतुओं की कमी नहीं थी। ऐसे इलाक़ों में हिंस्र पशुओं से रक्षा की आवश्यकता और, संभवतः, अपेक्षाकृत कठिन परिस्थितियों ने आरंभ में आदिम ढंग के आवासीय ढांचे खड़े करने को विवश किया। ये ढांचे, संभवतः, पेड़ों की टहनियों से बनाये जाते थे और फिर उनके गिर्द पत्थर की बाड़ खड़ी करके या खालें लपेटकर उन्हें मज़बूती प्रदान कर दी जाती थी। एश्यूलीयन और मोस्तारी स्थलियों पर पुरातात्विक खुदाइयों के दौरान ऐसे ढांचों के अवशेष पाये गये हैं।

मानवजाति के इतिहास के उषाकाल में श्रम सक्रियता के विकास के मुख्य-मुख्य चरणों के इस संक्षिप्त और अत्यंत सामान्य सिंहावलोकन के बाद स्वाभाविक ही है कि हम इस खंड के शुरू में उठाये गये प्रश्न पर आयें। प्रश्न यह था: भौतिक संस्कृति के

विकास का जो विभिन्न चरणों में विभाजन किया गया है, वह होमिनिड कुल के ऊपर दिये गये वर्गीकरण से किस हद तक मेल खाता है? पुरापाषाण काल का पूर्व और उत्तर, इन दो चरणों में विभाजन खुद भी आनुभविक प्रेक्षण नहीं है, बल्कि एक तरह के अपाकर्षण का, सामग्री के सामान्यीकरण का परिणाम है। निस्संहदेह, यह सामान्यीकरण अत्यंत गंभीर तथा असंदिग्ध तथ्यों पर आधारित है, जैसे, उदाहरण के लिए, उत्तर पुरापाषाण काल में चूल्हायुक्त आवासों का प्रचलन (यह दिखाता है कि उस काल में सामाजिक संगठन का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा था), मृतकों का बहुविध आभूषणों के साथ शवाधान (जो कर्मकांड के विकास तथा मृतक पूजा का, यानी आदिम धार्मिक धारणाओं के विकास का परिचायक है); कला रूपों की विविधता (पत्थर, मिट्टी और हड्डी से निर्मित मूर्तियां, शैलचित्र, हड्डी की वस्तुओं पर चित्र, गुफा चित्र, आदि) और पत्थर के औज़ारों के उद्विकास में काफ़ी अधिक प्रगति, जिसके दौरान बहुत सारे नये प्रकार के औज़ार प्रकट हुए और औज़ारों को बनानेवाले औज़ार बनाये जाने लगे। ये सब तथ्य सर्वविदित तथा संदेह से परे हैं और वे पुरापाषाण काल के इतिहास के पूर्व तथा उत्तर, इन दो खंडों में विभाजन के समर्थकों की स्थिति को काफ़ी सुदृढ़ बना देते हैं।

किंतु इस विभाजन के कतिपय कमज़ोर पहलू भी हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। उनमें पहला तथा मुख्य है उपरोक्त सभी तथ्यों को स्थिररूप में देखना, न कि गत्यात्मकता में, इस बात को ध्यान में न रखना कि उपरोक्त सभी परिघटनाएं उत्तर पुरापाषाण काल में हमें अपने पर्याप्त विकसित रूप में मिलती हैं तथा विकास के इस स्तर पर पहुंचने के लिए अवश्य ही लंबी कालावधि की आवश्यकता पड़ी होगी।

यह बात शवाधान संस्कार, आवास के विकास और आदिम कला, तीनों पर समान रूप से लागू होती है। यह असंभव ही प्रतीत होता है कि इन सभी बुनियादी तौर पर नयी परिघटनाओं का आविर्भाव तथा पूर्ण विकास एकाएक तथा एक ही समय पर हुआ होगा, कि उनका जन्म स्वयं उनसे कहीं पहले उत्पन्न परिघटनाओं के भ्रूणों के क्रमिक विकास की दीर्घ कष्टकर प्रक्रिया नहीं

है, या पैलियोऐंथ्रोपस की प्रकृति में ही निहित पूर्वापेक्षाओं का फलन नहीं है। इस मत के पक्ष में भी अनेकानेक गंभीर तथ्यों का हवाला दिया जा सकता है।

नियंडरथल शवाधानों को लेकर लंबे समय तक बहस चली थी और उसके दौरान यह सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये थे कि इन शवाधानों का सांस्कारिक स्वरूप नहीं है और वे सांयोगिक, अनभिप्रेत क्रियाओं के परिणाम हैं। किंतु ऐसे निष्कर्षों के समर्थक सही नहीं हैं, क्योंकि जो तथ्य हमारे सामने हैं तथा इससे उल्टी बात सिद्ध करते हैं, उनका उनके पास कोई अकाट्य उत्तर नहीं है। और ये तथ्य हैं: कई मामलों में काफ़ी स्पष्ट रूपरेखायुक्त शवाधान गर्त्त, मृतक की सोये हुए व्यक्ति जैसी मुद्रा, मिट्टी से ढका जाना और शव के इर्द-गिर्द पत्थर के औज़ारों का मिलना। किंतु इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य तो शवों का पूर्व-पश्चिम विन्यास है, जो बाद में न छेड़े गये शवाधानों के लगभग दस मामलों में बिल्कुल ठीक-ठीक निर्धारित पाया गया है (अ० ओक्लाद्निकोव, १९५२) और साथ ही प्राकृतिक शक्तियों तथा उनके प्रभाव की आवृत्तिशीलता के प्रथम आनुभविक प्रेक्षण और मृतक को उनके साथ किसी संबंध में रखने की इच्छा का प्रमाण प्रस्तुत करता है। सोवियत अकादमीशियन अ० ओक्लाद्निकोव ने एक नियंडरथल शवाधान के गिर्द सींगों को जिस ख़ास क्रम में रखा हुआ पाया है, यदि उसे भी ध्यान में रखा जाये और ला मोस्तारी में पाये गये पैलियोऐंथ्रोपस शवाधान को याद किया जाये, जिसे सांयोगिक, अनभिप्रेत क्रियाओं का परिणाम समझ पाना कठिन है, तो नियंडरथल शवाधानों की वास्तविकता का निषेध अकाट्य तथ्यों के निषेध में परिवर्तित हो जाता है। फिर उत्तर पुरापाषाणकालीन मनुष्य का शवाधान संस्कार इतना जटिल था कि उसके पैदा हो पाने के लिए लंबी अवधि अत्यावश्यक थी। बेशक, एक और मत भी है, जिसके अनुसार नियंडरथल शवाधानों को मात्र स्वास्थ्यमूलक महत्व दिया जाना चाहिए (स० ज़म्यात्निन, १९६१)। किंतु इस दशा में भी मृतक को गुफा के भीतर ही गाड़ा जाना उससे अपने सामीप्य की चेतना को ही दर्शाता है, जो पूर्ववर्ती युग के संबंध में नहीं कहा जा सकता।

उत्तर पुरापाषाणकालीन कला अपने आविर्भाव के क्षण से ही एक अत्यंत जटिल, रूप की दृष्टि से बहुविध और अर्थ तथा तकनीक, दोनों दृष्टियों से काफ़ी अधिक विकसित परिघटना के रूप में हमारे सामने आती है। अभी गुफाओं की दीवारों पर बहुरंगी चित्रों का बनाया जाना विरल ही था। किंतु हड्डियों पर किये गये रेखांकन और मूर्तिशिल्प अभिव्यंजना की दृष्टि से अनुपम हैं और प्रेक्षणशक्ति की अगाधता तथा चित्रित वस्तु की आकृति के संप्रेषण से संबंधित तकनीकी कौशल के उच्च स्तर का परिचय देते हैं। इतनी उन्नत कला हज़ारों वर्ष लंबे विकास का ही परिणाम हो सकती थी। मानवोत्पत्ति के सबसे आरंभ के चरणों के लिए हमारे पास किसी पूजा-उपासना, धार्मिक धारणा, मंत्र-तंत्र, कला के भ्रूणों, आदि की विद्यमानता से संबंधित कोई सामग्री नहीं है। पिथिकैंथ्रोपसों के यहां और आस्ट्रेलोपिथेकसों के यहां भी इनकी विद्यमानता दिखाने के जो परिकल्पनात्मक प्रयत्न किये गये हैं उनकी तथ्यों से पुष्टि नहीं होती है और इसलिए विज्ञान में उन्हें मान्यता नहीं मिली है। पहले ठोस प्रमाण जो मिलते हैं वे नियंडरथल चरण से ही संबंध रखते हैं। पत्थरों पर कुछ ऐसे चिह्न पाये गये हैं, जिन्हें हम यदि बार-बार दोहराये गये अलंकरण कहें, तो शायद अनुचित न होगा। ये चिह्न ही सौंदर्यात्मक धारणाओं के अंकुरण के प्रथम ठोस प्रमाण हैं। संभवतः, मानवोत्पत्ति के इस चरण में ही मनुष्य को पहली बार आर्थिक चिंताओं से मुक्त समय प्राप्त हुआ, जिसका अन्य परिस्थितियों के भी अनुकूल होने पर यथार्थ को कला के माध्यम से अभिव्यक्त करने में सहायक बनना अनिवार्य ही था।

अंत में, पशुओं के सिरों को एक निश्चित क्रम में सुरक्षित रखना, जो उनमें मांस का स्रोत ही देखे जाने की संभावना का अपवर्जन करता है (कहने की आवश्यकता नहीं कि नियंडरथल मानव तो क्या, ज़्यादा पहले का मनुष्य भी खाद्य वस्तु के नाते सिर और शेष शरीर के महत्व में अंतर से शायद ही अपरिचित रहे होंगे), बहुत करके यदि पूर्णतः जीववादी विश्वासों की नहीं, तो जीववादी धारणाओं की तो अवश्य ही भ्रूणरूप में विद्यमानता का परिचायक था। बहुत संभव है कि उसका प्रथम सौंदर्यात्मक

8–1291

अवधारणाओं के निर्माण से भी संबंध था। सोवियत पुरातात्विक साहित्य में आदिम कला के बिंबों की चरणबद्धता की जो संकल्पना प्रतिपादित की जा रही है (स्तोल्यार, १९७८), जिसकी पुष्टि बहुसंख्य दिलचस्प प्रेक्षणों से होती है और जो दिखाती है कि पशु के बिंब का मूर्तिकरण कई अवस्थाओं से गुज़रा है (पूरे शरीर के बजाय उसके भागों को ही महत्व देना, उदाहरणार्थ, ड्राहेनलोख तथा पेटेरो-ह्योले की गुफाओं से प्राप्त अवशेष, मिट्टी की बनी हुई अनगढ़ आकृतियां और, अंत में, हड्डी और पत्थर पर पूर्ण आकृति का अंकन), उसे कला के स्रोतों की अतिप्राचीनता प्रमाणित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। उत्तर पुरापाषाण काल के मूर्तिशिल्प की बहुविधता के संबंध में ए० फ़ाद्किन के प्रेक्षण (१९६९) अत्यंत दिलचस्प और, हमारे मत में, अत्यधिक संभावनापूर्ण हैं। वे इसका एक अतिरिक्त प्रमाण पेश करते हैं कि उत्तर पुरापाषाण काल की कला को अपने उत्कर्ष के युग तक पहुंचने के लिए कितना लंबा मार्ग तय करना पड़ा था। उपलब्ध अवशेषों तथा स्मारकों में हम इस उत्कर्ष युग की कला को ही साकार बना हुआ पाते हैं।

खुली उत्तर पुरापाषाणकालीन स्थलियों के चूल्हायुक्त आवासों की नृवृत्तात्मक तथ्यों के उजाले में व्याख्या करके यह माना जाता था कि वे मोस्तारी युग की तुलना में उत्तर पुरापाषाण काल में सामाजिक संबंधों के काफ़ी अधिक विकास कर लेने और गोत्र व्यवस्था के प्रकट होने का प्रमाण हैं। किंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वर्तमान काल में इसी प्रकार के आवास खुली मोस्तारी स्थलियों पर भी पाये गये हैं, और इन खोजों के बाद से उत्तर पुरापाषाणकालीन समाज के गर्भ में गोत्रीय संबंधों के निर्माण का आवासों की व्याख्या पर आधारित जो तर्क था उसे पूरा ही और स्पष्टतः उसी अधिकार के साथ मोस्तारी युग पर भी लागू किया जा सकता है।

मोस्तारी अवशेषों का विशेषतः सघन अध्ययन किया जा रहा है। पहले यह माना जाता था कि मोस्तारी युग धीमे और सर्वत्र एक जैसे विकास का युग था और उसमें हस्तकुठार के स्थान पर, जो कि पूर्ववर्ती युगों का मुख्य औज़ार था, सिर्फ़ दो नये प्रकार

के औज़ार प्रकट हुए थे। अब यह धारणा बनी कि मोस्तारी संस्कृति के बहुत सारे स्थानीय भेद थे, कि उसमें पत्थरों के संसाधन की बहुत-सी तकनीकें प्रचलित थीं और बहुत सारी स्थानीय मोस्तारी संस्कृतियां ही आगे चलकर उत्तर पुरापाषाणकालीन संस्कृतियों में परिवर्तित हुईं। जैसा कि हम देख चुके हैं, नियंडरथलों के जीवन-चक्र में उससे अपेक्षाकृत रूप से स्वतंत्र दैनंदिन जीवन का क्षेत्र उत्पन्न हो गया था, जिसके भीतर सौंदर्यात्मक, धार्मिक और वैचारिक धारणाओं, यानी उन सब परिघटनाओं के पहले भ्रूणों का निर्माण होने लगा जिनका पूर्ण प्रस्फुटन उत्तर पुरापाषाण काल में दिखायी देता है। इन सब कारणों से यह उचित नहीं लगता कि हम आदिम समाज के इतिहास में मोस्तारी युग को उत्पादक शक्तियों तथा सामाजिक संबंधों के अल्प विकास का चरण निरुपाधिक रूप से मानें और पूर्व पुरापाषाण काल का एक बहुत ही बड़ा खंड बतायें। जहां तक कि आज उपलब्ध तथ्यों और प्रेक्षणों से अनुमान लगाया जा सकता है, उत्पादक शक्तियों की दृष्टि से भी और सामाजिक संगठन के रूपों की दृष्टि से भी उसमें पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा कहीं अधिक विकास हुआ था और यह बात आर्कैंथ्रोपसों की अपेक्षा पैलियोऐंथ्रोपसों के कहीं अधिक प्रगतिमुखी शारीरिक विकास से पूरी तरह मेल खाती है।

दूसरी ओर, मोस्तारी संस्कृति के साथ आधुनिक प्ररूप के मानव के सहअस्तित्व का पाया जाना उत्तर पुरापाषाण काल के साथ मोस्तारी युग के प्रत्यक्ष संबंध को दर्शाता है। निस्संदेह, कुछ मामलों में ऐसे सहअस्तित्व की खोजें समय की कसौटी पर खरी नहीं उतरी हैं और उन्हें स्पष्टतः उचित ही अविश्वसनीय समझा जाता है। किंतु हमारे सहकर्मी अ० फ़ोर्मोज़ोव द्वारा १९५३ में क्रीमिया में स्तारोसेल्ये गुफा में की गयी खोजों की विश्वसनीयता में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता। सुस्पष्ट स्तर-विन्यास, शवाधानों के आसपास तथा उनके ऊपर बड़ी संख्या में मोस्तारी औज़ारों का पाया जाना, उपलब्ध चक़मक़ के औज़ारों में उत्तर पुरापाषाणकालीन प्रकारों के औज़ारों का पूर्ण अभाव और, अंत में, स्तारोसेल्ये गुफा से ही प्राप्त शिशु की कतिपय आदिम लक्षणों की विद्यमानता के बावजूद आधुनिक शरीराकृति किसी भी प्रकार

के संदेहों के लिए कोई गुंजायश नहीं छोड़ते हैं।

इस खोज से स्वतः ही यह निष्कर्ष निकलता है कि पैलियोऐं-थ्रोपस से आधुनिक प्ररूप के मानव में संक्रमण बहुत जटिल था और मनुष्य की अधिकांश आधुनिक विशेषताएं मोस्तारी युग में ही पैदा हो गयी थीं, या अगर ठीक-ठीक कहें, तो उन कतिपय समूहों के गर्भ में पैदा हुई थीं, जो मोस्तारी संस्कृति की परंपराओं को अभी भी सुरक्षित रखे हुए थे।

ये सभी तथ्य, जो आंशिकतः नये और आंशिकतः पुराने हैं, किंतु जिनका पूर्ण महत्व नये प्रेक्षणों के उजाले में ही स्पष्ट हुआ है, यह सोचने को प्रेरित करते हैं कि, संभवतः, हमें पहले व्यापकतः स्वीकृत, किंतु बाद में त्याग दिये गये पुरापाषाण काल के पूर्व (अथवा निम्न), मध्य और उत्तर (अथवा उच्च), इन तीन युगों में विभाजन पर लौट आना चाहिए और मोस्तारी युग को मध्य पुरापाषाण काल का पर्याय समझना चाहिए। उपरोक्त सभी बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मोस्तारी युग पूर्व पुरापाषाण काल की अपेक्षा उत्तर पुरापाषाण काल के अधिक निकट है।

अब तक जो कहा गया है उसका संक्षेप में सार इस प्रकार है। होमिनिन उपकुल को दो वंशों में बांटना और होमो वंश में आधुनिक प्ररूप के लोगों को ही नहीं, पैलियोऐंथ्रोपसों को भी शामिल करना प्रथम दृष्टि में औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटी से मेल नहीं खाते हैं। सामान्यतः, औज़ारों के उत्पादन के लिए औज़ार बनाना, कला की उत्पत्ति, मृतकोपासना का पर्याप्त विकास, आदि कतिपय नये तत्त्वों के प्रकट होने को पूर्व और उत्तर पुरापाषाण कालों के बीच की विभाजन-रेखा माना जाता है। किंतु इनमें से कई परिघटनाओं का स्रोत, संभवतः, मोस्तारी युग में खोजा जा सकता है (पेचीदे औज़ार, शवाधान संस्कार के तत्त्व, आदि)। मोस्तारी युग में औज़ारों की बहुविधता और मुख्यतः पिछले वर्षों में प्रकाश में आयी मोस्तारी संस्कृति के बहुसंख्य रूपांतरों की विद्यमानता सिद्ध करती हैं कि ऐतिहासिक प्रक्रिया उत्तर पुरापाषाण काल के आगमन से बहुत पहले ही काफ़ी अधिक जटिल बन गयी थी। इस दृष्टि से आकृतिवैज्ञानिक सामग्री और होमिनिन उपकुल

के भीतर वंशों की उस पर आधारित सीमाओं की औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटी से और सामाजिक गठन के विकास के चरणों से असंगति अवास्तविक बन जाती है। इससे क्या सिद्ध होता है? निस्संदेह, यह कि आधुनिक प्ररूप के मनुष्य के आविर्भाव से पहले मनुष्यजाति की भौतिक तथा आत्मिक संस्कृतियों का विकास उसकी शारीरिक विशेषताओं के उद्विकास से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। आदिम इतिहास के प्रथम चरणों का द्वंद्वात्मक तर्क ऐसा था – जायमान सामाजिक पहलू उसे कसकर जकड़े हुए जैव पहलू से अभी अलग नहीं हो सकता था।

संस्कृति में स्थानीय भेदों के उत्पत्ति-काल तथा स्वरूप की समस्या

अब तक के विवेचन में हमने "संस्कृति", "भौतिक संस्कृति", "आत्मिक संस्कृति" जैसे शब्दों का कई बार प्रयोग किया है। संस्कृति की परिघटना तथा जीवन में उसकी भूमिका पर विस्तार से विचार करने के लिए तो एक पूरी पुस्तक भी पर्याप्त नहीं होगी। अतः हम यहां इतना ही कहेंगे कि इन पृष्ठों पर संस्कृति शब्द मनुष्य के क्रियाकलाप के सभी परिणामों के लिए प्रयोग किया गया है, चाहे वे भौतिक संस्कृति की वस्तुओं में साकार बने हों या आत्मिक क्षेत्र में। इस दृष्टि से औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के पहले क़दम ही संस्कृति को जन्म दे देते हैं और औज़ार, चाहे वह कितना भी अनगढ़ क्यों न हो, संस्कृति की वस्तु बन जाता है। इससे संस्कृति का आविर्भाव होमिनिडों के आविर्भाव और श्रम सक्रियता की उत्पत्ति से अभिन्न रूप से जुड़ जाता है। इस दृष्टि से सामाजिक पहलू के जन्म के संबंध में जो दो परस्परविरोधी मत प्रचलित हैं – पहला यह कि वह समग्रतः उत्पन्न होता है और श्रम, समाज व संस्कृति, तीनों की उत्पत्ति समकालिक एवं परस्परनिर्भर है, और दूसरा यह कि सामाजिक पहलू क्रमशः अस्तित्व में आता है तथा उसमें कालक्रम के हिसाब से विभिन्न कालों की परतें देखी जा सकती हैं – उनमें से पहला मत हमें अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

इसका अर्थ है कि मनुष्यजाति के स्थानीय आकृतिक विभेदीकरण के समानांतर, अनिवार्यतः, मनुष्यों के भूमंडल पर फैलने और आबाद-क्षेत्र के बढ़ने की प्रक्रिया में उत्पन्न अलगाव के प्रभावस्वरूप तथा संस्कृति को विविध प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के फलस्वरूप स्थानीय सांस्कृतिक विभेदीकरण भी होना ही था। यह सब सैद्धांतिकतः युक्तिसंगत है और मनुष्यजाति के स्थानीय सांस्कृतिक विभेदीकरण का तथ्य किसी से छिपा भी नहीं है। हमारा इतिहास-अध्ययन का सारा अनुभव और अति विभिन्न सभ्यताओं एवं दूर-दराज़ की आदिम संस्कृतियों से संबंधित बहुत व्यापक तथा समृद्ध ज्ञान मनुष्यजाति के इतिहास के प्रारंभिक चरणों से ही ऐसे विभेदीकरण की विद्यमानता की पुष्टि करते हैं।

समस्या तब उत्पन्न होती है, जब हम यह निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं कि संस्कृति के स्थानीय भेद स्वयं संस्कृति के साथ उत्पन्न हुए थे अथवा अधिक उत्तरवर्ती युगों में, जब आबादी बढ़ गयी थी और इसके साथ उसका क्षेत्रीय प्रसार हो गया था। सैद्धांतिक दृष्टि से संस्कृति और उसके स्थानीय भेदों की एक ही साथ उत्पत्ति के विचार और कुछ समय तक एक ही धारा के रूप में विकसित हुई संस्कृति के दायरे में स्थानीय भेदों के अपेक्षाकृत बाद में पैदा होने के विचार के बीच किसी एक को वरीयता दे पाना कठिन है, क्योंकि दोनों में से प्रत्येक के ही पक्ष में लगभग समान रूप से ज़ोरदार तर्क दिये जा सकते हैं। मनुष्य के आरंभिक प्रसार-क्षेत्र के अंतर्गत भूमंडल का काफ़ी बड़ा भाग आ जाता था और इसमें भौगोलिक परिस्थितियां सर्वत्र एक जैसी नहीं थीं। वे स्थानीय सांस्कृतिक विभेदीकरण के विकास में सहायक हुई होंगी। किंतु अपनी गत्यात्मकता के आरंभिक चरणों में संस्कृति बहुत एकरूप तथा अपरिष्कृत थी, जिससे क्षेत्रीय भेदों के प्रकट होने की सभावनाएं और प्राकृतिक परिवेश की विविधता के अनुकूल बनने की गुंजायश सीमित हो जाती थी। अतः समस्या को भौतिक संस्कृति के विकास के आरंभिक चरणों पर प्रकाश डालनेवाली पुरातात्विक सामग्री, यानी पुरापाषाण काल के हड्डी तथा पत्थर के औज़ारों के आनुभविक अध्ययन के ज़रिये ही हल किया जा सकता है।

गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पुरापाषाणकालीन अवशेष

पाये गये थे, यूरोप में उनका सघन अध्ययन किया जाने लगा था तथा उनके वस्तुतः अत्यंत प्राचीन, पुरापाषाणकालीन होने का पता चला था, तो आरंभ में मुख्य ध्यान उनकी कालगत गत्यात्मकता के उद्घाटन तथा उनके काल-विभाजन पर दिया गया था और स्थानीय भेदों को महत्वहीन समझते हुए मात्र कभी-कभार ही दर्ज किया जाता था। पाये गये कतिपय भेदों को कालगत के बजाय स्थानीय तभी माना जाने लगा, जब पुरापाषाण काल का स्पष्ट काल-विभाजन कर लिया गया तथा उसके विकास के मुख्य चरणों का पता लगा लिया गया। यह वर्तमान शताब्दी की प्रथम चौथाई की बात है। इसमें यूरोपीय पुरापाषाण काल के अध्येता ए० ब्रेल का विशेषतः बड़ा योगदान है, जिन्होंने बहुत बड़ी संख्या में मोस्तारी व उत्तर पुरापाषाणकालीन डेरों तथा गुफाओं की खोज और खुदाई की थी और मोस्तारी व उत्तर पुरापाषाण, दोनों ही युगों की औज़ारनिर्माण तकनीक के कई स्थानीय रूपांतरों को इंगित किया था। किंतु, जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, पूर्व पुरापाषाण काल के लिए दशकों तक हस्तकुठार को ही एकमात्र औज़ार-रूप माना जाता रहा। केवल यूरोपेतर पुरापाषाण के अध्ययन और खंडकों (चॉपरों) तथा अन्य औज़ार-रूपों की खोज के बाद ही पूर्व पुरापाषाण काल के लिए भी एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विशेषता के रूप में औज़ारनिर्माण की तकनीक के स्थानीय भेदों का सवाल यथार्थतः उठाया जा सका।

इस संबंध में पूर्व पुरापाषाणकालीन औज़ारों के विभिन्न क्षेत्रीय समूहों में हस्तकुठारों तथा खंडकों के भौगोलिक वितरण की समस्या ने बहुत ध्यान आकृष्ट किया। १९४४ में प्रसिद्ध अमरीकी पुरातत्वविद एच० मॉवियस ने प्रागैतिहासिक विश्व, अर्थात पुरानी दुनिया के दोहरे विभाजन का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इसके अनुसार यह गोलार्ध उत्तर से लेकर दक्षिण तक दो भागों में बंटा हुआ था: पश्चिमी भाग में हस्तकुठार का प्राधान्य था और पूर्वी भाग में खंडकों का। यह समझा जाता था कि विभाजन-रेखा मोटे तौर पर यूरोप तथा एशिया की सीमा के साथ-साथ और आगे उत्तरी भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से होते हुए गुज़रती थी। इस विभाजन या "मॉवियस रेखा" को ऐतिहासिक मौलिकता के अस्तित्व और

ऐतिहासिक प्रक्रिया की स्थानबद्धता का इतिहास में प्रथम वस्तुतः गंभीर संकेत माना जा सकता है। किंतु उसकी वास्तविकता के बारे में लंबे समय तक उग्र बहस चलती रही। बताया गया कि कुछ जगहों पर हस्तकुठार और खंडक समान मात्रा में मिलते हैं या उनके प्राप्ति-स्थलों के बीच भौगोलिक सामीप्य है, कि हस्त-कुठारों का प्राधान्य, उदाहरणार्थ, जावा में भी है, कि खंडकनुमा अनगढ़ औज़ार पश्चिम में भी पाये गये हैं, और अंत में यह कि अफ़्रीका में हमारा एक विशेष ही ढंग की स्थिति से साक्षात्कार होता है। इस विशेष स्थिति की अभिव्यक्ति अफ़्रीका की सीमाओं के भीतर पुरापाषाण काल के उत्तरवर्ती चरणों में संक्रमण की विल-क्षणता और इसके साथ ही बहुत बड़ी संख्या में ऐसे स्थानीय रूपभेदों का अस्तित्व है, जो पारंपरिक रूपों के दीर्घ काल तक बने रहने को प्रतिबिंबित करते हैं। अफ़्रीकी मोस्तारी संस्कृति की कालक्रमिक स्थिति भी और सभी जगहों से भिन्न है – अभी कुछ ही समय पहले तक उसका काल आज से अधिक ५०००० वर्ष पहले आंका जाता था, किंतु अब तिथि-निर्धारण की रेडियोकार्बन विधियों के अनुसार उसका काल आज से ७५००० वर्ष पहले है। किंतु इन सभी तर्कों का निर्णायक महत्व तभी है जब हम "मॉवियस रेखा" को निरपेक्ष मानें। मगर स्पष्ट है कि उसे पत्थर के तकनीकी संसाधन की विभिन्न स्थानीय प्रवृत्तियों की एक काफ़ी स्थूल भौगोलिक विभाजन-रेखा ही समझा जाना चाहिए।

निस्संदेह, दोनों प्रकार के औज़ार पश्चिमी भाग में भी बनाये तथा इस्तेमाल किये जाते थे और पूर्वी भाग में भी। किंतु फिर भी पश्चिम में हस्तकुठार की प्रधानता थी और पूर्व में खंडक की। भूवैज्ञानिक और तकनीकी, दोनों दृष्टियों से पूर्व पुरापाषाणकालीन तकनीक के शेलीयन और एश्यूलीयन चरणों के बीच सीमा-निर्धारण अत्यंत कठिन होने के बावजूद बहुत-से विवादास्पद मामलों में हमें अपने को यह बताने तक ही सीमित रखना चाहिए कि बहुत करके आर्कैंथ्रोपसों के अस्तित्व के सारे दौर में हस्तकुठार और खंडक, दोनों के निर्माण की तकनीक में लगातार सुधार होते रहे थे, जबकि उनकी प्रधानता की भौगोलिक सीमाएं अपेक्षाकृत अपरिवर्तित बनी रहीं। किंतु इन भूगोल से संबद्ध सामान्य अंतरों के अतिरिक्त पूर्व

पुरापाषाणकालीन तकनीक के विभिन्न रूपांतरों के भौगोलिक वितरण के उन मामलों में असामान्यतः परिक्षेपी स्वरूप का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें इस वितरण का अपैक्षाकृत छोटे प्रदेश के भीतर ही अध्ययन किया गया है। इसकी एक मिसाल काकेशिया है, जहां ऐसी कई एश्यूलीयन बस्तियां पायी गयी हैं जिनमें तकनीकी दृष्टि से विभिन्न प्रकार के पत्थर के औज़ार मिले हैं।

नियंडरथल चरण में भी हम मोस्तारी तकनीक के विभिन्न रूपभेदों के, जिन्हें किन्हीं अधिक बड़े क्षेत्रीय समूहों में वर्गीकृत किया जाता है, भौगोलिक वितरण का वैसा ही परिक्षेपी स्वरूप पाते हैं। अफ़्रीकी मोस्तारी संस्कृति की विलक्षणता की हम पहले चर्चा कर चुके हैं। यूरेशिया की सीमाओं के भीतर अलग-अलग बड़े क्षेत्रों की विलक्षणता यद्यपि इतनी अधिक स्पष्ट नहीं है, फिर भी उसकी विद्यमानता से इंकार नहीं किया जा सकता। क्रीमिया जैसे सीमित इलाक़ों में भी पाया गया परिक्षेपी वितरण यह दिखाता है कि पत्थर का संसाधन करने की तकनीक के स्थानीय भेद उनमें से प्रत्येक को किसी एक अपेक्षाकृत अल्पसंख्य समुदाय-समूह द्वारा अपनाये जाने की प्रक्रिया के परिचायक हैं। मोस्तारी युग के अवशेषों के वितरण का मानचित्र अभी नहीं बनाया गया है, किंतु जहां पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध विश्वसनीय सामग्री से उनके अस्तित्व की पुष्टि होती है वहां उनमें स्थानीय विशिष्टताएं ही नहीं पायी जातीं, बल्कि उस क्षेत्र की उत्तर पुरापाषाणकालीन संस्कृतियों में उनका सातत्य भी देखा जा सकता है। संक्षेप में, पैलियोऐंथ्रोपसों के चरण में स्थानीय सांस्कृतिक विभेदीकरण का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि पूर्ववर्ती चरण की तुलना में वह और ज़्यादा बढ़ा और ऐतिहासिक प्रक्रिया के उत्तरोत्तर जटिल बनते जाने का सबूत पेश करता है।

काल और स्थान, दोनों की दृष्टि से अलग-अलग अवशेषों से संबंध रखनेवाले ये सभी प्रेक्षण एक ही बात सिद्ध करते हैं, और वह यह कि क्षेत्रीय विभेदीकरण संस्कृति के जन्म के साथ ही, उसके बिल्कुल आरंभिक चरणों से ही हो जाता है। ओल्डुवाई युग में ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व के कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य इसलिए नहीं हैं कि उस युग की संस्कृति के बहुत कम अवशेष पाये गये

हैं। फिर भी हम साधार कह सकते हैं कि क्षेत्रीय भेद अथवा रूपांतर पूर्व पुरापाषाण काल के सबसे आरंभिक चरण – शेलीयन युग – में ही, यानी आज से कई लाख वर्ष पूर्व ही प्रकट होने लग गये थे। इस युग से ही हमें परिघटनाओं के न केवल कालक्रम तथा घटनाक्रम को, अपितु क्षेत्रीय विलक्षणता को भी सदा ध्यान में रखना होगा। क्षेत्रीय भेदों की प्रकृति का प्रश्न बड़ा जटिल है और हम आगे उसकी केवल उसी हद तक चर्चा करेंगे, जिस हद तक कि यह इतिहास के अधिक उत्तरकालीन चरणों में भाषा तथा संस्कृति के क्षेत्रीय अंतरों की व्याख्या के सिलसिले में आवश्यक होगा। यहां हम केवल इतना कहेंगे कि विभिन्न अध्येता उन्हें बिल्कुल भिन्न अर्थ प्रदान करते हैं और विभेदीकृत उत्पादन कौशलों के रूप में देखते हैं, जो पहले नृजातिसांस्कृतिक क्षेत्रों और प्रदेशों का गठन करते हैं और इसके बाद ही संचित होकर तथाकथित संस्कृतियों (समग्ररूपेण संस्कृति के स्थानीय रूपांतरों की नृजातीय विलक्षणता की पुरातात्विक अभिव्यक्ति) की शक्ल धारण करते हैं, शब्द के संकीर्ण अर्थ में स्वयं पुरातात्विक संस्कृतियां और यहां तक कि पुरापाषाणकालीण औज़ारों के अभिकल्पन की विभिन्न शैलियां भी। जब हम पूर्व पुरापाषाण काल से ही स्थानीय सांस्कृतिक भेदों के वास्तव में मौजूद होने की बात कहते हैं, तो निश्चय ही इसका यह अर्थ नहीं कि हम ऐसी स्थानीय विलक्षणता के ठोस अर्थ की किसी पूर्ण तथा सर्वस्वीकृत समझ पर पहुंच गये हैं।

मानवोत्पत्ति का श्रम सिद्धांत और प्राचीन होमिनिडों के शारीरिक प्ररूप के परिवर्तनकारी कारक

अब हम कुछ ऐसे प्रश्नों पर आते हैं जिनकी पूर्ववर्ती अध्याय में भी चर्चा हुई थी। चार्ल्स डार्विन की ऐतिहासिक कृति 'जातियों की उत्पत्ति' के प्रकाशन के तुरंत बाद निकली अन्य विद्वानों की बड़ी रचनाओं में मनुष्य के पशु जगत से पृथक होने के कारकों से संबंधित प्रश्न पर अलग से विचार करने की आवश्यकता भी नहीं समझी गयी, क्योंकि इन विद्वानों को यह इतना स्वतःस्पष्ट

प्रतीत होता था कि ऐसा कारक एकमात्र प्राकृतिक वरण ही हो सकता है। किंतु बाद में डार्विन ने प्रश्न का कुछ और गहराई में अध्ययन किया और वह प्राक्कल्पना प्रतिपादित की जिसे मानवोत्पत्ति विषयक साहित्य में बहुत समय तक पशुओं से मनुष्य के बहुविध अंतरों की व्याख्या के प्रथम प्रयास के रूप में बना रहना था। हमारा आशय डार्विन की लैंगिक वरण विषयक प्राक्कल्पना, यानी चेतन अथवा अचेतन रूप से किन्हीं शारीरिक विशेषताओं पर आधारित मनोवैज्ञानिक पसंदों द्वारा पूर्वनिर्धारित किये गये चयनात्मक मैथुन विषयक प्राक्कल्पना से है। डार्विन ने प्राकृतिक वरण के लैंगिक रूप की अपनी प्राक्कल्पना के पक्ष में बहुत ही विशद तर्क प्रस्तुत किये। इसके लिए उन्होंने पशुओं तथा पक्षियों की लैंगिक पसंदों के बारे में उस काल में उपलब्ध सारी सामग्री को इस्तेमाल किया और अपने प्रेक्षणों को मनुष्य पर भी लागू किया। किंतु प्राणिवैज्ञानिक तर्कों की, जो प्राणिजगत में वरण के लैंगिक रूप के व्यापक प्रचलन को अकाट्य रूप से प्रमाणित करते थे और बाद में जिनकी बहुत बार अन्य तथ्यों से पुष्टि भी हुई, सारी विशदता तथा गंभीरता के बावजूद उन्हें मनुष्य पर लागू करने का औचित्य संदेहास्पद ही बना रहा और ज्यों-ज्यों पैलियोऐंथ्रोपस संबंधी ज्ञान में वृद्धि हुई तथा मानवाभ वानरों तथा मनुष्यों के बीच विद्यमान भेदों को उनकी पूर्णता में अनुभव किया गया, त्यों-त्यों उसका आधार भी ढहता गया। वास्तव में, मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में सुविकसित उंगलियों, मस्तिष्क के बड़े आकार या ऐसे किसी अन्य लक्षण के संदर्भ में लैंगिक पसंद की भूमिका भला क्या हो सकती है? ये लक्षण सहज देखने में नहीं आते थे और इसलिए लैंगिक पसंदों का आधार नहीं बन सकते थे, किंतु जैसा कि हम जानते हैं, मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में ठीक इन लक्षणों का ही सबसे अधिक तेज़ी से उत्क्रमणशील विकास हुआ था।

१९वीं शताब्दी की अंतिम चौथाई और २०वीं शताब्दी की प्रथम चौथाई में ऐसी अनेक प्राक्कल्पनाएं पेश की गयीं, जिनका उद्देश्य मनुष्य तथा उसके पूर्वजों की आकृतिक विलक्षणता की व्याख्या करना और उन कारकों को प्रकाश में लाना था जिनके फलस्वरूप यह विलक्षणता उत्पन्न हुई। बहुत सारे विद्वानों ने उदग्र-

चारिता को ही वह निर्णायक कारक बताया जिसकी बदौलत वानर से मनुष्य में संक्रमण हुआ और जिसने मनुष्य की शेष सारी आकृति पर भी गंभीर छाप छोड़ी तथा मनुष्य व पशु जगत के बीच विशाल दुर्गम खाई का काम किया। दूसरों का मत था कि हाथ की उंगलियों का सुविकसित होना और अंगूठे का उनके सामने आ सकना ही वह मुख्य कारक था जिसने मनुष्य के सामने प्राकृतिक परिवेश का रूपांतरण कर पाने की व्यापक संभावनाओं के द्वार खोले। अंत में, अध्येताओं का एक तीसरा समूह मस्तिष्क की आकार-वृद्धि तथा विकास को सर्वोपरि महत्व देता था। इसके अलावा, पशुओं की शरीररचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन के कतिपय परिणामों को मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया पर लागू करने के प्रयत्न भी किये गये।

किंतु इन सभी प्राक्कल्पनाओं को यदि उनके निरपेक्ष रूप में लिया जाये, तो हम पाते हैं कि वे विज्ञान द्वारा संचित सभी तथ्यों को ध्यान में नहीं रखतीं, मानवोत्पत्ति की समस्या के विवेचन में एकपक्षीयता का प्रदर्शन करती हैं और, जो सबसे मुख्य बात है, मनुष्य की सामाजिक प्रकृति को अनदेखा करके केवल तुलनात्मक-आकृतिक सामग्री को ही अपना आधार बनाती हैं।

प्रकृतिविज्ञान के दार्शनिक पहलुओं की मीमांसा करते और द्वंद्ववाद के नियम को मनुष्य की उत्पत्ति के प्रश्न के अध्ययन में लागू करते हुए मानवजाति की उत्पत्ति के श्रम सिद्धांत के प्रतिपादक फ़्रेडरिक एंगेल्स ने मनुष्य के उद्‌विकास की प्रेरक शक्तियों को समझने में चार्ल्स डार्विन तथा अन्य विद्वानों से कहीं अधिक गहन तथा व्यापक दृष्टि एवं सूझबूझ का परिचय दिया। उनके सिद्धांत का मूल सार यह है कि श्रम ही वह बुनियादी कारक है जिसने मनुष्य को पशु जगत से अलग किया। आरंभ में बहुत आदिम ढंग की और बाद में अधिकाधिक चेतनाधारित तथा लक्ष्योद्दिष्ट सामूहिक क्रियाओं का रूप लेनेवाली श्रम सक्रियता को उचित ही मनुष्य का पशुओं से भेद करनेवाला सबसे अधिक ठेठ व्यवहारमूलक लक्षण माना जाता है। इसके साथ ही मानवोत्पत्ति का श्रम सिद्धांत ऐसे विशिष्ट मानविक लक्षणों की उत्पत्ति तथा विकास की व्याख्या प्रस्तुत करता है जैसे गतिशील, प्रेरकता की दृष्टि से पूर्ण विकसित

तथा अंगूठे के सामने आ जानेवाली हाथ की उंगलियां, सुस्पष्ट वाक् के रूप में संप्रेषण के विशेष साधन का अस्तित्व और चिंतन-शक्ति।

एक अन्य प्रश्न का भी ज़िक्र किया जाना चाहिए, जो अपने आप में तो गौण है, किंतु हमारे विषय से बिल्कुल प्रत्यक्ष संबंध रखता है। बहुत बार कहा गया है कि फ़्रेडरिक एंगेल्स का सिद्धांत लामार्कवादी रुझान रखता है और एंगेल्स ने अंगों की सक्रियता और निष्क्रियता संबंधी जां लामार्क के सिद्धांत की भावना में मनुष्य की शारीरिक रचना पर श्रम के सीधे, अव्यवहित प्रभाव के विचार को न सिर्फ़ मान्य ठहराया है, अपितु उसकी हिमायत भी की है। किंतु इस तरह के उलाहने उचित नहीं हैं।

फ़्रेडरिक एंगेल्स ने प्रकृतिविज्ञान और मानवोत्पत्ति की अपनी संकल्पना गत शताब्दी की तीसरी तथा चौथी चौथाइयों के संधिकाल में प्रतिपादित की थी, जब वरण सिद्धांत के प्रचार के बावजूद जां लामार्क के विचार अभी जीवित थे और जब स्वयं चार्ल्स डार्विन भी द्विविधाग्रस्त थे कि ठोस तथ्यों की व्याख्या अपनी वरण विषयक प्राक्कल्पना की मदद से करें या अंगों की सक्रियता व निष्क्रियता के लामार्की सिद्धांत की मदद से। उनके अंतिम वर्षों के पत्र इस द्विविधा को प्रतिबिंबित करते हैं और दिखाते हैं कि उन्हें लामार्क के इस तथा अन्य सिद्धांतों को पूरी तरह नकारने से उनकी आंशिक स्वीकृति तक का लंबा और काफ़ी कष्टकर मार्ग तय करना पड़ा था। अतः संभव है कि ऐसी परिस्थितियों में फ़्रेडरिक एंगेल्स अपने सूत्रों में जीववैज्ञानिक सिद्धांत के विकास के अपने काल के स्तर को प्रतिबिंबित करके युग की प्रवृत्ति को ही अभिव्यक्ति दे रहे थे। उनकी जिस रचना की बात चल रही है वह, यानी अधूरी ही रह गयी पुस्तक 'प्रकृति की द्वंद्वात्मकता' का मनुष्य की उत्पत्ति विषयक लेख, स्वयं लेखक द्वारा नहीं छपवाया गया था और बहुत संभव है कि उसमें संशोधन-परिवर्तन किया जाता। अतः इस लेख के कतिपय सूत्रों को अंगों की सक्रियता तथा निष्क्रियता के लामार्की सिद्धांत की प्रत्यक्ष हिमायत के बजाय ज़्यादा आलंकारिक उक्तियां ही माना जाना चाहिए।

उद्विकास विषयक वर्तमान धारणाओं और प्राचीनतम होमिनिडों

की श्रम सक्रियता संबंधी हमारे ज्ञान के उजाले में देखे जाने पर मानवोत्पत्ति का श्रम सिद्धांत कैसे रूप ग्रहण कर लेता है? संभवतः, वरण श्रम सक्रियता में संक्रमण के दौरान भी एक प्रबल परिवर्तनकारी शक्ति रहा होगा, जिसका प्रमाण मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में और विशेषतः उसके आरंभिक चरण में हुए उन सघन आकृतिक परिवर्तनों से मिलता है जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। वरण की अपार परिवर्तनकारी भूमिका के बिना, जो, संभवतः, पत्थरों तथा डंडों के प्रयोग की वजह से मानवाभ वानरों के समूहों की अपेक्षा और भी ज़्यादा कारगर बन गयी थी, ऐसे परिवर्तनों की हम न तो कल्पना कर सकते हैं और न व्याख्या ही। किंतु श्रम में संक्रमण के शुरू से ही वरण को अपने कार्य की दिशा एकदम मोड़ देनी थी: सभी प्राणी-समूहों की भांति वानरों के समूहों में भी वरण का तंत्र सबसे पहले एक प्राणी के स्तर पर काम करता है और यह मुख्य रूप से अंतःसमूही वरण होता है, जबकि अंतर्समूही वरण अंतःसमूही स्तर के वरण को जारी रखता और मानो बढ़ाता है, यानी सशक्त और सक्रिय सदस्यों के सांयोगिक बहुसंख्यावाले समूहों के लिए हितकर सिद्ध होता है।

इस दृष्टि से श्रम का आरंभ और यहां तक कि सामूहिक श्रम में संक्रमण का आरंभ भी एक जलविभाजक बन जाता है और समूह के भीतर और समूहों के बीच वरण की दिशा को बदल डालता है। बहुत संभव है कि शक्ति तथा शारीरिक दक्षता के मामले में अंतर्समूही स्तर पर वरण का महत्व अभी बना रहा, किंतु इस सूरत में भी उन्हें, जो विशेषतः आक्रामक थे, समुदाय के प्रभाव से अपनी समाजविरोधी आदतों को दबाना पड़ा होगा, जबकि जो शारीरिक दृष्टि से कमज़ोर थे, मगर सामाजिक सहजवृत्तियां रखते थे और जिनकी सहचारी चिंतन की क्षमता बहुत विकसित थी, वे शिकार संबंधी सामूहिक कार्यों में भी और साधारण औज़ारों के उत्पादन की प्रक्रिया में भी औरों से आगे रह सकते थे। अतः हो सकता है कि नियंडरथल मानव के शरीर का भारी-भरकमपन उसके जीवन की विशेष परिस्थितियों की उपज था। मारे हुए भारी जानवरों को, चाहे थोड़े दूर ही सही, ढोकर ले जाने की रोज़मर्रा की आवश्यकता ने, जो, एक ओर, झुंडों में रहनेवाले खुरदार

जानवरों के शिकार के नये तरीक़े सीखने और, दूसरी ओर, एकस्थानवासी बनने का परिणाम थी, शारीरिक शक्ति के मामले में वरण की क्रिया को बढ़ाया होगा और इस कारण ही शरीर भारी-भरकम बना होगा। किंतु इसके समानांतर ही नियंडरथल मानवों में सामाजिक सहजवृत्तियां भी पूर्ववर्ती आर्कैंथ्रोपसों के चरण की तुलना में कहीं अधिक विकसित हो गयी थीं। जहां तक अंतर्समूही वरण का सवाल है तो यहां स्पष्टतः वे समूह बेहतर स्थिति में थे जो सामाजिक दृष्टि से ज़्यादा संगठित थे, लकड़ी, पत्थर और हड्डियों के संसाधन में काफ़ी अधिक तकनीकी निपुणता हासिल कर चुके थे और जिनमें अधिक चतुर शिकारी तथा खाद्य-संग्राहक थे।

किंतु मनुष्य और मनुष्य समाज के निर्माण में श्रम सक्रियता का महत्व, स्वाभाविकतः, प्राकृतिक वरण की क्रिया को नयी दिशा देने तक ही सीमित नहीं समझा जा सकता। श्रम सक्रियता वरण के ज़रिये मनुष्य के पूर्वजों की आकृतिक संरचना को प्रभावित करती थी, किंतु उसके प्रत्यक्ष प्रभाव का एक व्यापक क्षेत्र और भी था। यह था प्राचीनतम होमिनिडों के सामाजिक संगठन और मनोजगत का निर्माण। ऊपर बताया जा चुका है कि सामूहिक कार्यों के दौरान एक दूसरे को समझ पाने के लिए समुदायों का एकजुट बनना और उनके भीतर एक निश्चित स्तर की पारस्परिक संप्रेषण की व्यवस्था का होना आवश्यक था। इनके बिना समूह के भीतर पर्याप्त शांतिपूर्ण जीवन भी असंभव था, क्योंकि वैयक्तिक आचरण के जटिल बनते जाने से, स्वाभाविकतः, टकरावों की संभावना भी बढ़ जाती थी। किंतु समुदायों में सामाजिकता के स्तर की वृद्धि और सामूहिक आचरण का जटिलीकरण मुख्यतः श्रम के, अर्थात जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने के लिए दत्त समुदाय के सदस्यों द्वारा किये जानेवाले संयुक्त कार्य के परिणाम थे। श्रम सक्रियता समाज के संगठन के क्षेत्र में ही नहीं, आकृति के क्षेत्र में भी मनुष्य के विकास का एक सृजनात्मक कारक थी। वह यह भूमिका उसी क्षण से निभाने लगी, ज्यों ही उसके लिए आवश्यक पूर्वापेक्षाएं पैदा हुईं, यानी वानरों में पाये जानेवाले वस्तुओं के सामान्य प्रहस्तन (मैनीपुलेशन) से उनके सोद्देश्य इस्तेमाल में, शिकार और खाद्य-संग्रहण के दौरान मिल-जुलकर काम करने में संक्रमण हुआ। फ़्रेडरिक एंगेल्स ने ऐसा

ही लिखा भी है : "श्रम ने स्वयं मनुष्य को बनाया"। उनके इस विचार को आधार बनाकर हमारे युग के दार्शनिकों ने "श्रम की प्रक्रिया में मनुष्य की आत्मोत्पत्ति" की संकल्पना प्रतिपादित की है।

कुछ विद्वानों का मत है कि श्रम की भूमिका की ऐसी समझ कि वह वरण की क्रिया की दिशा बदल देता है, मानवोत्पत्ति के श्रम सिद्धांत का अतिसरलीकरण है। इस मत को शायद ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि यथार्थ में श्रम सक्रियता की रचनात्मक भूमिका उपरोक्त कार्य तक ही सीमित नहीं रहती (वह मानवोत्पत्ति के श्रम सिद्धांत का मात्र एक संघटक अंग ही है), बल्कि जैसा कि हम बता चुके हैं, वह अपने को कहीं व्यापक रूप से प्रकट करती है। इसके साथ ही एक और बात भी सुझायी गयी है। वह यह कि मानवोत्पत्ति के श्रम सिद्धांत में वरण की विशेष भूमिका पर ज़ोर दिया जाये और उसे वरण का एक विशेष रूप – श्रममूलक वरण अथवा जैवसामाजिक वरण – समझा जाये। इस सुझाव से भी शायद ही सहमत हुआ जा सकता है, क्योंकि वरण की विशिष्टता उसकी किया की दिशा से निर्धारित नहीं होती, बल्कि वह अंतः जातीय परिवर्तनशीलता पर उसके प्रभाव की अंतर्वस्तु में प्रकट होती है। प्रसंगतः, वरण की परिघटना में कोई मिला-जुला समाजजैविक या जैवसामाजिक नियम देखने के प्रयत्न का सैद्धांतिक दृष्टि से भी समर्थन शायद ही किया जा सकता है।

इस प्रकार, संभवतः, पहले एक सामाजिक परिघटना के रूप में श्रम और फिर एक जैव परिघटना के रूप में श्रम द्वारा अभिदिष्ट वरण ने ही अपनी अन्योन्यक्रिया में मानवोत्पत्ति के सबसे प्रारंभिक चरण के विशिष्ट स्वरूप, पूर्ववर्णित पारिस्थितिक अवस्थाओं में आद्य पशु-रूप के उत्क्रमणशील विकास, जिसकी परिणति प्राचीनतम होमिनिडों के प्राथमिक यूथ संगठनों के निर्माण में हुई, और समूहगत व्यवहार, औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता तथा सामाजिक संगठन के जटिलीकरण की दिशा में इन प्राथमिक यूथ संगठनों की गत्यात्मकता को निर्धारित किया। सामाजिक कारक, यानी श्रम ने ही अपने प्रभाव क्षेत्र को निरंतर बढ़ाते और प्रकृति-ऐतिहासिक नियमसंगति – प्राकृतिक वरण – के क्षेत्र को संकुचित बनाते हुए मानवोत्पत्ति में प्रमुख शक्ति की भूमिका निभायी।

अध्याय तीन

भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास का आरंभिक चरण

भाषा की उत्पत्ति क्या भाषाविज्ञान-इतर समस्या है ?

यह बात स्वतःस्पष्ट प्रतीत होती है कि किन्हीं परिघटनाओं की उत्पत्ति का अध्ययन उसी ज्ञान-शाखा द्वारा होना चाहिए जो स्वयं इन परिघटनाओं का अध्ययन करती है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन इस बात पर विशेषतः ज़ोर देता है कि किसी भी परिघटना को उसके विकास में देखना चाहिए, और ऐसा करने पर ही उसे सही-सही समझा जा सकता है, दूसरी परिघटनाओं में उसका स्थान निर्धारित किया जा सकता है। सभी ज्ञान-शाखाएं – मानविकी की हों या प्राकृतिक विज्ञान की (अंतोक्त के लिए "परिशुद्ध विज्ञान" शब्द हमने जान-बूझकर इस्तेमाल नहीं किया है, क्योंकि, हमारे विचार में, इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की "परिशुद्धता" का अतिमूल्यांकन और मानविकी विषयों की वस्तुगतता का अवमूल्यांकन प्रकट होता है) – अपने क्षेत्र की प्राकृतिक अथवा सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का उनके स्थिर रूप में ही नहीं, उनके परिवर्तनशील रूप में भी अध्ययन करती हैं, इन प्रक्रियाओं के उद्‌गम तथा इनकी गतिशीलता के नियमों का पता लगाने का भी प्रयास करती हैं। कोई भी विज्ञान ले लें, सभी में हम यह उपागम पायेंगे– वह जिन परिघटनाओं का अध्ययन करता है उनकी उत्पत्ति संबंधी प्राक्कल्पनाओं और सिद्धांतों को उस विज्ञान में काफ़ी बड़ा स्थान प्राप्त होता है। ऐसी प्राक्कल्पनाओं और सिद्धांतों का महत्व अपार है – बहुत हद तक इन्हीं के आधार पर यह कहा जाता है कि अमुक ज्ञान-शाखा विकसित है अथवा अपने अध्ययन के विषय की सच्ची समझ पाने की दहलीज़ पर ही खड़ी है। जीवन चिर गतिमान और परिवर्तनशील है, हमारा ज्ञान जीवन की इस शाश्वत गति को उस

हद तक ही प्रतिबिंबित कर पायेगा जिस हद तक वह परिघटनाओं के मूल में, प्रक्रियाओं की प्रकृति और कारणों में पैठेगा। विज्ञान के ध्यान का केंद्रबिंदु है पदार्थ की गति, इस गति के विभिन्न रूप तथा एक रूप से दूसरे में संक्रमण – द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रश्न को इस प्रकार प्रस्तुत करता है।

इस अध्याय का हमारा विषय – भाषा – भी कोई अपवाद नहीं है। उसकी विशिष्टता अनंत है, अपनी बाह्य अभिव्यक्तियों में वह पूरी तरह से हमारे वागेंद्रिय के कार्य का परिणाम है और साथ ही वह सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है, उसके बिना समाज का जीवन सरलतम रूप में भी असंभव होता। हमारे वाक् का मूर्तीकरण जैविक है, किंतु भाषा का प्रकार्य सामाजिक है, इसलिए उसे केवल जैविक या सामाजिक परिघटनाओं के दायरे में नहीं रखा जा सकता। भाषा के केवल कुछ पहलू इन दोनों प्रवर्गों में शामिल होते हैं, कुल जमा यह एक विशेष परिघटना ही बनी रहती है। ऐसी परिघटना के नाते इसका विभिन्न पक्षों से अध्ययन होता है और ऐसे अध्ययन की विभिन्न विशेष विधियां भी बनी हैं।

सामान्यतः यह माना जाता है कि भाषाविज्ञान एक प्रमुख मानविकी विषय है। इसका कारण ऐतिहासिक है – प्राचीन भारत और यूनान में विद्वान पाठ से भाषा की ओर गये, न्यूनाधिक विलक्षण साहित्यिक रचनाओं के पाठों के आधार पर मानक व्याकरण के नियम बनाये जाते थे, भाषा संबंधी तथ्य वाङमीमांसात्मक तथ्यों अर्थात पाठ के अध्ययन के साथ चेतना में स्थान पाते थे। वाङ-मीमांसा के एक घटक के नाते व्याकरण का मानविकी ज्ञान-भंडार में समावेश हुआ, वह उसकी एक आधारशिला बना। ढाई हज़ार साल तक भाषाविज्ञान मानविकी विषय ही बना रहा, मानविकी ज्ञान के लिए लाक्षणिक विधियों का भाषा के अध्ययन के लिए उपयोग होता रहा। आरंभ में वाङमीमांसा और फिर दूसरे मानविकी विषयों – साहित्य का इतिहास, ऐतिहासिक स्रोतों की समीक्षा, इत्यादि – के साथ भाषाविज्ञान अंतर्गुंथित होता रहा। भाषा के जैव, भौतिक पहलू की ओर, मानव वागेंद्रिय द्वारा उसके उच्चारण की ओर कम ध्यान दिया जाता था। ध्वनियों का उच्चारण करनेवाली वागेंद्रिय के बिना तो कोई भाषायी संप्रेषण हो ही नहीं सकता। यह संप्रेषण

कितना भी जटिल क्यों न हो, है तो यह वागेंद्रिय तथा श्रवण विश्लेषक के कार्य का परिणाम ही; समुचित रूप से विकसित मस्तिष्क के बिना, चिंतन के इस अवयव के बिना भी भाषागत संप्रेषण विकसित नहीं हो सकता था। पिछले कुछ दशकों में ही समस्या के इस पहलू की ओर ध्यान दिया गया है: मानव के पूर्वजों के मस्तिष्क की संरचना और उसमें कालक्रमिक परिवर्तनों के बारे में मानवविज्ञान के तथ्यों तथा मस्तिष्क के विभिन्न प्रकार्यों के बारे में तंत्रिकाक्रियाविज्ञान (न्यूरोफ़िज़ियोलॉजी) के तथ्यों का भाषाविज्ञान में उपयोग होने लगा है। साथ ही भाषाविज्ञान में भाषा के जैव पहलू – वागेंद्रिय के कार्य – के अध्ययन के लिए प्रायोगिक जैवभौतिक विधियां प्रयुक्त होने लगी हैं।

क्या यह भाषाविज्ञान के लिए विजातीय विधियों का उस पर थोपा जाना तो नहीं है? भाषाविज्ञान इन विधियों के उपयोग से प्राप्त परिणामों से लाभ उठाता है, किंतु क्या स्वयं ये विधियां उसके लिए समय-समय पर ही काम आनेवाली विजातीय विधियां नहीं बनी रहती हैं? आखिर, भाषाविज्ञान में मात्र ध्वनि का अध्ययन नहीं होता है, भाषाविदों की उसमें रुचि उसके भाषागत स्वरूप तथा भाषा में उसके स्थान को लेकर ही है। लेकिन बात सारी यह है कि ध्वनि के विवरण के लिए अन्य बातों के अलावा उसके भौतिक लक्षणों का भी उपयोग किया जाता है; सभी भाषायी प्रक्रियाओं का अध्ययन घनिष्ठतम रूप से चिंतन के अध्ययन के साथ जुड़ा हुआ है, और चिंतन को अलग करके इन प्रक्रियाओं को न समझा और न ही व्याख्यायित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि भाषा की जैवध्वानिकी (बायोएकूस्टिक्स), मस्तिष्क के उद्विकास का अध्ययन करनेवाली मानवविज्ञान की शाखा पुरातंत्रिकाविज्ञान (पैलियोन्यूरोलॉजी) तथा वागेंद्रिय की शरीररचना – इन सभी के कुछ अंश भाषाविज्ञान का अभिन्न भाग हैं और उसमें इनके विशेष खंड बनते हैं। आजकल भाषाविज्ञान में जैवध्वानिकी की ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है, अनेकानेक भाषाविद भाषा के ध्वानिक पक्ष – स्वनप्रक्रिया – में विशेषज्ञता पा रहे हैं, किंतु अभी कुछ गिने-चुने भाषाविद ही भाषा की मनोशरीरक्रिया (साइकोफ़िज़ियोलॉजी) के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए हैं, मुख्यतः यह तंत्रिकाक्रियाविज्ञानियों

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के कार्य का क्षेत्र ही है। बहरहाल, हमारे देखते-देखते इस क्षेत्र में भाषावैज्ञानिक कार्यों का प्रसार, सामान्य भाषाविज्ञान में मानवविज्ञान और तंत्रिकाक्रियाविज्ञान के तथ्यों का समावेश तथा मनोभाषाविज्ञान का उद्‌भव – यह सब इस बात का प्रमाण है कि शनैः-शनैः भाषा-विज्ञान वैसा बन रहा है जैसा कि उसे होना चाहिए – शुद्धतः मानविकी विषय नहीं, बल्कि एक विशिष्ट ज्ञान-शाखा, जो मानविकी और प्रायोगिक प्राकृतिक-ऐतिहासिक – दोनों ही विधियों से काम लेती है और भाषा के केवल सामाजिक पहलुओं का नहीं, बल्कि सभी पहलुओं का अध्ययन करती है।

इन सब बातों के प्रकाश में भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को कैसे देखा जाये? क्या यहां हमारा सामना एक ऐसी प्रक्रिया से होता है जो हमारे समसामयिक युग से कालानुक्रम में इतनी दूर है कि आधुनिक भाषावैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर उसके बारे में कुछ कह पाना असंभव है? क्या इस प्रक्रिया का संतोषजनक पुनर्कल्पन असंभव है, और अधिक से अधिक हम जिस बात की आशा कर सकते हैं वह यह है कि आदिम इतिहास के विभिन्न चरणों का अध्ययन करनेवाले विषयों – मानवविज्ञान, पुरातत्व, नृजातिविज्ञान, इत्यादि – के आधार पर कोई परोक्ष जानकारी मिल जाये? बहुत-से भाषाविद ऐसा ही मानते हैं और इसी आधार पर वह प्राक्कल्पना निरूपित की गयी है जिसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति भाषाविज्ञान-इतर समस्या है, जिसे अनेक विषयों के संयुक्त प्रयासों से हल किया जा सकता है। कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं कि इस समस्या को विज्ञान के आधुनिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि सिद्धांततः ही हल कर पाना असंभव है।

सुप्रसिद्ध फ़्रांसीसी भाषाविद ज० वांद्रिएस (१९३७) ने लिखा था कि जब भाषा की उत्पत्ति को भाषाविज्ञान से संबंध न रखनेवाली समस्या कहा जाता है तो इस पर सबको आश्चर्य होता है, किंतु वास्तव में यह सच है। इस सच्चाई को न समझने के कारण पिछले सौ वर्ष में भाषा की उत्पत्ति पर लिखनेवालों में ज़्यादातर लोग भ्रम में रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी भूल यह रही है कि उन्होंने अपने कार्यभार को शुद्धतः भाषावैज्ञानिक पहलू से देखा है, भाषा की

उत्पत्ति के प्रश्न को अलग-अलग भाषाओं की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ मिलाया है। ज० वांद्रिएस आगे लिखते हैं कि भाषाविद लिपि-रहित और लिपिबद्ध दोनों तरह की भाषाओं का अध्ययन करते हैं। इन भाषाओं के प्राचीनतम दस्तावेज़ों के आधार पर वे इनके इतिहास का अध्ययन करते हैं। किंतु शोधकर्ता कितने भी प्राचीन काल में क्यों न पैठे उसका वास्ता उच्चतः विकसित भाषाओं से ही होता है, जिनके पीछे हमें अज्ञात लंबा इतिहास होता है। अस्तित्वमान भाषाओं की तुलना के आधार पर आदि भाषा पुनर्कल्पित की जा सकती है – यह विचार ख़्याली पुलाव ही है। तुलनात्मक व्याकरण के प्रवर्तकों ने कभी यह स्वप्न देखा था, किंतु अब बहुत पहले ही इसे छोड़ा जा चुका है। वांद्रिएस आगे लिखते हैं कि, इस प्रकार, भाषा के प्राचीनतम उदाहरणों की चर्चा हो या उस भाषा की जिसमें बच्चे बोलना सीखते हैं – भाषाविद का वास्ता सदा असंख्य पीढ़ियों द्वारा सहस्राब्दियों के परिश्रम से बनाये गये अवयवी से होता है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न उसकी सामर्थ्य से परे है। वास्तव में यह समस्या मानव और मानव समाज की उत्पत्ति की समस्या में घुली-मिली हुई है। इसका संबंध मानवजाति के आदिम इतिहास से है। मानव मस्तिष्क के विकास और मानव समाज के गठन के साथ-साथ भाषा भी बनी।

पुनर्कल्पन की शुद्धतः भाषावैज्ञानिक विधियों की समाधान शक्ति के प्रति ऐसे निराशापूर्ण रुख़ का एक कारण भाषावैज्ञानिक जीवाश्मिकी में विश्वास का गिरना भी है। इस ज्ञान-शाखा का विकास १८६३ में अ० पीक्त की पुस्तक 'भारोपीयों की उत्पत्ति' के प्रकाशन के बाद हुआ। जनगण के इतिहास और उनकी सामाजिक संस्थाओं के पुनर्कल्पन की बहुत गहराई में जाने का प्रयास इस ज्ञान-शाखा में किया गया, विशेषतः नव्य वैयाकरण संप्रदाय की रचनाओं में, लेकिन साथ ही इस सबके लिए अत्यंत विवादास्पद व्युत्पत्तियों को, जिनका आगे चलकर खंडन हुआ, आधार बनाया गया। ध्यातव्य है कि इस प्राक्कल्पना के साथ किन्हीं परिघटनाओं और प्रक्रियाओं की अज्ञेयता का विचार भी चुपके-चुपके विज्ञान में चला आता है। साथ ही यह भी इंगित किया जाना चाहिए कि ऐसी प्राक्कल्पना भाषाविज्ञान के प्रति उपरोक्त शुद्ध वाङ्मीमांसीय रुख़ से विक-

सित हुई है, दूसरे शब्दों में, भाषाविज्ञान को ऐसा मानविकी विषय मानने के कारण जो समकालीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर परिशुद्ध ऐतिहासिक पुनर्कल्पनों तक अपने को सीमित रखता है। समकालीन भाषाओं को यहां व्यापक अर्थ में लिया जाता है, आशय केवल आधुनिक भाषाओं से ही नहीं, बल्कि सभी लिपिबद्ध भाषाओं अर्थात तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० से अब तक की भाषाओं से है। लेकिन कालक्रमिक सीमाओं के इस विस्तार से भी बात के सार में विशेष अंतर नहीं आता है।

भाषा की उत्पत्ति के प्रति ऐसे रुख के खिलाफ़ भी वे सामान्य तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो हमने ऊपर दिये थे – किसी भी परिघटना की उत्पत्ति का अध्ययन उस ज्ञान-शाखा के अंतर्गत ही होना चाहिए जो स्वयं इस परिघटना का अध्ययन करती है। बहरहाल, यह एक सामान्य वैज्ञानिक तर्क है, औंर इसलिए उन सबके लिए अनिवार्य है जो इसे मानते हैं, किंतु इसके अलावा, हमारे विचार में, भाषा के प्राचीन रूपों तथा भाषाओं के आनुवंशिक परस्पर संबंधों का पता लगाने के क्षेत्र में हो रहे पुनर्कल्पन कार्य के विकास की प्रवृत्ति भी अपने आप में एक तर्क हो सकती है। आरंभ में ऐसा कार्य केवल भारोपीय भाषाओं को लेकर हुआ। भारोपीय भाषाओं का चूंकि विस्तार में अध्ययन बहुत पहले से हो रहा है और इन भाषाओं में प्राचीन लेख भी मिलते हैं, सो भारोपीय भाषा की प्राचीन व्यवस्था का पता लगाने के प्रति वस्तुगत रुख अपनाया जा सका और उन मूल बोलियों अथवा भाषाओं के समूह की रूपरेखा निर्धारित की जा सकी, जिनसे हमें ज्ञात भारोपीय भाषाओं का विकास हुआ है। यह काम अभी तक जारी है और इससे ठोस, निश्चित परिणाम प्राप्त हुए हैं। उधर, पिछले दो-तीन दशकों में संसार के विभिन्न देशों में भाषावैज्ञानिक शोधकार्यों का दायरा बहुत फैल गया है और भाषाविदों के ध्यान-क्षेत्र में अब न्यूनाधिक विस्तार के साथ संसार की वस्तुतः सभी भाषाएं आ गयी हैं। इसलिए भाषायी परिघटनाओं के कालक्रमिक पुनर्कल्पन की सीमाएं भी बहुत फैल गयी हैं।

तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान द्वारा पुनर्कल्पित अत्यंत प्राचीन कालक्रमिक संस्तर का एक उदाहरण नोस्ट्रेटिक भाषा-परिवार

की प्राक्कल्पना को माना जा सकता है। यहां यह इंगित कर देना चाहिए कि, अनेक भाषाविदों तथा भाषाविज्ञान से संलग्न अन्य विषयों के विशेषज्ञों के मत में, चर्चा उत्तर पुरापाषाण काल की है। यदि भाषाविज्ञान अपनी विधियों के सहारे ही इतनी गहराई में पैठ सकता है तो यह सोचा जा सकता है कि बिना किसी अपवाद के संसार की सभी भाषाओं को तुलनात्मक अध्ययन में शामिल किये जाने पर (जैसा कि आज हमारे देखते-देखते हो रहा है और जिससे तुलनात्मक भाषाविज्ञान विश्वव्यापी बन रहा है) और भी अधिक पुराने काल की झलक पाना तथा आदि भाषाओं की उत्पत्ति और विकास के आरंभिक चरणों का दृश्य प्रस्तुत करना संभव होगा। अभी तो यह एक सपना ही है, लेकिन ऐसा सपना जो भाषाविज्ञान में प्राप्त वास्तविक सफलताओं पर आधारित है और इसलिए निराधार नहीं, बल्कि ऐसा सपना है जिससे हमें भाषाविज्ञान के निकटतम भविष्य का आभास पाने में मदद मिलती है। हमारा विश्वास है कि स्वयं भाषा विषयक तथ्यों के आधार पर भाषा की उत्पत्ति का वस्तुगत उद्घाटन ही भाषाविज्ञान के विकास का भविष्य है, इसलिए हम इन पृष्ठों पर उस दृष्टिकोण का ही मंडन कर रहे हैं जिसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति भाषाविज्ञान की ही समस्या है, हां, इसके समाधान के लिए भाषाविज्ञान से संबंधित दूसरे विषयों का भी उपयोग किया जाना चाहिए।

किसी भी परिघटना की उत्पत्ति अत्यंत जटिल प्रक्रिया होती है जिस पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है, मानव वाणी जैसी अतिजटिल परिघटना की उत्पत्ति का प्रश्न तो और भी अधिक जटिल है। सबसे पहले हमें यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि भाषा की उत्पत्ति की समस्या पर विचार करते समय हमारा आशय किन परिघटनाओं के समुच्चय से होता है। यहां भाषा और वाक् की आधारभूत प्रत्यास्थापना अग्रभूमि में आती है। इस सदी के आरंभ में स्विट्ज़रलैंड के विख्यात भाषाविद फ़र्दिनांद दे सस्यूर ने दूसरे भाषिक प्रतियोगों के साथ इसे भी इंगित किया था और इसका गहन अध्ययन किया था। तब से "भाषा – वाक्" का प्रतियोग भाषाविज्ञान की एक आधारशिला बन गया है। यों तो सस्यूर से पहले भी भाषाविदों को इस प्रतियोग की सहज अनुभूति थी। चूंकि यह प्रतियोग

मानवजाति की ध्वनिमूलक संप्रेषण सक्रियता जैसी बहुपक्षीय परिघटना के महत्वपूर्ण पक्षों को प्रतिबिंबित करता है, अतः यह आवश्यक है कि हम इन दोनों संकल्पनाओं की विशिष्टता पर ग़ौर करें और इनके बीच विभाजन-रेखा इंगित करें। यद्यपि भाषा और वाक् की प्रत्यास्थापना को आज वस्तुतः सभी भाषाविद स्वीकार करते हैं, और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह सैद्धांतिक भाषाविज्ञान के लिए आधारभूत है, तथापि इन संकल्पनाओं की व्याख्या में पूर्ण स्पष्टता नहीं पायी जाती।

"भाषा" और "वाक्" की विभिन्न व्याख्याओं के बीच भेदों पर न जाते हुए हम इनमें वह मुख्य विचार इंगित करना चाहेंगे जो हमें सही प्रतीत होता है और जो भाषा तथा वाक् की प्रकृति में वास्तविक भेद को प्रतिबिंबित करता है। इस विचार के अनुसार, भाषा का स्वरूप सामाजिक है तथा वाक् का व्यक्तिमूलक। भाषा समाज के लिए संप्रेषण का साधन है, जबकि वाक् एक व्यक्ति की भाषा है। ऐसी प्रत्यास्थापना संपूर्ण और निरपेक्ष नहीं है: एक समष्टि के नाते भाषा अलग-अलग व्यक्तियों के निजी प्रयासों से भी बनी है, उधर, वाक् में व्यक्तिगत रंगत कितनी भी अधिक क्यों न हो वह सर्वभाषिक मानकों के आधार पर ही बनता है और एक नैसर्गिक सामाजिक आवश्यकता के नाते बचपन में ही अवचेतन रूप से आत्मसात होता है। भाषा में सामाजिक तत्व तथा वाक् में व्यक्तिगत तत्व की प्रत्यास्थापना भले ही सोपाधिक है, तथापि भाषा की परिघटना में केवल यह प्रतियोग ही तर्कसंगत प्रतीत होता है, यही भाषा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलुओं को छूता है।

शुद्धतः भाषायी संकल्पनाओं की सीमा में आनेवाले इस प्रतियोग के अवबोध के लिए किसी प्रकार के भाषाविज्ञान-इतर उपागमों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रत्यास्थापना को, प्रतियोग को समझना भाषा की उत्पत्ति की समस्या के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे तुरंत ही हमारे सामने कई अतिरिक्त प्रश्न उठते हैं – क्या वाक् की उत्पत्ति भाषा के साथ होती है या उससे अलग, वाक् और भाषा के उद्भव में क्या कालक्रमिक संबंध है, व्यक्तिगत भाषानिर्माण का भाषा के सामाजिक प्रकार्यों पर प्रभाव कब पड़ने लगता है और भाषायी रूपों के विकास में उसकी क्या भूमिका है,

मानव समाज के आरंभिक चरणों में व्यक्ति भाषायी रूपों को कैसे ग्रहण करता, समझता था, इत्यादि-इत्यादि। स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर दे पाने के लिए हमारे पास कुछ परोक्ष तर्क ही हैं, लेकिन एक बार फिर हम इस बात पर ज़ोर देना चाहेंगे कि स्वयं इस समस्या की ही भांति ये तर्क भाषावैज्ञानिक प्रेक्षणों और सामान्य भाषा-सिद्धांत से ही निस्सृत हैं। इनकी पुष्टि के लिए भाषा-विज्ञान से संलग्न ज्ञान-शाखाओं के तथ्यों का सहारा यदि लिया जाता है तो ऐसा भाषावैज्ञानिक समस्याओं के समाधान के लिए ही किया जाता है। उपरोक्त सभी बातों के अलावा यह बात भी इस अनुच्छेद के शीर्षक में निरूपित प्रश्न का निम्न उत्तर ही निर्धारित करती है : भाषा की उत्पत्ति भाषाविज्ञान-इतर नहीं, बल्कि शुद्धतः भाषावैज्ञानिक समस्या है, जो मानव की उत्पत्ति और समाज के गठन के साथ घनिष्ठतम रूप से जुड़ी हुई है।

आकृतिविज्ञान तथा वाक् की उत्पत्ति के आरंभिक चरण का पुनर्कल्पन

आकृतिविज्ञान पर अब तक प्रकाशित रचनाओं से प्राक्-होमिनिड पूर्वजों से लेकर आधुनिक मानव तक मस्तिष्क की तथा परिसरीय वागेंद्रिय की तुलनात्मक-शरीररचनात्मक विशेषताओं की उनके विकास में पर्याप्त जानकारी मिलती है। सो हम आकृतिविज्ञान के प्रेक्षणों की प्रकार्यात्मक व्याख्या पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं (बेशक, उन मामलों में ही जिनमें यह हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में संभव है), इन रचनाओं के आकृतिवैज्ञानिक भाग में हमें केवल नवीनतम आंकड़े ही जोड़ने होंगे। वाक्-प्रकार्य के लिए उत्तरदायी और साथ ही वाक्-प्रवाह में, अर्थात उच्चारण ही नहीं, श्रवण में भी (जिसके बिना वाक्-प्रकार्य का कोई अर्थ ही नहीं रहता), भाग लेनेवाली शारीरिक संरचनाओं (अंगों) पर किस क्रम में विचार तथा उनका मूल्यांकन किया जाना चाहिए? वाक्-प्रवाह में परिसरीय वागेंद्रिय तथा श्रवण विश्लेषक के कार्य और मस्तिष्क में होनेवाली प्रक्रियाओं की अन्योन्यक्रिया अत्यंत जटिल

और प्राय: पलांश में हो होती है। इसलिए इनके प्रकार्यों को अलग-अलग करके देखने से वाक्-प्रक्रिया का आरेखीय दृश्य बनता है, किंतु किसी भी प्रकार्यात्मकत: जटिल पद्धति के कार्य के पुनर्कल्पन में ऐसी आरेखीयता आना अवश्यंभावी है, हम तो यहां ऐसी एकाधिक जटिल पद्धतियों की अन्योन्यक्रिया पर ग़ौर कर रहे हैं। मस्तिष्क की तंत्रिकोशिकाओं में ऐसी शरीरक्रियात्मक और जैवरासायनिक प्रक्रियाएं होती हैं, जो स्थूलमानसिक स्तर पर अवधारणाओं के गठन में व्यक्त होती हैं, परिसरीय वागेंद्रिय इन अवधारणाओं की ध्वनिक अभिव्यक्ति के लिए उत्तरदायी होती है और श्रवणेंद्रिय वाक्-प्रवाह में उच्चारित ध्वनियों का अवबोध सुनिश्चित करती है – यह सब देखते हुए, हमारे विचार में, आगे का वर्णन मस्तिष्क की आधारभूत संरचनाओं तथा मानवोत्पत्ति के दौरान उनमें आये परिवर्तनों के सर्वेक्षण से आरंभ करना ही उचित रहेगा।

जीवाश्मी रूपों की वर्गिकीय स्थिति पर ग़ौर करते हुए ऊपर हमने उनके मस्तिष्क के आयतन के आंकड़े उद्धृत किये थे। मस्तिष्क का आयतन जीवों में मस्तिष्क के विकास का एक काफ़ी स्थूल, किंतु साथ ही महत्वपूर्ण लक्षण है, जो मस्तिष्कीय द्रव्य की मात्रा तथा तंत्रिका-तंत्र के संगठन के स्तर का सूचक होता है, बेशक, इसके लिए इस मात्रा को सारे शरीर के द्रव्यमान के अनुपात में देखना चाहिए। इस बात पर विशेषत: ज़ोर देना चाहिए – स्वाभाविक ही है कि हाथी का मस्तिष्क आकार में मानव मस्तिष्क से कहीं अधिक बड़ा होता है, यही बात विभिन्न आकार के दूसरे जीवों के बारे में भी कही जा सकती है। उनके मस्तिष्क के विकास का पता तो मस्तिष्क के आयतन की शरीर के द्रव्यमान के साथ तुलना करके ही लगाया जा सकता है। किंतु जीवाश्मी होमिनिडों के मामले में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है – उन सबका आकार थोड़े-बहुत भेदों के बावजूद प्राय: एक जैसा ही था, अत: होमिनिडों के विभिन्न कालक्रमिक और वर्गिकीय समूहों के प्रतिनिधियों के मस्तिष्क के आकार के आंकड़ों की सीधी तुलना ही मस्तिष्क के उद्विकास की गति को प्रतिबिंबित करती है। अध्याय एक में हमने इस बात का उल्लेख किया था कि इस उद्विकास के परिणामस्वरूप मस्तिष्क का आकार बढ़ा तथा उसकी संरचना अधिक जटिल हुई।

हमने यह भी बताया था कि एफ़० टोबायस ने आस्ट्रेलोपिथेसिनों के विभिन्न वंशों और जातियों के लिए मस्तिष्क के आकार के जो आंकड़े दिये हैं वे ६०० घन सें० मी० से अधिक नहीं हैं। उधर, पिथिकैंथ्रोपस वंश के लिए (सोलोएंसिस और पेकीनेंसिस ही नहीं, बल्कि सभी नये रूपों समेत) मस्तिष्क का औसत आयतन पुरुषों के लिए ९१७.३ घन सें० मी० (१४ पुरुषों का औसत) तथा स्त्रियों के लिए ९१६.३ घन सें० मी० (८ स्त्रियों का औसत) है। इन आंकड़ों का प्रायः एक जितना होना इस बात का प्रमाण क़तई नहीं है कि पिथिकैंथ्रोपस वंश में लिंग द्विरूपता नहीं थी, उलटे, यह उत्तरवर्ती होमिनिडों से अधिक विकसित ही रही होगी, जैसा कि मानवाभ वानरों और आधुनिक मानव में लिंग द्विरूपता के विकास संबंधी तथ्यों की तुलना से पता चलता है। आंकड़ों में इस समानता का कारण, संभवतः, यही है कि जीवाश्मी रूपों का लिंग-निर्धारण बहुत कठिन और काफ़ी हद तक यादृच्छिक होता है, साथ ही प्रेक्षणों की संख्या काफ़ी कम होने के कारण जो रूपभेद मिलते हैं वे भी सांयोगिक ही हैं।

बहरहाल, इन आंकड़ों में हमारी रुचि इस बात में नहीं है, बल्कि जीवाश्मी होमिनिडों के दूसरे रूपों के बारे में आंकड़ों की तुलना में ही ये आंकड़े रोचक हैं। यदि यह मान लिया जाये कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों के मस्तिष्क का औसत आकार ६०० घन सें० मी० (पुरुषों के लिए) तथा ५५० घन सें० मी० (स्त्रियों के लिए) था, तो हमें वह प्रस्थान-बिंदु मिल जायेगा जिसकी तुलना में हम होमिनिडों के उद्विकास के दौरान मस्तिष्क के आकार में वृद्धि का आकलन कर सकते हैं। पिथिकैंथ्रोपस वंश में आस्ट्रेलोपिथेकस वंश की तुलना में पुरुषों के मस्तिष्क का आकार ५६% तथा स्त्रियों के मस्तिष्क का आकार ६७% बढ़ा। नियंडरथल जाति के लिए यह वृद्धि क्रमशः १४४% और १३१% है (पहले अध्याय में हमने बताया था कि उनके मस्तिष्क का औसत आकार क्रमशः १४६३.२ और १२७.१ घन सें० मी० था)। आधुनिक मानव में यह वृद्धि और अधिक है – पुरुषों के लिए १६४% तथा स्त्रियों के लिए १६८% (याद दिला दें कि इनके मस्तिष्क का औसत आयतन क्रमशः १५८१.१ तथा १४७६.६ घन सें० मी० थी)। उद्विकास के

के दौरान पुरुषों और स्त्रियों के मस्तिष्क के आकार में वृद्धि में उतार-चढ़ाव तत्संबंधी आंकड़ों में सांयोगिकता का ही परिणाम हैं, जैसा कि पिथिकैंथ्रोपस वंश के बारे में ऊपर हमने बताया है। यह सरल गणना दो बातें साफ़-साफ़ दिखाती है: एक, इससे इस बात की पुष्टि होती है कि होमिनिड लक्षणत्रयी का तीसरा तत्व नियंडरथल चरण में ही बना, सो इस लक्षण के आधार पर होमो वंश निर्धारित किया जाना तर्कसंगत है, दूसरे, इससे यह पता चलता है कि होमिनिडों के उद्विकास के दौरान मस्तिष्क का आयतन ढाई गुना बढ़ा। मस्तिष्क के आयतन में यह वृद्धि इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि श्रम के क्षेत्र का विस्तार होने, सामाजिक संबंधों के अधिक जटिल बनने तथा पर्यावरण का तीव्र संज्ञान पाने के साथ आदि मानव पर चारों ओर से सूचना की जो बौछार हुई उसके समानांतर इस अंग का द्रुत विकास भी हुआ।

लेकिन भाषा की उत्पत्ति और उसके इतिहास के आरंभिक चरणों से इस सब का क्या वास्ता है? मस्तिष्क की संरचनाएं ही नहीं, बल्कि स्वयं मस्तिष्क का आयतन तथा प्रांतस्था (कार्टेक्स) में तंत्रिकोशिकाओं की संख्या में अतिशय वृद्धि भी न केवल प्राचीन होमिनिडों के मानसिक विकास के स्तर का, अपितु उनके भाषायी संप्रेषण का भी द्योतक है। आस्ट्रेलोपिथेसिनों के मस्तिष्क के आयतन तथा विशाल मानवाभ वानरों के मस्तिष्क के आयतन में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है, किंतु पिथिकैंथ्रोपस और फिर नियंडरथल मानव के मस्तिष्क के आयतन में गुणात्मक संवृद्धि हुई – पहले मामले में डेढ़ गुनी और दूसरे मामले में ढाई गुनी। इस बात को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दो घटनाओं – पिथिकैंथ्रोपस वंश और नियंडरथल जाति के गठन – के साथ ही वागेंद्रिय के विकास की दिशा में कोई निर्णायक मोड़ भी आये होंगे।

ढालित अंत:कपालों को देखते हुए जीवाश्मी मानवों के मस्तिष्क के उद्विकास का जो चित्र हमारे सामने बनता है वह किस हद तक वस्तुनिष्ठ है? इसमें तीन बातें निश्चित मानी जा सकती हैं। सबसे पहले तो यह स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है कि मस्तिष्क की ऊंचाई बढ़ी, जो कि मस्तिष्क प्रांतस्था के, जिसमें मानव की मानसिक सक्रियता के सर्वोच्च प्रकार्य केंद्रित हैं, बढ़ने

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से संबंधित है। दूसरी बात, यह इंगित की जा सकती है कि मस्तिष्क के ललाट खंडों की ऊंचाई बढ़ने के साथ ललाट क्षेत्र बढ़ा, जबकि पार्श्विक क्षेत्र का आकार कुछ कम हुआ। निस्संदेह, यह इस बात का प्रमाण है कि मानवोत्पत्ति के दौरान विभिन्न प्रकार्यों का संचालन करनेवाले मस्तिष्क के क्षेत्रों का पुनर्भिमुखन हुआ – अपरिष्कृत, यंत्रवत गतियों का क्षेत्र कुछ कम हुआ, जबकि मस्तिष्क के साहचर्यमूलक प्रकार्यों का विस्तार हुआ। अंततः, तीसरी बात यह है कि जावा और चीनी (पेकीनेंसिस) पिथिकैंथ्रोपसों के ढालित अंतःकपालों पर शंख (टेम्पोरल), पार्श्विक और पश्चकपाल क्षेत्रों की सीमा पर एक सुस्पष्ट उभार दिखाई देता है, जो आस्ट्रेलोपिथेकसों के ढालित अंतःकपालों पर नहीं पाया जाता। अनेक विद्वानों ने इस उभार की ओर ध्यान दिलाया है और इसकी अलग-अलग व्याख्या की है। कुछ का कहना है कि यह उभार किसी भी प्रकार्य से नहीं जुड़ा हुआ था, किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से इसकी संभावना कम है। कुछ विद्वानों के मत में, औज़ार बनाते समय तथा सामान्यतः सभी श्रम संक्रियाओं में हाथों का उपयोग करने के लिए जो जटिल गतियां करनी पड़ती थीं उनमें सचेतन रूप से संतुलन बनाये रखने के प्रकार्य से संबंधित प्रांतस्था के क्षेत्रों में संवृद्धि का ही परिणाम यह उभार था। यह व्याख्या भी हमें पूर्णतः संतोषजनक नहीं लगती, क्योंकि हाथों का उपयोग तो आस्ट्रेलोपिथेकस भी करने लगे थे और इस व्याख्या के अनुसार यह उम्मीद की जानी चाहिए कि उनके कपालों पर भी इसी स्थान पर ऐसा ही उभार होगा। कुछ विद्वान इस आकृतिक संरचना का रहस्य समझने के लिए पिछले वर्षों में चिकित्सालयों में हुए प्रेक्षणों का सहारा लेते हैं। इन प्रेक्षणों से यह पता चलता है कि प्रांतस्था के इस क्षेत्र के क्षतिग्रस्त होने से मनुष्य की वाणी अवरुद्ध हो जाती है। सो, इन विद्वानों के मत में पिथिकैंथ्रोपसों के ढालित अंतःकपालों पर यह उभार इस बात का प्रमाण हो सकता है कि वागेंद्रिय के विकास में पहली मंज़िल तय कर ली गयी थी। ऊपर हमने यह अनुमान व्यक्त किया है कि मस्तिष्क के आयतन में तीव्र वृद्धि के दो चरण वाक् के विकास में किन्हीं आधारभूत घटनाओं से जुड़े हुए हैं। अब हम यह देखते हैं कि इनमें से पहले चरण में ही जीवाश्मी होमिनिडों के ढालित

अंतःकपालों पर स्थूलसंरचनात्मक परिवर्तन (उभार) प्रकट होता है। अतः, इससे भी हमारे अनुमान की पुष्टि होती है।

अब वागेंद्रिय के परिसरीय अंगों – जीभ, कोमल तालू, स्वरयंत्र (लैरिंक्स), कंठिका (हायॉइड) अस्थि और निचले जबड़े – को लें। स्पष्ट है कि इनके उद्‌विकास का आकलन करने की संभावनाएं अलग-अलग हैं: जीवाश्मी होमिनिडों की कंठिका अस्थि के अवशेष संरक्षित नहीं रहे, स्वरयंत्र के कोमल ऊतकों में कालक्रमिक परिवर्तनों के साक्षी अवशेषों की तो बात ही दूर रही। हां, निचले जबड़े के उद्‌विकास की समझ पाने के लिए तत्संबंधी जीवाश्मी अवशेष उपलब्ध हैं। स्वरयंत्र के मामले में हम उद्‌विकास क्रम की पहली और अंतिम कड़ियां ही देख सकते हैं – मानवाभ वानरों और आधुनिक मानव के स्वरयंत्र की रचना के बारे में तुलनात्मक सामग्री पाकर। निचले जबड़े के मामले में बिचली कड़ियों की सामग्री भी हमारे पास है। मानवाभ वानरों और आधुनिक मानव के स्वरयंत्र की बनावट और स्थिति की तुलना में हमारे विषय के लिए सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि आधुनिक मानव का स्वरयंत्र मानवाभ वानरों के स्वरयंत्र की अपेक्षा अधिक नीचे स्थित है, दूसरे यह कि स्वर रज्जु अधिक मोटे तथा वर्तुलित हैं। ऐसे स्वर रज्जुओं की बदौलत प्रबल ध्वनियों का उच्चारण करना संभव होता है जबकि स्वरयंत्र के नीचे चले जाने से पर्याप्त लंबा और लचीला मुख विवर बना है, जिससे सूक्ष्मतः विभेदीकृत ध्वनियों का उच्चारण संभव होता है। किंतु यह कहना कठिन है कि मानवोत्पत्ति के किस चरण में ये परिवर्तन आये, क्या वे एक ही समय पर आये या इनका संबंध अलग-अलग कालक्रमिक चरणों से है।

निचले जबड़े के उद्‌विकास पर विचार करने के लिए हमारे पास विभिन्न कालों के जीवाश्मी अवशेष हैं। मोटे तौर पर इनसे यह पता चलता है कि होमिनिड कुल के सारे इतिहास में निचला जबड़ा छोटा होता गया, आस्ट्रेलोपिथेकस से पिथिकैंथ्रोपस में तथा नियंडरथल से आधुनिक मानव में संक्रमण के दौरान यह परिवर्तन विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। निस्संदेह, भारी जबड़े की तुलना में हल्का जबड़ा कारगर उच्चारण में अधिक सहायक होता है। बात यह है कि ध्वनियों के उच्चारण के समय जबड़े की स्थिति

में द्रुत, क्षणिक परिवर्तन अपेक्षित होते हैं – स्वाभाविक ही है कि जबड़ा हल्का होने पर ऐसे परिवर्तनों के लिए कम प्रयत्न करना पड़ता है। चर्वण मांसपेशियों का ह्रास भी उच्चारण में सहायक है, क्योंकि कम प्रबल मांसपेशियां तान – कसाव और ढील – के द्रुत प्रत्यावर्तनों में अधिक सक्षम होती हैं, जो कि उच्चारण के लिए इतना आवश्यक है। निचले जबड़े के बाहरी उभारों में परिवर्तन भी, जो कि जबड़े की शक्ति का परोक्ष प्रमाण है, उपरोक्त दो कालक्रमिक चरणों – आस्ट्रेलोपिथेकस से पिथिकैंथ्रोपस में और नियंडरथल से आधुनिक मानव में संक्रमण के चरणों – में ही आये। इस प्रकार, निचले जबड़े के उद्‌विकास में भी दो सीमाओं के होने की पुष्टि होती है, वैसे ही जैसे कि मस्तिष्क के उद्‌विकास में इनकी पुष्टि हुई है। इससे वाक्-प्रकार्य के विकास में इनकी विशेष भूमिका एक बार फिर स्पष्ट होती है। यहां यह भी बताया जाना चाहिए कि चिबुक उत्सेध का पूर्ण निरूपण भी आधुनिक मानव के गठन के काल में हुआ। इसकी व्याख्या के लिए अनेक प्राक्कल्पनाएं प्रस्तुत की गयी हैं और इन सबमें यह माना गया है कि वाक्-प्रक्रिया में इसका बहुत महत्व है।

श्रवणेंद्रिय के उद्‌विकास के अध्ययन में भी उन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जो वागेंद्रिय के परिसरीय अंगों (निचले जबड़े के अलावा) के अध्ययन में आती हैं – इससे संबंधित कोई जीवाश्मी अवशेष नहीं मिलते। ऊपर हमने प्रांतस्था के शंख, पश्चकपाल और पार्श्विक क्षेत्रों के सीमावर्ती भाग की जिस संवृद्धि पर विचार किया है, उसका, संभवतः, श्रवण-प्रकार्य के विभेदीकरण से भी कोई संबंध रहा हो। वाक्-क्षमता के मुखरित होने के साथ-साथ इस विभेदीकरण का होना भी अनिवार्य था। भाषा के गठन के सिलसिले में श्रवणेंद्रिय के विकास के बारे में फ़िलहाल बस इतना ही कहा जा सकता है (इतना स्पष्ट है कि भाषायी प्रकार्य के परिष्कार के समानांतर इसका भी परिष्कार होना आवश्यक था)। अब हम मस्तिष्क तथा परिसरीय वाक्-केंद्रों के उद्‌विकास के बारे में आकृतिक तथ्यों के इस संक्षिप्त विवरण के निष्कर्षों पर आते हैं।

आस्ट्रेलोपिथेकस उदग्रचारी जीव बनकर पशु जगत से अलग

हो गये, किंतु उनके सिर और धड़ की दूसरी आकृतिक संरचनाओं में पशुओं जैसे ही लक्षण बने रहे, इसलिए न तो मस्तिष्क के आयतन और न ही निचले जबड़े की बनावट में वे मानवाभ वानरों से विशेषतः भिन्न थे। यही कारण है कि ऊपर होमिनिड कुल निर्धारित करते समय हमने उदग्रचारिता (द्विपादगमन) को ही होमिनिडों को सभी दूसरे पशुओं से अलग करनेवाला लक्षण माना है। मस्तिष्क के आयतन में भारी गुणात्मक वृद्धि, निचले जबड़े और उसे चलानेवाली मांसपेशियों का हल्का पड़ना–ये परिवर्तन आस्ट्रेलोपिथेकस से पिथिकैंथ्रोपस में संक्रमण के काल में आये, उसी काल में जब मानव हाथ का गठन हुआ तथा श्रम सक्रियता अत्यंत जटिल हुई। यह अनुमान न लगाना कठिन है कि इससे वाक्-प्रकार्य की उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिला, हालांकि जीवाश्मी अवशेषों से हमें इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि वागेंद्रिय के गठन में ये महत्वपूर्ण परिवर्तन ठीक-ठीक किस रूप में अभिव्यक्त हुए। मस्तिष्क के द्रव्यमान में पहले से भी अधिक संवृद्धि का अगला चरण नियंडरथल मानव के प्रकट होने से जुड़ा हुआ है। ऐसा लगता है कि इस संवृद्धि के साथ दूसरे महत्वपूर्ण आकृतिक परिवर्तन नहीं आये और, शायद, इस वृद्धि का कारण केवल सूचना की मात्रा बढ़ना ही था। नियंडरथल से आधुनिक मानव में संक्रमण के दौरान निचले जबड़े का आगे परिष्कार हुआ, मस्तिष्क का आकार तो पहले जितना ही बना रहा, लेकिन मस्तिष्क के ललाट खंडों की आकृति में और अधिक परिवर्तन आये, वे ऊंचाई में बढ़े (ध्यातव्य है कि चिंतन के अनेक साहचर्यमूलक प्रकार्य इन खंडों में ही संकेंद्रित हैं) – प्रत्यक्षतः, इस सबकी व्याख्या वाक्-सक्रियता के आधुनिक रूपों के पूर्ण या प्रायः पूर्ण निरूपण के आकृतिक प्रमाण के तौर पर की जानी चाहिए। वागेंद्रिय के अंगों के उद्‌विकास के दौरान इनकी आकृति के तुलनात्मक प्रेक्षणों से यही प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं जो इन अंगों में द्रुत परिवर्तनों के चरण इंगित करते हैं। और ये चरण तो, जैसा कि इंगित किया जा चुका है, पुरामानवीय सामग्री के विश्लेषण की समस्या नहीं हैं, बल्कि स्वयं भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के परिणामों के पश्चगामी बहिर्वेशन की समस्या हैं।

इंगितों के उपयोग की सीमाएं

यहां हम इस पुनर्कल्पनात्मक बहिर्वेशन पर आ सकते थे, किंतु अभी एक समस्या शेष है, जो वाक् और भाषा की उत्पत्ति की समस्या से अभिन्न रूप से जुड़ी है। चर्चा इंगित (अंगविक्षेप) संप्रेषण और उसके उपयोग के क्षेत्रों की है तथा इस प्रश्न की भी कि क्या इसे भाषा का एक विशेष रूप माना जा सकता है। सोवियत विद्वान इन सभी प्रश्नों से भली भांति परिचित हैं, क्योंकि सोवियत भाषाविदों, पुरातत्वविदों, मानवविज्ञानियों और आदिम समाज के इतिहासकारों पर वर्षों तक निकोलाई मार्र द्वारा प्रस्तुत प्राक्कल्पना का जादू छाया रहा था। इसके अनुसार, गतिक (किनेटिक) वाक् सारी मानवजाति के लिए वाक् के विकास का एक अनिवार्य प्राथमिक चरण था।

यह प्राक्कल्पना वैज्ञानिक साहित्य में हावी रही, सुबोध पुस्तकों में इसका प्रचार हुआ, इसका विरोध थोड़े-से लोगों ने ही किया। बात सिर्फ़ निकोलाई मार्र की उच्च वैज्ञानिक और प्रशासनिक प्रतिष्ठा की नहीं थी – वह अकादमीशियन थे, भौतिक संस्कृति के इतिहास की अकादमी के डायरेक्टर थे, पुरातत्व, नृजातिविज्ञान, भाषाविज्ञान और प्राच्यविद्या का अधिकांश अध्ययन कार्य इस अकादमी में ही केंद्रित था। मार्र की प्राक्कल्पना अपने आप में आकर्षक थी, इसीलिए वह इतनी लोकप्रिय हुई, अनेक संतुलित विद्वान भी इस पर विश्वास करने लगे। इस प्राक्कल्पना के प्रवर्तक का व्यक्तित्व भी कम रोचक और आकर्षक नहीं था – अनेक विरली भाषाओं के वह ज्ञाता थे, भाषा, साहित्य, लोक-वाङ्मय, नृजातिविज्ञान, दक्षिणी यूरोप, काकेशिया और पश्चिमी एशिया के जनगण के इतिहास पर असंख्य रचनाएं उन्होंने लिखी थीं, यूरेशिया महाद्वीप की जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के बेजोड़ जानकार थे, अनेक ज्वलंत और आकर्षक प्राक्कल्पनाएं उन्होंने प्रस्तुत कीं, कल्पना की निर्बाध उड़ानें भरने से वह नहीं डरते थे, तर्क-वितर्क करना, प्रमाण प्रस्तुत करना, दूसरों को अपनी बात का क़ायल करना उन्हें बख़ूबी आता था और वाद-विवाद में वह सदा विजयी ही होना चाहते थे। उनका चिंतन

10–1291

सदा परिघटनाओं के उद्गम की ओर उन्मुख होता था, गतिक वाक् की प्राक्कल्पना भी इसी बात की एक अभिव्यक्ति थी, यह वाक् की उत्पत्ति के उनके सामान्य सिद्धांत का ही एक अंश थी।

निकोलाई मार्र ने अपनी संकल्पना के इस अंश का विशदीकरण नहीं किया। वह तो बहुधा अपने काम में बहुत-सी बातों की ओर इशारा भर ही करके छोड़ देते थे। प्राग्ध्वनिक गतिक संप्रेषण की संरचना क्या रही होगी इसका पता लगाने का भी प्रयास उन्होंने नहीं किया, परंतु स्वयं इस संप्रेषण का तथ्य प्रमाणित करने के लिए, जैसा कि किसी भी भाषायी या सांस्कृतिक परिघटना के प्रति अपने सार्वभौमिक उपागम के आधार पर वह सदा करते थे, नाना प्रकार के परोक्ष तथ्य प्रस्तुत किये – यहां अनेक आदिम क़बीलों की कूट भाषाएं भी थीं, गूंगों-बहरों की बोली भी, बहुत-सी कृत्रिम भाषाओं में इंगित संकेत भी तथा अन्य अनेक तथ्य भी थे। इन सब तर्कों पर ग़ौर करने की कोई ज़रूरत नहीं है – ये समय की कसौटी पर खरे नहीं उतरें हैं। खरे उतर भी कैसे सकते थे जबकि ये सारतः गौण परिघटनाओं पर आधारित थे: संप्रेषण की इन सभी विधियों का प्रकार्यात्मक परिसर सीमित है, संकीर्ण है और प्रमुख बात तो यह है कि इन सभी की उत्पत्ति द्वितीयक है, आधुनिक भाषायी मानकों के विकास के पथ पर आनुषंगिक शाखाओं के रूप में ये विधियां बनीं, इसलिए आद्य, मूल भाषायी अवस्था पर इनका बहिर्वेशन करना अनुचित है। उल्लेखनीय है कि निकोलाई मार्र के वैज्ञानिक कार्य की ४५वीं जयंती के अवसर पर प्रकाशित बृहद लेख-संग्रह (१९३५) में यद्यपि उनके वैज्ञानिक कार्यों के विविधतम पहलुओं को आगे विकसित करनेवाले लेख थे, तथापि गतिक वाक् के ठोस अध्ययन पर एक भी लेख नहीं था। उनके बहुसंख्य शिष्यों की रचनाओं में भी गतिक वाक् के बारे में कुछ गिने-चुने लेख ही मिलते हैं, उनमें भी आम बातें ही कही गयी हैं, कोई ठोस विश्लेषण नहीं है।

बहरहाल, इस अनुच्छेद की पहली पंक्तियों में निरूपित समस्या तो बनी हुई है। हम सभी पशुओं के साथ अपने दैनिक संसर्ग से यह जानते हैं कि पशुओं में मुद्राओं और इंगितों की सहायता से संप्रेषण होता है। आजकल इसका वैज्ञानिक अध्ययन हो रहा है।

एक मनुष्य भी दूसरे मनुष्य को, विशेषतः यदि वे दोनों कोई एक भाषा न जानते हों, इंगितों और भंगिमाओं की मदद से बहुत कुछ बताता है। मनुष्यों के इन भाषा-इतर संप्रेषण साधनों का भी अध्ययन हुआ है और ये अत्यंत विविधतापूर्ण निकले हैं। वाक् और भाषा के गठन में इन सभी परिघटनाओं की क्या भूमिका है और इस भूमिका की सीमाएं कहां हैं? आज हमें गतिक संप्रेषण के बारे में जो भांति-भांति की जानकारी प्राप्त है वह हमें पशु जगत के इतिहास की गहराइयों में, पशुओं के सोपान के सबसे निचले चरणों पर ले जाती है। इनसे संबंधित तथ्य तो अभी भी पूरी तरह एकत्रित नहीं हो पाये हैं, इनके वैज्ञानिक शोध और अध्ययन की तो बात दूर रही, इनका गंभीर वैज्ञानिक प्रेक्षण भी नहीं हुआ है। लेकिन गतिक संप्रेषण (इससे अभिप्राय पशुओं की सभी अभिव्यंजनात्मक गतियों से है, पशुओं के विषय में यह शब्द "इंगित संप्रेषण" से अधिक उपयुक्त है, वास्तविकता के अधिक समीप है) के कुछ विलक्षण मामलों का काफ़ी गहराई से अध्ययन हुआ है और इससे संप्रेषणमूलक गतिक सक्रियता के स्वरूप तथा इस सक्रियता द्वारा संप्रेषित सूचनाओं के अर्थ का बोध हम पाते हैं।

कार्ल फ़्रीश (१६५५, १६८०) का कार्य विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने सूचनाओं के संप्रेषण के समय मधुमक्खियों के व्यवहार के प्रेक्षण और प्रयोग किये हैं। १६२७ में प्रकाशित उनकी पहली पुस्तक 'मधुमक्खियों के जीवन से' के अब तक नौ संस्करण निकल चुके हैं और प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ है। १६५० में प्रकाशित दूसरी पुस्तक 'मधुमक्खियां: उनकी दृष्टि, घ्राण, स्वाद और भाषा' अधिक विशेषीकृत है, तो भी अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। फ़्रीश एक प्रयोगकर्ता इतने नहीं, जितने कि सूक्ष्म प्रेक्षक हैं। उन्होंने कीटों के अध्येताओं के लिए अब तक अज्ञात एक पूरे संसार की खोज की है जो मधुमक्खियों के जीवन के संप्रेषण क्षेत्र को प्रतिबिंबित करता है। उन्होंने मधुमक्खियों के उन "नृत्यों" का बड़ी बारीकी से और सविस्तार वर्णन किया है जिनकी मदद से वे छत्ते पर लौटकर दूसरी मधुमक्खियों को यह बताती हैं कि पराग पाने का स्थान कितनी दूर है और उसकी दिशा क्या है। पराग तक की दूरी और दिशा के अनुसार

10*

"नृत्य" का स्वरूप – उसकी गतियां और रफ़्तार – बदल जाता है। कार्ल फ़्रीश के प्रेक्षण इस दृष्टि से अद्वितीय महत्व रखते हैं कि उन्होंने पशुओं में गतिक संप्रेषण की एक पूरी पद्धति का वर्णन किया है। यह पद्धति मुद्राओं में बहुत समृद्ध है। इस खोज का महत्व इस बात से घटता नहीं है कि यह पद्धति तंत्रिका तंत्र के गठन की दृष्टि से अल्पविकसित जीवों में, जैसी कि मधुमक्खियां और दूसरे कीट हैं, पायी जाती है। कहीं अधिक विकसित दूसरे जीवों में मधुमक्खियों की गतिक संप्रेषण पद्धति जैसी परिष्कृत पद्धति नहीं देखने में आती, लेकिन सभी जीवों में निश्चित सूचना की वाहक कुछ अभिव्यंजनात्मक गतियां होती हैं। इनकी मदद से संप्रेषित सूचना कुल जमा उस सूचना से कम होती है, जो ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति से संप्रेषित की जाती है, हालांकि कुछ जीवों में संकेतों के प्रेषण में गतिक संप्रेषण प्रमुख, और कभी-कभी तो एकमात्र साधन होता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि ध्वन्यात्मक संप्रेषण की ही भांति गतिक संप्रेषण भी पशु जगत के सारे इतिहास से गुज़रता है और व्यवहारात्मक सक्रियता का एक महत्वपूर्ण घटक है।

गतिक संप्रेषण का ध्वन्यात्मक संप्रेषण के साथ, मानव वाक् और मानव भाषा के साथ क्या संबंध है? क्या उसकी भी ध्वनिक सूचना पद्धति जैसी कोई पद्धति है? ऐसे प्रश्नों का अंतिम उत्तर पाने के लिए पशु जगत के विकास के सभी स्तरों पर संप्रेषण के गतिक साधनों का इतना ही पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, वह ज्ञान जो आज उपलब्ध नहीं है। लेकिन सिद्धांत की दृष्टि से अंतोक्त प्रश्न का नकारात्मक उत्तर बहुत संभव प्रतीत होता है। वाक़ई, गतिक संप्रेषण की कोई पद्धति कैसे हो सकती है जबकि यह अनियतरूप और अस्पष्ट है, इसका हर संकेत एक आम सूचना देता है, इसमें किसी तरह के विचलन, रूपभेद नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा होने पर गतिक संकेत के अनुरूप बोध में बाधा आती है, रूपांतरित संकेत समझा नहीं जा सकता? हमारे विचार में, ऐ० बेन्वेनिस्ट (१९७४) द्वारा किया गया फ़्रीश के प्रेक्षणों का विश्लेषण इस विषय पर विचार के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। भाषाविज्ञान का अपना सामान्य सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए उन्होंने पशुओं में संप्रेषण तथा सच्ची मानव भाषा के बीच विभाजन-रेखा खींचने के उद्देश्य

से यह विश्लेषण किया। गतिक संप्रेषण चाक्षुष बोध की परिस्थितियों में ही संभव होता है, सच्ची भाषा कंठ के बिना नहीं होती, गतिक संकेत में अमानकीय उत्तर की कोई गुंजायश नहीं होती, दूसरे शब्दों में, ऐसे संकेतों से संवाद नहीं हो सकता, गतिक संकेत में निहित सूचना अत्यंत सीमित होती है जबकि मानव भाषा की इस मामले में संभावनाएं असीम हैं, गतिक संकेत अनियतरूप होता है, वह कोई बात सामान्यतः बताता है और उसे विखंडित नहीं किया जा सकता – ये विशिष्ट लक्षण गिनाते हुए बेन्वेनिस्ट ने उस सूचना सरणी की संकीर्णता दिखायी है, जो गतिक संप्रेषण में मूर्तित होती है। इसीलिए उन्होंने इसे "संकेत (सिगनल) कोड" कहा है और इस प्रकार मानव भाषा से इसके बुनियादी गुणात्मक अंतर पर ज़ोर दिया है। सो, अस्पष्टता और अनियतरूपता, निरोपाधि प्रतिवर्तमूलक स्वचालन, अल्प सूचनामयता – इन सबको देखते हुए यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता कि गतिक संप्रेषण, कम से कम अंशतः ही, ध्वनिक सूचना पद्धति में शामिल होता है। इसके विपरीत, इन लक्षणों के आधार पर इस संप्रेषण को एक सहवर्ती परिघटना माना जा सकता है जो उद्विकास द्वारा विशेष ध्येयों के लिए तथा मुख्यतः प्राणिजगत के किन्हीं विशेष समूहों में निर्मित तथा संरक्षित होती है।

वानरों और कपियों का प्राकृतिक परिस्थितियों में प्रेक्षण करते हुए उनमें धमकी के इंगितों और अधीनता स्वीकरण की मुद्रा, इत्यादि के अलावा कोई ऐसा गतिक संप्रेषण या संकेतन नहीं पाया गया है जो न्यूनाधिक व्यापक हो और स्वतंत्र महत्व रखता हो। रेसस वानरों और चिम्पांज़ी कपियों को हथेलियों और उंगलियों की विशेष स्थितियों को किसी विशेष आहार की मांग के संकेत के तौर पर इस्तेमाल करना सिखाने के पहले प्रयासों को कई आधुनिक प्रयोगों में जारी रखा गया है। इनमें अमरीकी अनुसंधानकर्ताओं ए० और बी० गार्डनर तथा सोवियत विशेषज्ञों द० और अ० पेर्माकोव के प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय हैं और सफल भी रहे हैं। वानर और कपि प्रयोगकर्ता द्वारा प्रस्तावित गतिक संकेतों की भाषा का उपयोग करना आसानी से सीख जाते हैं, हालांकि उन्हें सिखाने में काफ़ी समय लगता है। वानरों और कपियों की शक्य (गुप्त)

क्षमताओं के विकास का मूल्यांकन करने के लिए अपने आप में रोचक और महत्वपूर्ण ये प्रयोग सही-सही कहा जाये, तो हमारे विषय से बहुत दूर हैं, क्योंकि ये प्रयोग प्रकृति से बहुत भिन्न कृत्रिम परिस्थितियों में हमें ये क्षमताएं दिखाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राकृतिक परिस्थितियों में वानरों-कपियों में गतिक संकेतन बहुत क्षीण है और अन्य अनेक जातियों में पाये जानेवाले ऐसे संकेतन की ही भांति यह भी ध्वनिक सूचना पद्धति की सहवर्ती परिघटना है।

डार्विन ने भी अपनी पुस्तक 'मानव और पशुओं में भावनाओं की अभिव्यक्ति' में मनुष्य सहित अनेक पशुओं में भावनात्मक अवस्थाओं की गतिक अभिव्यक्ति में समानता के, जो कभी-कभी तो आश्चर्यजनक होती है, आश्वस्तकारी प्रमाण प्रस्तुत किये थे। मनुष्य और चिम्पांज़ी के बीच यह समानता विशेषत: विस्मयजनक है। न० लदीगिना-कोट्स (१९३५) ने एक विशेष एल्बम में मानव शिशु और चिम्पांज़ी शावक के हंसने, रोने, विचारमग्न होने, आदि की अवस्थाओं में लिये गये अनेक छायाचित्रों की मदद से यह दिखाया था। इसके अलावा मानव समुदायों में, सामाजिक विकास के निम्न स्तर पर स्थित समुदायों में भी, हर प्रकार का इंगित और भंगिमा संप्रेषण, जो कभी-कभी बहुत विस्तार में और सूक्ष्मत: निरूपित होता है, सुस्पष्ट व्यक्तिगत-सामूहिक स्वरूप रखता है। यह स्वरूप दत्त समुदाय की परंपराओं तथा, प्रत्यक्षत:, अन्य अनेक कारकों से, जो अभी स्पष्ट नहीं हैं, बनता है। विभिन्न समाजों में इंगित और मुद्रा संप्रेषण की प्रखर भिन्नता के बहुसंख्य उदाहरण मिलते हैं। ऐसे संप्रेषण के रूपों की सारी विविधता को प्राचीनतम और प्राचीन होमिनिडों (आर्कैंथ्रोपसों और पैलियोऐंथ्रोपसों) के इतिहास के निश्चित चरणों में उनके लिए लाक्षणिक किन्हीं आदि प्ररूपों से जोड़ने के प्रयास व्यर्थ हैं। इन रूपों का संकीर्ण प्रकार्यात्मक प्रयोजन होता है, प्रत्येक समाज में यह प्रयोजन अलग होता है। यह कल्पना करना कठिन है कि ये सभी रूप किसी एक मूल से उत्पन्न और विकसित हुए हैं। इसके विपरीत, इन्हें संप्रेषण की ऐसी विशिष्ट पद्धतियां मानना आसान है जो विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न हुई, जिन्हें समाज ने विशेष अवसरों के लिए बनाया,

ऐसी संप्रेषण पद्धतियां जो प्रमुख संप्रेषण पद्धति – भाषा – की तुलना में गौण हैं, द्वितीयक हैं।

इस प्रकार, यह मानना होगा कि आधुनिक मानव के समाजों में गतिक संप्रेषण के विभिन्न रूपों–इंगित, मुद्रा और भंगिमा संप्रेषणों –की उत्पत्ति कोई एक समस्या नहीं है, बल्कि वह संप्रेषण के इस या उस रूप के उद्भव की अलग-अलग समस्याओं में विभाजित होती है और ये सभी समस्याएं तत्संबंधी समाजों के इतिहास से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। जहां तक मानव के पूर्वजों के जीवन में गतिक संकेतों का सवाल है दूसरे पशुओं की भांति वे भी ऐसे संकेतों का उपयोग कर सकते थे। यह भी संभव है कि हाथों के मुक्त हो जाने से कुछ खास मामलों में ये संकेत अधिक विकसित हुए हों। उदाहरणतः, यह कल्पना की जा सकती है कि शिकार के समय जानवर का चुपके-चुपके पीछा करने और उसे पकड़ने के लिए सबकी समझ में आनेवाले ऐसे गतिक संकेतों की आवश्यकता होती थी, जिनकी मदद से उचित सतर्कता बरतना और खामोशी बनाये रखना संभव होता था। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मानवाभ वानरों की ही भांति आस्ट्रेलोपिथेकस भी केवल दिनचर जीव हो सकते थे, इसलिए वे केवल दिन में ही, गतिक संकेतन के लिए अनुकूल समय में, शिकार करते थे। इ० रेव्ज़िन (१९७२) के अनुसार, ऐसी स्थितियों में संप्रेषण "यहां-वहां" जैसे भाव व्यक्त करने तक सीमित होता था और इन्हें इंगितों द्वारा अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता था। बहरहाल, ऐसी विशेष स्थितियां सारतः कुछ नहीं बदलती थीं, पशुओं की ही भांति मनुष्य के लिए भी गतिक संकेत उदीयमान ध्वनिक वाक् और गठित हो रही भाषा के संबंध में सहवर्ती ही थे।

व्यक्तिवृत्त और भाषा की उत्पत्ति की समस्याएं

हमारा दैनिक अनुभव यह दिखाता है कि भाषा आनुवंशिकतः पूर्वनिर्धारित कृत्यों का योगफल नहीं है। आज तक कहीं भी और

कभी भी ऐसे शिशु का जन्म नहीं हुआ है जिसका जन्म के पहले दिन से ही पूरी भाषा पर अधिकार तो क्या होना, जिसमें वाक्-प्रकार्य के अंकुर तक ही देखने में आये हों। आज हमें इस बात का समुचित ज्ञान है कि वाक्-प्रकार्य तथा सूचना के संप्रेषण की भाषायी संभावनाओं पर अधिकार पाने के दौरान व्यक्ति किन चरणों से गुज़रता है।

प्राय: एक वर्ष की आयु से सब कुछ आरंभ होता है जब शिशु पहले शब्द बोलने लगता है। इसके बाद के दो वर्षों में बच्चा इन शब्दों को वाक्यों में जोड़ना और भाषा के नियम सीखता है – वाक्य रचना के नियम वह उस रूप में सीखता है जिस रूप में उसका सामाजिक परिवेश उसे इन्हें प्रदान करता है। इस अवधि में बच्चा भाषा के पहले से बने मानकों को ग्रहण करता है, उन्हें याद करता है, उन पर पूरी तरह विश्वास करता है और उन्हें इस्तेमाल करता है। तीन से पांच वर्ष की आयु में स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है (सुविख्यात सोवियत लेखक कोर्नेई चुकोव्स्की ने इस आयु के बच्चों को मेधावी भाषा-मर्मज्ञ कहा है): भाषा की आरंभिक जानकारी और तैयार नियमों पर अधिकार पाकर बच्चा प्रयोग करने लगता है, भाषायी रचनाओं, विशेषत: शब्दों को बदलता है, बुरी तरह तोड़ता-मरोड़ता है, नये-नये शब्द और मुहावरे घड़ता है और ऐसा वह सदा किन्हीं नियमों के आधार पर करता है, भाषा में शब्द-निर्माण के अप्रचलित और निषिद्ध पथों का उपयोग करता है। कभी-कभी तो वह ऐसे शब्द और मुहावरे भी बनाता है जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता, लेकिन जो भाषा की गहन संरचनाओं से जुड़े होते हैं। बच्चा भाषा के नये पथों का साहसी प्रवर्तक और भाषा का स्वतंत्र संशोधक होता है, जो उसकी गहराइयों में, अंधेरे कोनों में झांकता है और अप्रत्याशित ध्वनि एवं अर्थ-साम्यता खोजकर हमें चकित करता है। उसकी ये खोजें भाषा के सामान्य व्यवहार के आदी हम लोगों के लिए अपनी सारी अप्रत्याशितता के बावजूद अत्यंत तर्कपूर्ण और उचित होती हैं, भाषा के अमूर्तित मानकों के पूर्णत: अनुरूप होती हैं। इस विषय पर कोर्नेई चुकोव्स्की की पुस्तक (१६२८) बच्चों द्वारा शब्दनिर्माण के उदाहरणों का अद्भुत संग्रह है। बच्चों का यह शब्दनिर्माण कार्य कभी-कभी छह-सात

वर्ष की आयु तक जारी रहता है। इसके बाद भाषायी मानकों पर अधिकार पाकर और इन मानकों के विचलनों के साथ प्रयोग कर चुकने पर, भाषा की अभिव्यंजनात्मकता पर अधिकार पाकर बच्चा बड़ों की ही तरह बोलने लगता है, और इससे आगे का भाषायी विकास केवल संख्यात्मक वृद्धि के रूप में होता है (धारणाओं-संकल्पनाओं के क्षेत्र का विस्तार होता है, उससे जुड़ी शब्दावली को आत्मसात किया जाता है, इत्यादि), यह परिमाणात्मक संवृद्धि जीवनपर्यंत जारी रहती है।

ये सभी बातें उस स्वतःस्पष्ट विचार को उजागर करती हैं जिससे हमने यह अनुच्छेद आरंभ किया: मनुष्य भाषा सीखता है, भाषा कोई जन्मजात योग्यता नहीं है, व्यक्तिगत वाक् भी समाज के बिना, शिक्षण के बिना संभव नहीं है। वाक् और भाषा पर अधिकार पाने के आधार में व्यक्ति की मनोशरीरक्रियात्मक विशेषताओं के विकास की तथा समाज के साथ व्यक्ति की अन्योन्यक्रिया की लंबी प्रक्रिया निहित होती है। आधुनिक मानव को दूसरे जीवों की तुलना में कहीं अधिक लंबे शैशव-काल की, जिसे प्राय: आगे के जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान आत्मसात करने का काल कहा जाता है और जो वास्तव में ऐसा है भी, प्रत्यक्षत:, आरंभ में इसलिए ही आवश्यकता थी कि अन्य बातों के अलावा इस काल में वाक्-शिक्षण (बोलना सीखने) और भाषा की संपदा पर अधिकार पाने का भी काम हो सके। यहां यह भी ध्यातव्य है कि वाक्-शिक्षण अचेतन रूप से होता है, वाक् के ध्वनिक और व्याकरणीय मानकों को मनुष्य तत्संबंधी भाषायी वातावरण में रहने की बदौलत आत्मसात कर लेता है। उधर, भाषा की संपदा पर अधिकार शैशव के उत्तर काल और तरुणावस्था में सचेतन रूप से पाया जाता है। ये सभी प्रस्थापनाएं वाक् और भाषा की उत्पत्ति की समस्या के सैद्धांतिक अनुशीलन पर ही आधारित नहीं हैं। स्वयं प्रकृति द्वारा किये गये प्रयोग इन प्रस्थापनाओं की पुष्टि करते हैं। ये प्रयोग हैं ऐसे खो गये बच्चे जिन्हें जानवरों ने पाला। इन प्रयोगों के परिणाम यह दिखाते हैं कि वाक्-प्रक्रिया के गठन में समाज की भूमिका कितनी विशाल है, और यह भी कि वाक्-प्रक्रिया बचपन के पहले वर्षों में मस्तिष्क की किन्हीं संरचनाओं के गठन और विकास के साथ-

साथ गठित होती है। यह काल बीत जाने पर ये संरचनाएं एक प्रकार से जड़ीभूत हो जाती हैं, सक्रिय कार्य नहीं कर सकतीं और तब वाक्-प्रक्रिया का गठन भी नहीं हो सकता।

वन्य जंतुओं द्वारा मानव शिशुओं को पाले जाने के मामलों के कुछ इने-गिने वैज्ञानिक विवरण ही मिलते हैं। ज़्यादातर मामले भेड़ियों द्वारा पाले गये बच्चों के हैं। उनमें चतुष्पाद गमन की योग्यता बहुत हद तक बनी रहती है, जब कभी उन्हें तेज चलना होता है तो वे इसका सहारा लेते हैं; भेड़ियों की आवाज़ों जैसी आवाजें वे निकालते हैं तथा उनकी श्रवण और घ्राण शक्ति असाधारणतः तीव्र होती है, इतनी तीव्र जितनी मनुष्यों की कभी नहीं होती। कुछ ऐसे बच्चों के मामलों के विवरण भी उपलब्ध हैं, जो पूर्ण एकांत में, दूसरे लोगों के साथ वाक्-संपर्क के बिना पले। दो पैरों पर चल तो ये सकते हैं, किंतु दूसरों की वाणी ग्रहण करने में उन्हें जीवनपर्यंत कठिनाई होती है, उनका अपना वाक् अस्पष्ट और अत्यंत अपरिष्कृत होता है: समाज में लौटाये जाकर लोगों के बीच रहते हुए भी वे ठीक से बोलना नहीं सीख पाते। हमारे विषय के लिए यहां एक बात विशेषतः महत्वपूर्ण है: बचपन में एक ऐसी सीमा बन जाती है जिसे बाद में लांघना असंभव होता है, सच्ची मानव वाणी पर अधिकार पाने में वह बाधक होती है तथा मनुष्य की सभी संवेदी प्रतिक्रियाओं पर अधिकार पाने में भी। व्यक्तिवृत्त अर्थात व्यक्ति के विकास में वाक् के सामान्य गठन के लिए समाज आवश्यक है, समाज के बिना भाषा के अवबोध और वाणी पर अधिकार के लिए निर्धारित व्यक्तिवृत्त के काल सदा के लिए खो जाते हैं, कालांतर के किन्हीं भी संपर्कों से उनकी पूर्ण क्षतिपूर्ति नहीं हो पाती। अतः, समाज के बिना न वाक् है, न भाषा, समाज ही सच्चे सामाजिक जीव का, जैसा कि एक सामान्य व्यक्ति होता है, निर्माण करता है।

इस अनुच्छेद के अंत में हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि व्यक्तिवृत्त के काल आकृतिक विकास में ही नहीं, बल्कि मनोशरीरक्रियात्मक प्रतिक्रियाओं में भी प्रकट होते हैं। इन प्रतिक्रियाओं का ही एक रूप वाक्-प्रकार्य है। वाक्-योग्यता पर मनोशरीरक्रियात्मक अधिकार पाने में भी बचपन के तीन से आठ वर्ष तक लगते

हैं और इन वर्षों में व्यक्ति यदि समाज से अलग होता है तो उसके लिए सभी मानवीय लक्षणों से युक्त मनुष्य बनने की संभावना के द्वार पूरी तरह बंद रहते हैं। जन्म से अंधे-गूंगे-बहरे लोगों द्वारा बोलना सीख लेने तथा उनकी पर्याप्त सफल लक्ष्यबद्ध शिक्षा के कुछ मामलों से इस बात का खंडन नहीं होता, क्योंकि ऐसे मामले बाह्य जगत अर्थात समाज के सक्रिय प्रभाव से ही संभव होते हैं। व्यक्तिगत वाक्-प्रकार्य के नाते वाक् तथा सभी लोगों के संप्रेषण के साधन के नाते भाषा का गठन समग्र समाज की तथा उसके सभी सदस्यों की सक्रिय अन्योन्यक्रियाओं की अविभाज्य एकता में, किसी भी स्वतंत्र समुदाय की तथा उसके सभी सदस्यों की ठोस अन्योन्यक्रियाओं में होता है।

वाक् और भाषा के विकास के प्रमुख चरण

अभी तक हमने जो कुछ कहा है उससे मोटे तौर पर यह पता चलता है कि वाक्-प्रकार्य की उत्पत्ति का विश्लेषण करते समय उठनेवाली समस्याएं कितनी विविध हैं और उनका दायरा कितना व्यापक है। ऊपर हमने पाया है कि पशुओं के संप्रेषण में एक ध्वनिक सूचना पद्धति देखी जा सकती है, जो कि भाषा का दूरवर्ती, गुणात्मकतः भिन्न, अपरिष्कृत समरूप है और साथ ही संकेतविज्ञान की दृष्टि से सुविकसित चिह्न पद्धति का, जैसी कि भाषा है, आद्य प्ररूप है। व्यष्टिक संप्रेषणात्मक ध्वनीकरण वाक् का ऐसा ही दूरवर्ती समरूप है, आद्य प्ररूप है। वाक् और भाषा मनुष्य के व्यवहार की आनुवंशिकतः पूर्वनिर्धारित विशेषताएं नहीं हैं, वे समाज द्वारा व्यक्ति के प्रशिक्षण का फल हैं, आरंभिक व्यक्तिवृत्तात्मक विकास के दौरान व्यक्ति द्वारा भाषा एवं वाक् के पहले से अस्तित्वमान सामाजिक मानकों को शुरू में अचेतन और फिर सचेतन रूप से आत्मसात किये जाने का परिणाम हैं। व्यक्तिवृत्त के आरंभिक चरणों का लंबा हो जाना आकृतिक-शरीरक्रियात्मक स्वरूप की स्वाभाविक प्रक्रिया ही नहीं है, बल्कि एक ऐसा कारक भी है जो

एक पीढ़ी से दूसरी को भाषा एवं वाक् के संप्रेषण के ज़रिये समाज में इनका जीवन सुनिश्चित करता है। प्रत्येक पीढ़ी भाषा और वाक् में ऐसे नामालूम परिवर्तन लाती है जिनका उसे स्वयं भी आभास नहीं होता। ये परिवर्तन संचित होकर भाषायी घटनाओं के उद्‌विकास में व्यक्त होते हैं, ऐसे उद्‌विकास में जिसे भाषाविद दूसरी भाषाओं के प्रभाव में होनेवाले बाह्य परिवर्तनों से भिन्न आंतरिक भाषायी परिवर्तन कहते हैं। अंततः, तुलनात्मक आकृतिविज्ञान से प्राप्त जानकारी के आधार पर वाग्यंत्रों में आये परिवर्तनों के कालक्रम का अनुमान लगाया जा सकता है।

सो, हम देखते हैं कि समस्याएं नाना और जटिल हैं, न केवल अलग-अलग दृष्टिकोणों से, बल्कि विभिन्न विषयों की सामग्री के आधार पर इनका अनुशीलन हो रहा है। स्वयं भाषा-विश्लेषण इन समस्याओं के बारे में क्या कहता है? वह कौन-से ऐसे आम नियम प्रस्तुत कर सकता है, जिनकी मदद से आधुनिक वाक् और आधुनिक भाषा हमें अपनी मूल अवस्था से अवगत करायें? अकादमीशियन मार्र ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि वर्तमान भाषाओं की सभी ध्वनियां चार मूल तत्वों से बनी हैं। चार संवृत अक्षरों को उन्होंने ये तत्व माना, यही पहले सार्थक शब्द थे और आरंभ में आदिम मानवजाति की सभी भाषाओं में इन्होंने स्थान पाया और उनके माध्यम से वर्तमान भाषाओं में भी विद्यमान हैं। सुमेरी और चुवाश भाषाओं, काकेशियाई जनगण और अमरीका के रेड-इंडियनों की भाषाओं में विभिन्न संयोजनों में ये मूल तत्व देखने के प्रयास अकादमीशियन मार्र ने किये। यद्यपि इसके लिए उन्होंने कहीं-कहीं कल्पनातीत तुलनाओं और व्युत्पत्तियों का भी सहारा लिया तथापि उनके सामान्यीकरणों की व्यापकता ने समकालीनों की नज़रों में उनके दृष्टिकोण को लोकप्रिय बनाया। बाद के शोधकर्ताओं ने उचित ही इन दृष्टिकोणों को अस्वीकार किया।

भाषावैज्ञानिक पुनर्कल्पन के साथ-साथ शरीरक्रियाविज्ञानियों, सर्वप्रथम इ० पाव्लोव के अनुयायियों, द्वारा इस विषय पर किया गया कार्य भी उल्लेखनीय है। ल० ओर्बेली (१९४९) ने अपने शिक्षक की द्वितीय संकेत पद्धति, अर्थात पाव्लोव के शब्दों में "संकेतों के संकेत" – शब्द – के प्रतिवर्तों, की संकल्पना को आगे विकसित

किया। उन्होंने यह सुझाव रखा कि दो प्रमुख चरणों – पशुओं के लिए लाक्षणिक प्रथम संकेत पद्धति तथा मनुष्य के लिए लाक्षणिक द्वितीय संकेत पद्धति – के अलावा एक तीसरा, अंतर्वर्ती चरण भी माना जाये। उनके विचार में, इस चरण में द्वितीय संकेत पद्धति में आनेवाली शरीरक्रियात्मक अभिक्रियाओं के संरचनात्मक घटक बनते हैं और यह व्यापक अर्थ में मानवोत्पत्ति के चरण से संबंधित है। ल० फ़ीर्सोव ने अपने सहयोगियों के साथ (फ़ीर्सोव, ज़्नामेन्स्क-या, मोर्द्वीनोव, १९७४) प्राथमिक और द्वितीयक भाषाओं की प्राक्कल्पना प्रस्तुत की। इन दो भाषायी चरणों के अनुरूप संकल्पना-तंत्र के विकास का आरेख उन्होंने सुझाया : प्राथमिक भाषा का संबंध तंत्रिका-तंत्र की उच्चतर संकल्पनापूर्व सक्रियता से है (यहां चिंतन से संबंध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, जैसा कि सर्वमान्य है, चिंतन संकल्पनाओं, अर्थात विचारों में बाह्य जगत के बिंबों के बनने के साथ आरंभ होता है), द्वितीयक भाषा का विकास दो अवस्थाओं से संबंधित है – प्राग्वाचिक संकल्पनाओं की अवस्था 'क' से तथा वाचिक संकल्पनाओं की अवस्था 'ख' से।

फ़ीर्सोव और उनके सहयोगियों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण भांति-भांति के प्रयोगों से प्राप्त आंकड़ों और सूचनाओं के इतने ऊंचे सामान्यीकरण का परिणाम है जब यह सामान्यीकरण उसके आधार में निहित तथ्यों से अलग होकर स्वतंत्र सैद्धांतिक निर्मिति बन जाता है, और इस निर्मिति पर सैद्धांतिक दृष्टिकोण से ही विचार भी किया जाना चाहिए। प्रत्यक्षतः, संकल्पनापूर्व चरण का वाक् की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं, सो यह हमारे विषय के लिए रोचक नहीं है। रही बात संकल्पनात्मक चरण और उसमें प्राग्वाचिक और वाचिक संकल्पनाओं की अवस्थाओं की, तो तुरंत ही यह सवाल उठता है कि क्या प्राग्वाचिक संकल्पनाएं हो सकती हैं, यदि हां, तो उनकी कल्पना किस रूप में की जानी चाहिए ? आख़िर, संकल्पना बाह्य जगत का मात्र बिंब नहीं, बल्कि ऐसा बिंब है जिसका दूसरा व्यक्ति समुचित बोध पा सकता है, इसके बिना तो संकल्पना की कोई बात ही नहीं हो सकती, वह तो "वस्तु निजरूप" ही होगी। "आंतरिक वाक्" (ल० विगोत्स्की, १९३४) भी, लगता है, बाह्य वाक् के बिना, कथन के बिना नहीं हो सकता।

इस प्रकार, मनुष्य द्वारा अपने विशेष संप्रेषण साधनों पर अधिकार पाने की प्रक्रिया का कालक्रम संकल्पनाओं की उत्पत्ति के आधार पर निर्धारित करने के प्रयास विवादास्पद हैं और उनसे वाक् के गठन के आरंभिक चरणों में ध्वनिक विशेषताओं तथा भाषायी संरचनाओं के बारे में कोई ठोस जानकारी प्राप्त नहीं होती।

सोवियत मानवविज्ञानी व० बुनाक (१९५१, १९६६) और भाषाविद अ० लेओन्त्येव (१९६३) ने न केवल अपने-अपने विषय की, बल्कि विचाराधीन प्रश्न से जुड़े दूसरे विषयों की सामग्री का भी उपयोग करते हुए वाक् और भाषा के ध्वनिक, संरचनात्मक और शब्दार्थ विषयक पहलुओं के विकास का सामान्य रूप में पुनर्कल्पन करने का प्रयास किया है। बुनाक ने आरंभ में छह चरण माने – प्राग्वाक् चरण, आद्यवाक् चरण, आह्वान-चीखों का चरण, अलग-अलग बहु-अर्थक शब्द-वाक्यों का चरण, अधिक बहुसंख्यक और विभेदीकृत शब्द-वाक्यों का चरण तथा सुसंबद्ध कथनों का चरण। इन सबको उन्होंने समान महत्व के चरण माना और होमिनिडों के आकृतिक उद्विकास तथा औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के विकास के चरणों के साथ इनका संबंध जोड़ा, अर्थात इन्हें कालक्रमिक अर्थ प्रदान किया। दूसरी ओर, उन्होंने चिंतन के विकास के छह कालक्रमिक चरण इंगित करके उनसे भी इनका संबंध जोड़ा। चिंतन के निम्न चरण उन्होंने माने – धारणाओं का संकीर्ण समुच्चय, धारणाओं का अधिक व्यापक समुच्चय, आरंभिक संकल्पनाएं, सक्रियता के प्रमुख रूपों संबंधी संकल्पनाएं, अधिक बहुसंख्यक और विभेदीकृत संकल्पनाएं, परस्परसंबंधित संकल्पनाएं। बाद की अपनी कृति में बुनाक ने चरणों की संख्या सात तक बढ़ा दी और इनके निम्न नाम रखे: स्वर संकेत, अस्फुट, अनिश्चित उच्चारणवाले "लालिया" [यह शब्द बुनाक ने लैटिन के lallare (लोरी गाना) के आधार पर बनाया है और इससे उनका अभिप्राय "बुदबुदाना" है], प्रस्फुट, विभेदीकृत उच्चारणवाले "लालिया", इक्के-दुक्के शब्द, विभेदीकृत शब्द, ध्वन्यात्मक विविधतावाले शब्द, वाक्-संबंधिम (सिंटाग्मा)। इसके अनुरूप ही चिंतन की भी सात अवस्थाएं उन्होंने इंगित की हैं – संकीर्ण ठोस धारणाएं, व्यापक ठोस धारणाएं, एक क्रिया-चक्र की सीमाओं में

आनेवाली सामान्य धारणाएं और संबंध, कतिपय क्रिया-चक्रों की सीमाओं में आनेवाली सामान्य धारणाएं और संबंध, भ्रूण संकल्पनाएं, विसृत संकल्पनाएं, विस्तार में निरूपित संकल्पनाएं अर्थात संकल्पना-प्रणालियां।

यह देख पाना कठिन नहीं कि प्रस्तुत वर्गीकरण अत्यधिक ब्योरेवार है और यही इसकी कमी है। शोधकर्ता ने तुलनात्मक आकृतिविज्ञान के जिन आंकड़ों का उपयोग किया है, उनसे, या पुरापाषाण काल की पुरातात्विक सामग्री से, या फिर पुरापाषाणकालीन लोगों की संस्कृति की विशेषताओं से ही उच्चारण और भाषा की व्याकरणिक संरचना के (इन शुद्धतः भाषावैज्ञानिक परिघटनाओं के) चरणों का इतना ब्योरेवार कालानुक्रम निर्धारित करने का कोई आधार नहीं मिलता है। इसके अलावा पूरी प्राक्कल्पना ही काफ़ी अस्पष्ट है। भ्रूण और विकीर्ण संकल्पनाएं क्या हैं और उनके बीच क्या अंतर है? यही प्रश्न एक क्रिया-चक्र और कतिपय क्रिया-चक्रों की सीमाओं में आनेवाली धारणाओं एवं संबंधों के बारे में पूछा जा सकता है। ये प्रश्न चिंतन की अवस्थाओं के क्रम से संबंधित हैं, किंतु वाक्-चरणों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। जो कालक्रमिक चरण निर्धारित किये गये हैं उनकी अस्पष्ट व्याख्या के साथ अनावश्यक कालक्रमिक ब्योरे इस प्राक्कल्पना के मूल को ही संदेहास्पद बना देते हैं। मानवविज्ञानी ने इसमें भाषाविद होने का प्रयास किया है, लेकिन मानवविज्ञान उसे इसके लिए कोई आधार नहीं देता है।

अ० लेओन्त्येव के कालक्रमिक वर्गीकरण में वानरों-कपियों की निश्चित भावनात्मक अवस्था से जुड़ी और दूसरे वानरों-कपियों के लिए निश्चित अर्थ रखनेवाली भावात्मक ध्वनियों को मूलाधार माना गया है। आस्ट्रेलोपिथेसिनों और पिथिकैंथ्रोपसों के अगले चरण में कोई विशेष नवाचार प्रकट नहीं हुए, उच्चारित वाक् के कोई प्रखर रूप नहीं बने, वाक्-संप्रेषण चीखों द्वारा ही होता था जिनका मूल वानरों-कपियों की भाषात्मक ध्वनियों में निहित था। सच्चे अर्थों में वाक् अपने भ्रूण रूप में नियंडरथल अवस्था में ही आरंभ हुआ। विलक्षण भाषाविज्ञानी इ० बोदुएन-दे-कुर्तेने द्वारा निरूपित सिद्धांत (वाक् के विकास की प्रक्रिया में उच्चारण की संक्रियाएं

धीरे-धीरे स्वरयंत्र से मुख-विवर में आती जाती हैं) तथा मानवविद या० रोगीन्स्की की खोज (नियंडरथल मानव के निचले जबड़े पर जिह्वा मांसपेशियों के संधि-स्थलों के उभार) के आधार पर लेओन्त्येव ने यह निष्कर्ष निकाला कि नियंडरथल मानव वागवयवों से काफ़ी अधिक काम लेने लगा था और इस चरण में ही उच्चारित वाक् की उत्पत्ति हुई। इस वर्गीकरण का अंतिम चरण है आधुनिक मानव का वाक्, जो अपने मूलभूत रूपों में आधुनिक प्ररूप के मानव के साथ ही उत्पन्न हुआ।

इस वर्गीकरण के मामले में निम्न प्रश्न उठता है : यदि, जैसा कि लेओन्त्येव कहते हैं, आस्ट्रेलोपिथेकस या दूसरे किसी वानर के "वाक्" और पिथिकैंथ्रोपस के "वाक्" के बीच कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं था, तो ऊपर हमने आस्ट्रेलोपिथेसिनों से पिथिकैंथ्रोपसों में संक्रमण के काल में ही मस्तिष्क के आयतन में जो भारी वृद्धि देखी है उसकी क्या व्याख्या की जा सकती है ? यदि सूचना और उसके लिए आवश्यक स्मरण-शक्ति का परिमाण वास्तव में ही तेज़ी से बढ़ा था तो ऐसा नहीं हो सकता था कि इसका प्रभाव केवल आकृतिक विशेषता पर ही पड़ता, केवल मस्तिष्क के आयतन में ही वृद्धि होती। इसका प्रभाव सूचना के परिचलन में सहायक वाक्-प्रकार्य पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता था। इस प्रश्न का कोई उत्तर हमें लेओन्त्येव के वर्गीकरण में नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि होमिनिड कुल के इतिहास के संदर्भ में वाक् और भाषा के उद्‌विकास का निर्विवाद पुनर्कल्पन फ़िलहाल नहीं हो सकता, इसके लिए और अधिक अनुसंधानों तथा विचार-विनिमय की आवश्यकता है। निस्संदेह, सबसे अधिक महत्वपूर्ण और, शायद, सबसे अधिक कठिन कार्य भी ध्वनीकरण की उस आरंभिक अवस्था का पता लगाना है, जिसने मानव वाक् का सूत्रपात किया और जिससे वाक् की उत्पत्ति की समस्या का समाधान पूर्वनिर्धारित होता है। हमें याद है कि आस्ट्रेलोपिथेसिन उदग्रचारी जीव थे, जिनकी बांहें टेक के काम से मुक्त हो गयी थीं ; वे औज़ारों का नियमित उपयोग करने लगे थे और निश्चित सीमाओं में उनका निर्माण भी ; कंद-मूल-फल बटोरने के साथ-साथ नियमित रूप से शिकार करने लगे थे और परिणामतः स्थायी

मांसाहार भी। शरीर में प्रोटीन पहुंचने से तंत्रिका-तंत्र के कार्य में सक्रियता अवश्य आयी होगी, उधर, फुर्तीले जानवरों के शिकार के लिए यह आवश्यक था कि व्यष्टियों के बीच परस्पर समझ विकसित होती, जबकि गमन विधि बदल जाने से गतिक प्रतिवर्तों की सारी प्रणाली में भारी परिवर्तन आये होंगे। इस प्रकार, आस्ट्रेलोपिथेसिन बहुत-से मामलों में मानवाभ वानरों से आमूल भिन्न थे, मानव की ओर विकास की दिशा में उन्होंने काफ़ी बड़ा क़दम बढ़ा लिया था, किंतु उनके मस्तिष्क के आयतन में वृद्धि बहुत कम हुई।

इसका कारण, प्रत्यक्षतः, यह है कि अभी-अभी हमने जिन परिवर्तनों का उल्लेख किया है वे आकृति एवं शरीरक्रिया में अर्थात उस क्षेत्र में आये जिसका करोड़ों वर्ष से क्रमिक विकास होता आया था और जिसके लिए वाक्-प्रकार्य की आवश्यकता नहीं थी: यह बात गमन विधि में परिवर्तन और मुक्त हो गये हाथों के कार्यों पर भी लागू होती है। जहां तक आस्ट्रेलोपिथेसिनों के आखेट-कार्य में प्रवृत्त होने तथा इसके लिए सामूहिक क्रियाओं में समन्वय की बात है, ऐसी क्रियाओं के उदाहरण हम अनेक दूसरे यूथचारी हिंसक पशुओं में भी पाते हैं, सो, अपने आप में ये क्रियाएं तंत्रिका-तंत्र की सक्रियता के उच्चतर स्तर में संक्रमण नहीं लाती हैं। आखेट-कार्य में औज़ारों के उपयोग से तत्संबंधी सभी कामों – पशुओं को मारना, मारे गये पशुओं को कमाना (खाल उतारना, आदि), बिलों में से छोटे जानवरों को निकालना – तथा कंद-मूल खोदने और फल तोड़ने-बटोरने के कामों की भी "उत्पादकता" बहुत बढ़ी। लेकिन औज़ारों का यह उपयोग सामूहिक कार्यों के दौरान संबंधों का स्वरूप शायद ही आमूल बदल सकता था, क्योंकि इसकी कोई संभावना नहीं प्रतीत होती कि ये सभी कार्य करते समय आस्ट्रेलोपिथेसिनों को संकेतों के विनिमय की कोई बुनियादी तौर पर नयी प्रेरणा मिली हो, जो यूथचारी हिंसक जंतुओं द्वारा शिकार की स्थिति से भिन्न रही हो। इसी से यह समझ में आता है कि होमिनिडों के वानराभ पूर्वजों से आस्ट्रेलोपिथेसिनों में संक्रमण के दौरान मस्तिष्क का आयतन और उसकी आकृतिक संरचना अपेक्षाकृत स्थिर क्यों बने रहे। हां, मानवाभ वानरों की तुलना में आस्ट्रेलो-

पिथेसिनों का सूचना-भंडार बढ़े बिना नहीं रह सकता था, किंतु यह वृद्धि गुणात्मक नहीं थी, यह संप्रेषण साधनों के पुनर्गठन के रूप में व्यक्त नहीं हुई। हमारे विचार में, इसके लिए ध्वनि-संकेतों की संख्या का थोड़ा-सा बढ़ जाना ही पर्याप्त था।

जब हम यह कहते हैं कि मानवाभ वानरों, जैसे कि चिम्पांज़ी, की तुलना में आस्ट्रेलोपिथेसिन अपनी भावनात्मक अवस्था व्यक्त करने के लिए तथा सूचना संकेतों के तौर पर अधिक ध्वनियों का उपयोग करते थे तो इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि संकेतों का स्वरूप तो नहीं बदला था, हां, जहां चिम्पांज़ी २०-३० संकेतों से काम लेते हैं वहीं आस्ट्रेलोपिथेसिनों के कुछ दर्जन संकेत हो सकते थे। स्वाभाविक ही है कि इन संकेतों से बननेवाली ध्वनिक सूचना पद्धति चिम्पांज़ियों के झुंडों की ऐसी पद्धति से अधिक सशक्त थी। लेकिन दोनों ही मामलों में चर्चा गुणात्मकतः भिन्न संप्रेषण पद्धति की नहीं है – आस्ट्रेलोपिथेसिन की ध्वनियां हमारे अर्थ में वाक् नहीं थीं, वैसे ही जैसे कि उनकी ध्वनिक सूचना पद्धति भाषा नहीं बनी थी। ऊपर हमने बताया है कि चिम्पांज़ियों को इंगितों की भाषा सिखाने के प्रयोग, इन प्रयोगों की सफलता और इस इंगित भाषा की मदद से उनके साथ सूचना संबंध बनाये रखने की संभावना – यह सब इस बात का प्रमाण नहीं है कि ये पशु मानव वाक् पर अधिकार पा सकते हैं। ऐसी इंगित भाषा के उपयोग और सच्चे मानव वाक् के बीच यहां प्रायः वही भेद है जो एक प्रतीभावान नर्तकी की भावप्रवण, लावण्य एवं गरिमामय, अभिव्यं-जनात्मक, उसके व्यक्तित्व की अद्वितीय छाप लिये और मनोभावों के अनुसार बदलनेवाली नृत्य-मुद्राओं में तथा सधे हुए घोड़े की गतियों में है, जिनमें आश्चर्यजनक सुंदरता और लोच हो सकती है, किंतु जो कुशल शिक्षा का ही परिणाम हैं। 'करंट एंथ्रोपोलॉजी' पत्रिका में छपे ग० मूनिन के लेख (१९७६) में तब तक हुए ऐसे सभी प्रयोगों का विशद विश्लेषण करके साधार यह दिखाया गया कि इनके परिणाम चिम्पांज़ी में सच्चा वाक्-प्रकार्य होने की संभावना प्रमाणित नहीं करते। इस लेख को लेकर इसी पत्रिका में चले वाद-विवाद में अधिसंख्य विशेषज्ञों ने मूनिन के दृष्टिकोण का समर्थन किया। सो, चिम्पांज़ी और आस्ट्रेलोपिथेसिनों की संप्रेषणात्मक

ध्वनियों में यदि हम कोई गुणात्मक भेद नहीं देखते तो यह भी मानना होगा कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों में भी सच्चा वाक् विकसित नहीं हुआ था।

होमिनिड कुल के निर्धारण की आकृतिमूलक कसौटियों और श्रम सक्रियता अथवा औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की कसौटियों की तुलना करने पर हमने ऊपर यह पाया था कि दोनों ही कसौटियां होमिनिड कुल की उत्पत्ति का एक ही काल इंगित करती हैं, दूसरे शब्दों में, दोनों एक ही काल से संबंध रखती हैं। इसके आधार पर यह विचार निरूपित किया जा सका है कि श्रम सक्रियता का आरंभ भी पहले मानव के प्रकट होने के साथ-साथ ही हुआ। वाक् के बारे में यही बात नहीं कही जा सकती। मानव के प्रकट और श्रम सक्रियता आरंभ हो जाने के बाद ही वाक् की उत्पत्ति होती है। इसकी उत्पत्ति तब होती है जब मानव आकृति का निश्चित विकास हो चुका होता है और मानव निश्चित श्रम संक्रियाएं अपना चुका होता है। आस्ट्रेलोपिथेसिनों और मानवाभ वानरों की संप्रेषणात्मक ध्वनियों को हम एक समान नहीं मान रहे हैं, जैसा कि ऊपर भी हमने कहा है, आस्ट्रेलोपिथेसिनों की व्यष्टिक ध्वनियों और ध्वनिक सूचना पद्धति में कुछ परिमाणात्मक जटिलता ही आयी, गुणात्मक दृष्टि से वे पशु जगत की ही थीं। इस बात में मानवोत्पत्ति की जटिल द्वंद्वात्मकता प्रतिबिंबित होती है। मानव आकृति, मनोशरीरक्रिया, भाषा और संस्कृति – इन सभी का गठन मानवोत्पत्ति का ही अंश है, जबकि इन सभी पक्षों का विकास इनके अपने नियमों के अनुसार अलग-अलग गति से होता है, इसलिए पहले मानव और मानव समाज के प्रकट होने के क्षण से ही इनके विकास के चरण एक जैसे या पूर्णतः एक जैसे नहीं होते। आस्ट्रेलोपिथेकस होमिनिड था, लेकिन कहा जा सकता है कि वह मूक होमिनिड था ; इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी कोई ध्वनियां नहीं थीं, वह किसी भी तरह के ध्वनि संकेतों से काम नहीं लेता था, इसका अर्थ यह है कि इन संकेतों से मानव वाक् एवं भाषा जैसी पद्धति नहीं बनती थी।

सो, सच्चे मानव वाक् की उत्पत्ति हम उत्तरवर्ती काल में हुई मानते हैं। हम वाक् को विकास के निश्चित स्तर की उपलब्धि

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानते हैं, उस स्तर की जिसमें श्रम सक्रियता के निश्चित परिणामं संचित थे – श्रम कार्यों के दौरान आदिम समूहों के सदस्यों के बीच अन्योन्यक्रिया बढ़ चुकी थी, व्यक्तियों के परस्पर संबंधों का क्षेत्र जटिल हो गया था, अलग-अलग व्यक्तियों के मानसिक विकास का स्तर ऊंचा उठ रहा था और इसके लिए सूचना को व्यक्त करना आवश्यक हो गया था (एंगेल्स ने एक दूसरे को कुछ कहने की आवश्यकता प्रकट होने का जिक्र किया है)। ऊपर हम बता चुके हैं कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों से होमिनिनों में, एक अधिक प्राचीन उपकुल से दूसरे उत्तरवर्ती उपकुल में संक्रमण के दौरान मस्तिष्क के आयतन में भारी वृद्धि हुई तथा एक विशेष संरचना का गठन भी हुआ – मस्तिष्क के वाक् एवं श्रवण-प्रकार्यों के क्षेत्र में एक उभार बना, जो पहले नहीं था। हमारे विचार में, मस्तिष्क के आकार में परिवर्तन तथा उसकी संरचना के महत्वपूर्ण अंशों में परिवर्तन – दोनों ही यह इंगित करते हैं कि वाक् का गठन इसी चरण में हुआ। यहां यह भी कहा जा सकता है कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों और होमि-निनों को विभाजित करनेवाले होमिनिड लक्षणत्रयी के दूसरे तत्व – सच्चे मानव हाथ का गठन और उसमें अंगूठे एवं शेष उंगलियों की प्रत्यास्थापना – इस शुद्धतः आकृतिक लक्षण में संप्रेषण के शुद्ध मानव साधनों – वाक् और भाषा – को भी जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार, होमिनिड कुल नहीं, बल्कि होमिनिन उपकुल संप्रेषण के क्षेत्र में इस आधारभूत उपलब्धि का स्वामी बना।

वाक् और भाषा के आरंभिक रूप क्या हैं? यदि हम इस प्राक्कल्पना को अस्वीकार करते हैं कि पिथिकैंथ्रोपसों के लिए संप्रेषण का साधन भावात्मक चीखें ही थीं, जो आस्ट्रेलोपिथेसिनों की संप्रे-षणात्मक ध्वनियों से मूलतः भिन्न नहीं थीं, तो, प्रत्यक्षतः, हमें पिथिकैंथ्रोपसों के वाक् के रूपों का, मोटे तौर पर ही सही, पुन-र्कल्पन कर पाने के लिए भी भाषावैज्ञानिक बहिर्वेशनों से काम लेना चाहिए।

पिथिकैंथ्रोपसों की भाषा का कोई विवरण देने से पहले यह बता देना चाहिए कि स्वयं भाषा में, उसके प्ररूपों में हम ऐसा कुछ नहीं पाते हैं जिससे यह पता चलता हो कि उसके संरचनात्मक तत्वों का गठन इस या उस क्रम में हुआ था। बहुसंख्य आधुनिक

अनुसंधान यही दिखाते हैं कि भाषा सोपानक्रमिक गठनवाली एक अत्यंत जटिल पद्धति है, जिसके एककालिक अनुशीलन से कालक्रमिक अनुशीलन पर आने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं। हमारे विचार में, भाषा के ऐतिहासिक रूपों की क्रमिकता के पुनर्कल्पन के पथ की अनिश्चितता भाषा-इतर प्रेक्षणों की मदद से दूर की जा सकती है। हमारा अभिप्राय मस्तिष्क प्रांतस्था को स्थानिक विक्षति पहुंचने पर होनेवाली वाक्-विकृतियों से है। ऐसी विक्षतियां वाक् के किन्हीं प्राचीन क्रिया-तंत्रों को उघाड़ती हैं, "मनुष्य के मानस की आरंभिक अवस्था के अवशेषों" को प्रकट करती हैं। वाक्-प्रकार्य की पुरानी अवस्था के अवशेषों के नाते वाक्-विकृतियों की व्याख्या में भी बहुत कुछ विवादास्पद है। कहना न होगा कि इन विकृतियों में इस बात का कोई संकेत नहीं होता कि होमिनिडों के इतिहास के किस काल से इनका संबंध जोड़ा जाना चाहिए। लेकिन हमारे पास इसके अलावा और कोई उपाय भी नहीं है कि हम वाक् की प्राचीन अवस्थाओं का पता लगाने के लिए प्रांतस्था के विक्षत होने पर वाक्-प्रकार्य के स्वरूप का उपयोग करें; बेशक, ऐसा बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए और मूल अवस्थाओं का पुनर्कल्पन सामान्य रूप में ही करना चाहिए, ब्योरों में नहीं जाना चाहिए।

मस्तिष्क की कुछ विशेषतः गहरी विक्षतियों में मनुष्य वस्तुओं को नामोद्दिष्ट करनेवाले अलग-अलग शब्दों का ही उच्चारण कर पाता है, क्रियाओं की मदद से उन्हें किसी प्रकार जोड़ता नहीं। दूसरे शब्दों में, विचारों की अभिव्यक्ति वस्तुओं को नामांकित करने तक ही सीमित होती है, क्रियाओं को नामांकित नहीं किया जाता। बच्चों द्वारा शब्द सीखने की प्रक्रिया के अध्ययन से भी ऐसे ही परिणाम मिले हैं। शैशव काल में बच्चा शब्द को बहुत ही अनिश्चित रूप से समझता है, प्रायः उसके भाव को गड्डमड्ड कर देता है; नया शब्द ग्रहण करते हुए प्रायः उसका नाता उस वस्तु से नहीं जोड़ता जिसे यह शब्द नामोद्दिष्ट करता है, बल्कि पहली वस्तु से मिलती-जुलती, स्पष्टतः दृष्टिगोचर किसी लक्षण में बिल्कुल पहली वस्तु जैसी दूसरी वस्तु से उसका संबंध जोड़ता है। इस प्रकार, व्यक्ति के विकास के आरंभिक दिनों में उसके लिए शब्द बहु-अर्थी होता है; व्यक्ति शब्द को किसी एक वस्तु के नहीं, बल्कि प्रायः

मिलती-जुलती वस्तुओं के समूह के नाम के रूप में ग्रहण करता है।

पिथिकैंथ्रोपसों के मस्तिष्क के आकार में काफ़ी वृद्धि हुई और उसकी संरचना भी काफ़ी बदली, लेकिन ललाट खंडों के आकार और स्थूल संरचना में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, वे प्रायः वैसे ही रहे जैसे हम आस्ट्रेलोपिथेसिनों के ढालित अंतःकपालों पर पाते हैं। सो, सादृश्य के आधार पर (हालांकि यह सादृश्य काफ़ी सतही है) यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पिथिकैंथ्रोपस के वाक् में अलग-अलग शब्द ही थे, जो मुख्यतः वस्तुओं को संज्ञापित करते थे। पिछली शती के आरंभ में एल० हाइगर ने इस विचार के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये थे कि औज़ारों और बर्तनों के नाम प्रायः तत्संबंधी क्रियाओं के नाम ही होते थे। शब्दनिर्माण के इस पथ को सिद्धांततः किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता – इससे विपरीत पथ भी इतना ही संभव है। किंतु साथ ही समावेशक भाषाओं (समावेशक भाषा ऐसी भाषा को कहते हैं, जिसमें क्रिया का संज्ञा के साथ, विशेषक का विशेष्य के साथ विलय होता है और इस प्रकार जटिल शब्द-वाक्य बनते हैं; वाक्-प्रवाह ऐसे शब्द-वाक्यों में ही विभाजित होता है) के अध्ययन के परिणामों का, जिन्हें भाषाविद वाक् के आरंभिक चरणों के पुनर्कल्पन के लिए सदा बहुत महत्वपूर्ण मानते आये हैं, उपयोग करते हुए एक दूसरा अनुमान भी लगाया जा सकता है – वस्तुओं के सबसे पहले ध्वनिक संज्ञापनों में, इनके अर्थ के स्पष्टीकरण और संकीर्णन की दिशा में विकास के निश्चित काल के पश्चात, इन या उन वस्तुओं से संबंधित क्रिया के तत्वों के संज्ञापन भी शामिल होते थे, वे शब्द-वाक्य बन जाते थे। ऐसे शब्द-वाक्यों की मदद से न्यूनाधिक लंबा, अर्थमय और अभिव्यंजनात्मक एकालाप (स्वगत कथन) नहीं बनाया जा सकता था, लेकिन साधारण संवाद की आवश्यकताएं ये आरंभ में अच्छी तरह पूरी करते थे। ल० याकूबीन्स्की के अनुपम शोधकार्य (१९२३) में विश्वासोत्पादक ढंग से यह दिखाया गया है कि एकालापी वाक् की उत्पत्ति संवादी वाक् से हुई। मानवजाति के ऐतिहासिक विकास के उत्तरवर्ती चरणों के जो प्राचीनतम अभिलेख आज उपलब्ध हैं उनमें संवादी वाक् का व्यापक प्रचलन भी इस बात का परोक्ष प्रमाण है।

इस प्रकार, एक तीसरा अनुमान भी लगाया जा सकता है – पिथिकैंथ्रोपसों का आरंभिक वाक् संवादपरक था, कथोपकथन रूपी था, न कि एकालापी। वह समुदाय के अलग-अलग सदस्यों की तथा समस्त समुदाय की संप्रेषण की आवश्यकताएं पूरी करता था, किंतु इस या उस व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकताएं नहीं ; वाक् व्यष्टिक नहीं, सामूहिक मानस की सीमाओं में काम करता था। प्राचीन यूनानी नाट्यकला के सिद्धांतकारों और इतिहासकारों ने कभी यह विचार प्रकट किया था कि रंगमंच पर एकालाप संवाद से, जोकि चेतना के अधिक प्राचीन रूप को व्यक्त करता है, उत्पन्न होता है। संवादी वाक् का प्रस्तुत पुनर्कल्पन इस विचार की पुष्टि करता है।

इस आदिम संवादी वाक् के संरचना, भावार्थ और अभिव्यंजना संबंधी पहलुओं की सीमितता के कारण आदिम भाषा का शब्द-भंडार बहुत छोटा रहा होगा और अत्यंत धीमी गति से बढ़ा होगा। किंतु, प्रत्यक्षतः, आधुनिक भाषाओं की ही भांति, यह भी एक विवृत व्यवस्था ही था, जिस पर बाह्य प्रभाव पड़ते थे और जो पिथिकैंथ्रोपसों की औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के दौरान उनकी दृष्टि-परिधि में आनेवाली नयी-नयी वस्तुओं के ध्वनिक संज्ञापन की बदौलत समृद्ध होती थी। इस आदिम भाषा के सिलसिले में तुरंत ही यह प्रश्न उठता है कि इसकी उत्पत्ति किस रूप में हुई – पिथिकैंथ्रोपसों के सभी स्थानिक दलों के लिए समान एक भाषा के रूप में या अलग-अलग स्थानिक दलों की अनेक भाषाओं के रूप में। इनमें पहली प्राक्कल्पना को तो हमारी सहजबुद्धि और हमारा प्रतिदिन का अनुभव अस्वीकार करते हैं – तत्कालीन सारे संसार में एक भाषा होने की कल्पना आज के चित्र से बहुत ही भिन्न है, यह कल्पना बहुत ही असाधारण है। तर्कबुद्धि भी इसका विरोध करती है। पिथिकैंथ्रोपस वंश में कई जातियों का होना ही इस बात का प्रमाण है कि इस वंश के भीतर आनुवंशिक बाधाओं का प्रभाव प्रबल था, अतः, पिथिकैंथ्रोपसों के अलग-अलग दल एक दूसरे से पृथक थे। इन दलों के अल्पसंख्यक होने तथा उनके बीच संबंध अत्यंत क्षीण होने के कारण पिथिकैंथ्रोपसों के दलों की आदिम आरंभिक भाषाओं की संख्या बहुत अधिक रही होगी। अतः, इन सब बातों के आधार

पर हम किंचित विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि वाक्-प्रकार्य की पहली अभिव्यक्तियों के रूप अत्यंत विविधतापूर्ण थे।

नियंडरथल मानव के वाक् और भाषा के पुनर्कल्पन पर आते हुए हम ऊपर चर्चित बात एक बार फिर याद दिलाना चाहेंगे: नियंडरथल मानव के मस्तिष्क का आयतन बढ़कर प्रायः आधुनिक मानव के मस्तिष्क जितना हो गया था और मस्तिष्क की स्थूल संरचना भी प्रायः आधुनिक क़िस्म की हो गयी थी। इसी आधार पर हमने होमो वंश निर्धारित किया है, जिसमें नियंडरथल मानव और आधुनिक मानव–ये दो जातियां आती हैं। यह सोचा जा सकता है कि मस्तिष्क के आयतन में यह वृद्धि इस बात की सूचक है कि वाक् अपने विकास के अगले चरण में पहुंच गया, आधुनिक वाक् के बहुत पास आ गया। यह बात वाक् के संरचनात्मक घटकों के जटिल होने में तथा नयी ध्वनियों के अपनाये जाने, ध्वनि-भंडार के बढ़ने में व्यक्त हो सकती थी। मस्तिष्क की विक्षति के कारण होनेवाले वाक् के सरलीकरण की बात याद रखते हुए हम कह सकते हैं कि नियंडरथल के वाक् में ही पहली बार संरचनात्मक व्याकरणिक प्रवर्ग निरूपित हुए होंगे, जबकि वाक्यरचना का अभी पर्याप्त विकास नहीं हुआ होगा। संभव है कि इस चरण में वैयक्तिक निर्धारण हुआ हो, दूसरे शब्दों में, अपने "अहं" की चेतना जागी हो, जो एकालापी वाक् को जन्म दे सकती थी। नियंडरथल मानव बोलता था, लेकिन उसका वाक्, यह सोचा जा सकता है, संरचना की दृष्टि से शिशु के प्रथम वाक्-प्रयोगों जैसा रहा होगा, जब शिशु सरलतम व्याकरणिक रचनाओं का प्रयोग करता है। जहां तक इस प्रश्न के ध्वनिक पहलू की बात है, प्रत्यक्षतः, अधिसंख्य ध्वनियों का उच्चारण नियंडरथल मानव वस्तुतः वैसे ही करता था जैसे कि आधुनिक मानव करता है।

नियंडरथल दलों की भाषाओं के बारे में यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि इनमें वे सभी बुनियादी रूप थे, जो आधुनिक भाषाओं में भी पाये जाते हैं, सिवाय उन बहुत जटिल व्याकरणिक रचनाओं के जो अनेक आधुनिक अल्पविकसित जनगण की भाषाओं में भी नहीं पायी जाती हैं। निस्संदेह, शब्द-संपदा पूर्ववर्ती चरण की तुलना में बहुत बढ़ गयी थी। इस संपदा के मूल्यांकन के लिए

मोस्तारी संस्तरों में मिली नियंडरथल मानव की बनायी हड्डी, सींग और पत्थर की वस्तुएं परोक्ष, किंतु अत्यंत महत्वपूर्ण अर्थ रखती हैं। इन वस्तुओं पर न्यूनाधिक ज्यामितिक क़िस्म के अलंकरण पाये गये हैं और इनकी व्याख्या उचित ही नियंडरथल मानवों के चिंतन में जटिल प्रतीकों के, और परिणामतः, विकसित भाषा होने के प्रमाण के तौर पर की गयी है (ए० मर्शाक, १६७६)।

नियंडरथल समूहों में भाषाओं की विविधता की सीमाओं का मूल्यांकन करने के लिए नियंडरथल चरण की काल-सीमाओं में पुरातत्वीय संस्कृतियों के प्रसार के बारे में पिछले अध्याय में प्रस्तुत प्रेक्षण बहुत महत्व रखते हैं। सिद्धांततः, यह कल्पना करना कठिन है कि निश्चित भाषायी संरचना तथा चक़मक़ के संसाधन की इन या उन परंपराओं के बीच कोई कारणात्मक संबंध रहा हो – ऐसा संबंध यदि था तो वह सीधा-सरल और प्रत्यक्ष क़तई नहीं रहा होगा, बहुस्तरीय रहा होगा। बहरहाल, यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि जिन समूहों में औज़ारनिर्माण की परंपराएं समान थीं उनका परस्पर संसर्ग होता होगा, परिणामतः, वे एक दूसरे को समझ में आनेवाली, अर्थात मिलती-जुलती भाषाएं बोलते होंगे। ऐसा उपागम, शायद, मिलती-जुलती भाषाओं के समूहों – आरंभिक भाषायी विविधता के आधार पर पहले भाषा-परिवारों – के गठन की सीमाओं के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है।

नियंडरथल की तुलना में आधुनिक मानव के मस्तिष्क का कुल आयतन अपेक्षाकृत स्थिर रहा, किंतु ललाट खंडों का आगे विकास हुआ। इस विकास की व्याख्या भाषा की संरचनात्मक – व्याकरणिक और वाक्यविन्यासात्मक – संभावनाओं पर पूर्ण अधिकार पाने के आकृतिक पूर्वाधार के नाते की जा सकती है। निस्संदेह, इसके समानांतर ही भाषा के विकास की प्रक्रियाएं भी हुईं, सर्वप्रथम, स्थानीय बोलियों के आधार पर संबंधित भाषाओं के व्यापक दल गठित और विकसित हुए। यहां यह भी इंगित कर देना चाहिए कि आधुनिक प्ररूप के मानव के गठन के साथ भाषाओं के संरचनात्मक विभेदीकरण की प्रक्रिया रुकी नहीं, नये-नये रूपों का निर्माण मानवजाति के बाद के विकास के दौरान भी होता रहा। विचार की विविधतम छटाओं तथा प्राकृतिक परिघटनाओं के सूक्ष्मतम

ब्योरों को अभिव्यक्त करने की आधुनिक भाषाओं की क्षमता आधुनिक मानव के इतिहास की सीमाओं में सहस्राब्दियों से होते आये विकास का परिणाम है।

अंत में एक बार फिर उन निष्कर्षों को दोहरा दें जिन पर हम इस अध्याय में पहुंचे हैं। ऊपर हमने इस बात के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये हैं कि मानव वाक् और भाषा की उत्पत्ति श्रम सक्रियता आरंभ होने और होमिनिड कुल का गठन होने के साथ-साथ नहीं हुई, यह उत्पत्ति होमिनिन उपकुल के गठन के उत्तरवर्ती काल में ही हुई। वाक्-प्रकार्य के निर्माण का जैव आधार मानव के वानर पूर्वजों की संप्रेषणात्मक ध्वनियां थीं। जीवजगत में सूचना का संप्रेषण सुनिश्चित करनेवाली ध्वनिक सूचना पद्धति को भाषा का दूरवर्ती सादृश्य माना जा सकता है। वैयक्तिक वाक् और भाषा प्रकृतिदत्त नहीं हैं, आनुवंशिकतः निर्धारित भी नहीं हैं, सामाजिक परिवेश में व्यक्तिवृत्तात्मक विकास के दौरान ही उन पर अधिकार पाया जा सकता है। वाक् और भाषा की कालक्रमिक गति में तीन चरण इंगित किये जा सकते हैं: १) पिथिकैंथ्रोपस – वस्तुओं को नामोद्दिष्ट करनेवाले शब्द, जो विरले मामलों में शब्द-वाक्य बन जाते थे, संवादी वाक्; २) नियंडरथल मानव – आधुनिक या प्रायः आधुनिक उच्चारण, सरलतम व्याकरण और वाक्य-विन्यास, एकालाप का प्रकट होना; ३) आधुनिक मानव – आधुनिक उच्चारण पर पूर्ण अधिकार, भाषा के संरचनात्मक प्रवर्गों का आगे विकास, आज तक जारी शब्द-संपदा का विस्तार।

अध्याय चार

मनुष्य का पुरामनोविज्ञान

पुरामनोविज्ञान : सीमाएं और क्षमताएं

मनुष्य सदा अपने लिए भी जिज्ञासा का विषय रहा है। प्राचीन काल से ही वैज्ञानिक और विचारक मनुष्य के मनोजगत से संबंधित प्रश्नों का अवगाहन करते आये हैं। इतिहास तथा दर्शन की पुस्तकें, संस्मरण और ललित साहित्य महान व्यक्तियों की मनोरचना और विभिन्न सामाजिक श्रेणियों तथा जातियों के लोगों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के वर्णनों से भरे पड़े हैं। इनमें से कुछ विशेषताएं सामान्य चेतना तथा भाषा से स्वीकृति पाकर जातिवाचक संज्ञाओं जैसी बन गयी हैं। उदाहरण के लिए, हम "उदात्त सूरमा", "बनिया बुर्जुआ", "शिष्टाचारप्रिय अंग्रेज़", "भावपूर्ण फ़ांसीसी", आदि जातिवाचक नामों का प्रयोग करते हैं, और यद्यपि वे अत्यंत सोपाधिक हैं, हममें से हरेक फिर भी जानता है कि उनमें सच्चाई का कुछ न कुछ अंश अवश्य है, कि वे जैसे कि हज़ारों-लाखों अलग, व्यक्तिगत प्रेक्षणों का भी और साथ ही सामूहिक रहन-सहन के अनुभव का भी निचोड़ हैं।

अलग-अलग व्यक्तियों और समुदायों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के विज्ञान से, जो विज्ञान इस समय हमारी आंखों के सामने ही व्यापक प्रायोगिक आधार पर जन्म ले रहा है, उससे दूर होने पर भी ये कभी बचकाने और कभी परिपक्व तथा सूक्ष्मदर्शी प्रेक्षण सफलतापूर्वक उसका स्थान ले लेते थे और उन विचारों तथा व्यावहारिक कार्यों के लिए ज़मीन तैयार करते थे, जिनके लिए लोगों और स्थितियों के मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन की आवश्यकता थी। इस प्रकार के मूल्यांकन सभी युगों में लोगों के लिए इतने रोचक रहे हैं कि ऐतिहासिक रचनाओं में वे प्रायः वास्तविक वैज्ञानिक विश्लेषण

का स्थान ले लेते थे और बहुत शताब्दियों तक, अर्थात मार्क्सवाद द्वारा वस्तुपरक ऐतिहासिक-भौतिकवादी नियमों की खोज कर लिये जाने से पहले तक, एक विज्ञान के नाते इतिहास विज्ञान से मिलते-जुलते प्रभाववाद या अपेक्षाकृत सत्याभासी आत्मपरक अनुभवों और सम्मतियों के योगफल जैसा ही रहा।

वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के विवेचन ने एक प्रणाली का रूप १८वीं शती के प्रबोधक तथा मानवतावादी लेखकों की रचनाओं में ही लेना शुरू कर दिया था। किंतु समुदाय के मनोविज्ञान, या जिसे आगे चलकर सामाजिक और नृजाति मनोविज्ञान कहा जाने लगा, उसके संबंध में वैज्ञानिक उपागम की उत्पत्ति काफ़ी बाद में जाकर ही हुई। ई० बुर्गिन्योन के सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के इतिहास से संबंधित विशद समीक्षात्मक लेख (१९७३) में एतद्विषयक जिन पहली रचनाओं का उल्लेख हुआ है, वे सभी वर्तमान शताब्दी के आरंभकाल से संबंध रखती हैं। इसका एकमात्र अपवाद जर्मन नृजातिवृत्तकार और यात्री ए० बस्तीयान की पुस्तकें हैं, जिनमें विभिन्न संस्कृतियों और जातियों का तुलनात्मक-मनोवैज्ञानिक विशेषतावर्णन भी मिलता है और जो गत शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में लिखी गयी थीं। तबसे अनेक संस्कृतियों और उनके संवाहकों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के अध्ययन का भी तेज़ी से विकास हुआ है और सामाजिक तथा नृजाति मनोविज्ञान के प्रति वैज्ञानिक उपागम के लिए एक सामान्य सैद्धांतिक आधार तैयार करने की दिशा में भी बड़ा कार्य हुआ है। किंतु ठोस सामग्री में अकल्पनीय वृद्धि के बावजूद और विभिन्न संस्कृतियों की बहुत सारी सामाजिक संस्थाओं एवं उनके पीछे मौजूद सामूहिक मनोवैज्ञानिक संरूपों के अभिलेखन तथा वर्णन के बारे में काफ़ी अधिक काम किया होने के बावजूद हमें अभी अनेक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के निर्माण के नियमों की और, विशेषतः, विज्ञान की उस शाखा की स्पष्ट समझ नहीं है, जो सामूहिक मनोविज्ञान से संबंध रखती है।

इस क्षेत्र में अब तक कितना काम हो चुका है, यानी कितनी और कैसी सामग्री उपलब्ध है, प्रेक्षणों का स्वरूप क्या है, एकत्रित सामग्री का सैद्धांतिक विवेचन-विश्लेषण किन तरीक़ों से किया गया

है, वग़ैरह, इन सबके बारे में पर्याप्त पूर्ण जानकारी जी० लिंडसे तथा ई० आरोनसन के निदेशन में एक बड़े लेखकदल द्वारा पांच भागों में लिखी गयी अब तक की सबसे बड़ी सामाजिक मनोविज्ञान की हैंडबुक से पायी जा सकती है, जो प्रथम बार १९५४ में प्रकाशित हुई थी और फिर १४ वर्ष बाद परिवर्धित रूप में फिर से छापी गयी। यदि इस पुस्तक में उपलब्ध सामग्री तथा संदर्भग्रंथ-सूची में उन अनुसंधानों से संबंधित विवरणों को भी शामिल कर लिया जाये, जो सामाजिक मनोविकारविज्ञान के क्षेत्र में किये गये हैं, तो हमारे सामने वह सारी बुनियादी सूचना उपस्थित हो जायेगी जिसे पेशेवर मनोविज्ञानियों ने संचित किया है, वैज्ञानिक प्रचलन में लाये हैं और तुलनात्मक अध्ययनों में इस्तेमाल करते हैं। किंतु खेदवश, ये दोनों ही सिंहावलोकन मुख्यतया अनुसंधानों के उस स्तर को प्रतिबिंबित करते हैं जो आंग्लभाषी देशों में हासिल किया गया है।

मानव समाज के आविर्भाव तथा विकास से संबंधित जिस विषय से यहां हमारा ताल्लुक़ है और आदिम इतिहास के आरंभिक चरणों में चिंतन की मुख्य विशेषताएं मालूम करने का हमारे सामने जो उद्देश्य है, उनके सिलसिले में यहां किस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए? इसके बावजूद कि सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध है, मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के ऐतिहासिक पक्ष का अभी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। यद्यपि ऐतिहासिक मनोविज्ञान नामक एक विशेष विज्ञान-शाखा अस्तित्व में आ चुकी है, जिसका प्रमाण यह है कि आज कतिपय सामाजिक समूहों तथा ऐतिहासिक कालों के मनोविज्ञान, विशेषतः, आर्केइक काल के यूनानियों और मध्य-युगीन यूरोपीयों के मनोविज्ञान के बारे में कई रचनाएं उपलब्ध हैं, इस क्षेत्र में पर्याप्त यथार्थ तथ्यों का अभाव फिर भी बना हुआ है और, जो मुख्य बात है, यह स्पष्ट नहीं है कि ये तथ्य कैसे एकत्र किये जायें और ऐतिहासिक मनोविज्ञान विषयक शोधों की कारगर विधि क्या हो। अभी तक तो जो भी सफलता पायी जाती है वह ऐतिहासिक सूचनाओं के, जिनमें ऐतिहासिक दस्तावेज़ तथा साहित्य भी शामिल हैं, अपेक्षाकृत सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा प्राप्त की जाती है यानी वह इस पर निर्भर होती है कि अध्येता की योग्यता का स्तर क्या है और स्रोत-सामग्री के इस्तेमाल में वह कितनी सूझबूझ

का परिचय देता है। प्रसंगतः, समकालीन ऐतिहासिक मनोविज्ञान के वैचारिक स्रोतों के सिलसिले में और यह देखते हुए कि इस विज्ञान-शाखा के विकास का श्रेय केवल फ्रांसीसी तथा अमरीकी विद्वानों को दिया जाता है; इस तथ्य को विशेषतः रेखांकित किया जाना चाहिए कि ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक उपागम अ० वेसेलोव्स्की, अ० पीपिन और द० ओव्स्यानिको-कुलीकोव्स्की जैसे विभिन्न रूसी साहित्य-इतिहासकारों की सैद्धांतिक मान्यताओं तथा व्यावहारिक अनुसंधान कार्यों में भी बिल्कुल स्पष्ट परिलक्षित हुआ था।

विगत युगों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों तथा कतिपय सामाजिक एवं नृजाति समूहों की संयुक्त कार्रवाइयों के पुनर्कल्पन के यद्यपि दिलचस्प परिणाम निकले हैं और यद्यपि उसने मनोविज्ञानवेत्ताओं तथा इतिहासकारों के समेकित प्रयासों के लिए एक नया क्षेत्र प्रदान किया है तथा उनके संयुक्त रूप से काम करने की फलदायिता का प्रदर्शन कर भी दिया है, फिर भी जहां तक एक विधि के रूप में इस पुनर्कल्पन की क्षमताओं का सवाल है, तो वे सीमित हैं और नतीजे के तौर पर उसकी पर्याप्त वस्तुपरक तथा सुनिश्चित परिणाम पाने की क्षमता भी सीमित है। ध्यान रहे कि ऐसा इसके बावजूद है कि कई ठोस क्षेत्रों में अत्यंत कारगर परिणाम पाये गये हैं। यह सीमितता त्यों-त्यों बढ़ती ही जाती है, ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग से दूर हटते जाते हैं और ऐतिहासिक स्रोत-सामग्रियां कम होती जाती हैं, यद्यपि आंशिकतः उनकी भौतिक अवशेषों, विशेष रूप से कला की वस्तुओं से प्रतिपूर्ति हो जाती है, जो ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक पुनर्कल्पनों के लिए इतने अधिक महत्वपूर्ण तथा सूचनाप्रद हैं।

आदिम समाजों के संबंध में सूचना का एक सबसे बड़ा स्रोत नृजातिविज्ञान है, जो सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों पर स्थित समाजों के बारे में अब तक अपरिमित जानकारी एकत्र कर चुका है। किंतु इस सारी व्यापक और अत्यंत मूल्यवान सामग्री को इस्तेमाल करने में एक बुनियादी और बड़ी कठिनाई यह है कि ऐतिहासिक और नृजातिवैज्ञानिक काल-विभाजन में अब तक इस प्रश्न को हल नहीं किया गया है कि अतिप्राचीन काल में आधुनिक आदिम अवस्था का बहिर्वेशन संभव तथा उचित है अथवा नहीं,

कि, उदाहरण के लिए, शिकार पर आधारित अर्थव्यवस्थावाले हमारे समकालीन समाजों की संरचना तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण से संबंधित प्रेक्षणों को उत्तर पुरापाषाण काल के आखेटजीवी समाज के संबंध में भी सही मानना कहां तक उचित है। आज की आदिम जन-जातियों का प्रागैतिहासिक समाज के विकास की किन्हीं निश्चित अवस्थाओं से ऋजुरैखिक तदात्मीकरण दो-तीन दशक पहले तक बड़ा प्रचलित था, किंतु अब इसे शुद्ध रूपगत क्रिया मानकर उचित ही त्याग दिया गया है। यह सब नृजातिवैज्ञानिक सामग्री को, उसके अतिशय महत्व के बावजूद, मनोवैज्ञानिक पुनर्कल्पनों की वस्तुपरकता के प्रसंग में ऐतिहासिक दस्तावेजों के विश्लेषण के परिणामों जैसे ही खंडनीय बना डालता है। अतः आदिम मनुष्यों के मनोवैज्ञानिक प्ररूप और उनके आधुनिक प्रतिनिधियों की मानसिक विशेषताओं को लेकर आज भी बहुत विवाद चल रहा है।

यहां प्राणिमनोविज्ञान के सामने अपनी कठिनाइयां पैदा होती हैं, जिनमें कई बुनियादी ढंग की हैं। निस्संदेह, प्राणिमनोवैज्ञानिक प्रयोग की विधि अब शरीरक्रियात्मक विधि जितनी ही या लगभग उसके जितनी ही यथातथ बन गयी है (प्रसंगतः, उनके बीच कुछ साम्य भी है) और विशेषतः वन्य जीवों के व्यवहार का अध्ययन करनेवाले विज्ञान – जीवपारिस्थितिकी – के जन्म तथा विकास के बाद से प्राणिमनोवैज्ञानिक प्रेक्षण की विधि भी अत्यंत यथातथ हो गयी है। इसी प्रकार, इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न स्थितियों में पर्यावरण, अन्य जीवों और मनुष्य के प्रभाव पर पशुओं की प्रतिक्रिया के बारे में बहुत बड़ी मात्रा में ठोस तथ्य एकत्र कर लिये गये हैं। किंतु जिन दृष्टिकोणों के दायरे में इन तथ्यों की व्याख्या की जा सकती है, उनका परास इतना बड़ा है कि उनके बीच कोई भी सुस्पष्ट चुनाव इन तथ्यों की किसी एक ही संकल्पना से वास्तविक अनुरूपता का परिणाम होने के बजाय किन्हीं सैद्धांतिक मान्यताओं का परिणाम ज़्यादा होगा। स्वाभाविकतः, यहां चर्चा पशुओं के मानसिक जीवन की अभिव्यक्ति के बहुत-से पहलुओं की ही चल रही है, क्योंकि उनके मानस की कुछ बुनियादी विशेषताओं – उदाहरणार्थ, सहजवृत्तियों के आनुवंशिक स्वरूप – को पर्याप्त सुस्थापित तथ्य माना जा सकता है। अतः, प्राणिमनोविज्ञान में अब तथ्यों

की व्याख्या में एक निश्चित मानवत्वारोपण से लेकर पशुओं में किसी भी प्रकार की चिंतनात्मक क्रियाओं को लगभग पूरी तरह नकारने तक विभिन्न दृष्टिकोण प्रचलित हैं, यद्यपि अधिकांश वैज्ञानिक इन चरम दृष्टिकोणों की संदर्शहीनता तथा संकीर्णता को भली भांति अनुभव करते हैं।

जहां तक स्वयं प्राणिमनोवैज्ञानिक तथ्यों की स्थिति का सवाल है, तो वे बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं और विकास की विभिन्न सीढ़ियों पर स्थित पशुओं के व्यवहार से संबंध रखते हैं। अतः, बुनियादी व्यवहारमूलक प्रतिक्रियाओं का विस्तार से अभिलेखन हो चुका है और उतने ही ब्योरेवार उनके उत्तरोत्तर जटिल बनते जाने तथा उनके उद्‌विकास की गति को दर्ज कर लिया गया है। उल्लेखनीय है कि गत दो-तीन दशकों की सार तथा विज्ञान की दृष्टि से जो सर्वाधिक दिलचस्प तथा गंभीर खोजें हैं उनमें से अधिसंख्य खोजें व्यष्टिक व्यवहार से नहीं, जिसका पूर्ववर्ती काल में काफ़ी विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है (उदाहरण के तौर पर रूस में तुलनात्मक मनोविज्ञान के एक प्रकांड ज्ञाता व० वाग्नेर की रचनाओं का जिक्र किया जा सकता है), बल्कि समूह व्यवहार से और जनसंख्या गतिकी तथा सूक्ष्मविकास में उसकी भूमिका से संबंध रखती हैं। इस क्षेत्र में और विशेषतः पशुओं में सामाजिक परस्पर सहायता के बारे में बहुत ही असाधारण तथ्य प्रकाश में आये हैं, जैसे, उदाहरण के लिए, स्वार्थहीन व्यवहार के विविध रूप; नर प्राणियों के बीच सीमित प्रतिस्पर्धा, जिसका अंत कहा जा सकता है कि अधिसंख्य जातियों के प्राणियों के मामले में कभी दूसरे को गंभीर रूप से घायल किये जाने अथवा मारे जाने में नहीं होता है; मादा प्राणियों का असामान्य सूक्ष्मता के साथ संतुलित और उचित ढंग से संगठित व्यवहार; जिन व्यवहारात्मक प्रतिक्रियाओं में माता-पिता की अपने बच्चों के लिए चिंता व्यक्त होती है उनकी बड़ी भारी विविधता; संक्षेप में, व्यवहारात्मक क्रियाओं का बहुत बड़ा परास, जिनमें से बहुत-सी इतनी पेचीदी और कार्यसाधक होती हैं कि माना ही नहीं जा सकता कि उनका कोई, चाहे सीमित ही सही, तर्कबुद्धिमूलक आधार नहीं होगा। और सचमुच ही, आज बहुत सारे प्रायोगिक तथ्यों द्वारा पुष्ट किये गये इस दृष्टिकोण

के समर्थकों की संख्या बढ़ती ही जा रही है कि साधारण चिंतन सक्रियता पशुओं में भी पायी जाती है।

किंतु अब तक एकत्र क़िये गये प्राणिमनोवैज्ञानिक तथ्य और ऐतिहासिक मनोविज्ञान से प्राप्त तथ्य हमारी रुचि के इस मुख्य प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं देते कि प्राचीन होमिनिडों का चिंतन पशुओं की चिंतन सक्रियता के ढंग का था या अपने में वास्तविक मानवीय तत्त्व लिये हुए था। बिना प्रायोगिक प्रमाणों के या प्रागनुभविक ढंग से इस प्रश्न को दूसरे विकल्प के पक्ष में हल करना ठीक न होगा, किंतु, दूसरी ओर, पहला विकल्प भी वास्तविकता के अनुरूप नहीं प्रतीत होता, क्योंकि श्रम सक्रियता और औज़ारनिर्माण में संक्रमण तब तक असंभव था जब तक कि चिंतन में भी बुनियादी परिवर्तन न आ जाते।

जीवाश्मी होमिनिडों की चिंतन प्रक्रिया के पुनर्कल्पन का तीसरा स्रोत मस्तिष्क की आकृतिक संरचनाओं के कालानुक्रमिक विकास को उनकी प्रकार्यात्मक व्याख्या के उजाले में देखना है। मस्तिष्क की आकृति और मानस के बीच सीधा संबंध न होने के कारण – उनके बीच जटिल और अनेक कारकों द्वारा व्यवहित संबंध होता है – यह तरीक़ा भी अत्यंत विवादास्पद है, हालांकि वह वाक् की उत्पत्ति की समस्या के विश्लेषण में काफ़ी कारगर सिद्ध हो चुका है। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम ढालित अंतःकपालों का प्रयोग करते हुए मानवविज्ञानियों ने बहुत पहले, यानी वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में भी प्राचीन होमिनिडों के मानसिक विकास के स्तर को जानने का प्रयत्न किया था, यद्यपि यह सब काफ़ी यांत्रिक ढंग से और मस्तिष्क के कार्य के बारे में उस समय प्रचलित, किंतु बहुत पिछड़ी हुई, धारणाओं के अनुसार किया जाता था। मानवविज्ञानियों के बाद जीवाश्मविज्ञानी भी मस्तिष्क की स्थूल संरचना का अध्ययन तथा प्रकार्यात्मक व्याख्या करने लगे और आज व्यापक रूप से प्रयुक्त "पुरातंत्रिकाविज्ञान" शब्द उन्होंने ही गढ़ा था। इस क्षेत्र में पुरोधा टी० एडिंगर थीं, जिन्होंने अश्मीभूत जीवों के मस्तिष्क के बारे में १६२६ में पहली क्लासिकीय रचना प्रकाशित की और इसके बाद पक्षियों के पूर्वजों, घोड़ों के पूर्वजों, आदि के मस्तिष्क के बारे में भी अनेक शोध-रचनाएं छपवायीं।

12-1291

सोवियत जीवाश्मवैज्ञानिक साहित्य में इस प्रकार की खोजों के एक उत्कट प्रचारक यू० ओर्लोव थे (१६४७, १६४६)। किंतु जीवाश्मी मानव की चिंतन क्षमता के स्वरूप की जांच करते हुए मानवविज्ञानियों की रुचि कहीं अधिक विशद पुनर्कल्पनों में होती है, यद्यपि उनसे फिर नये विवाद पैदा हो जाते हैं।

अंत में, जीवाश्मी होमिनिडों के मनोजगत के बारे में जानने का चौथा और, संभवतः, वर्तमान काल में अंतिम स्रोत वह सब है, जिसका हमने दूसरे अध्याय में विवेचन किया था, और वह सब भी, जो उनके – जीवाश्मी होमिनिडों के – क्रियाकलाप के भौतिक अवशेषों के रूप में बचा रहा है। अपने अस्तित्व के डेढ़ सौ वर्ष में पुरापाषाण काल के पुरातत्व ने प्राचीन मनुष्यों के आत्मिक विश्व के पुनर्कल्पन के उद्देश्य से इन भौतिक अवशेषों की विदग्धता तथा विद्वत्ता से भरपूर व्याख्या की असंख्य मिसालें प्रस्तुत की हैं। किंतु खेदवश, इनमें से अधिकांश पुनर्कल्पन धर्म एवं कला के आविर्भाव तथा आरंभिक चरणों की समस्याओं अथवा सामाजिक संगठन के आरंभिक रूपों के निर्माण तथा उद्विकास से ही संबंध रखते थे। मनोविज्ञानियों ने मनुष्य के चिंतन की मुख्य-मुख्य मंज़िलों के पुनर्कल्पन के अपने प्रयासों में इस असामान्य रूप से प्रचुर, सर्वांगीणतः परखी तथा विश्वसनीय पायी गयी सामग्री को लगभग उपेक्षित ही रहने दिया। नतीजे के तौर पर मनोवैज्ञानिक साहित्य में यह पुनर्कल्पन लगभग हमेशा बौद्धिक अनुमानों पर आधारित होता था। गत कुछ समय से पुरामनोविज्ञानविदों का ध्यान पुरातात्विक सामग्री के इस्तेमाल की लगभग असीम तथा अप्रयुक्त संभावनाओं की ओर गया है। किंतु उनके पास अभी न तो कोई सुविकसित विधि है, न वे स्पष्टतः जानते हैं कि इस उद्देश्य के लिए पुरातात्विक सामग्री को कहां तक प्रयोग किया जा सकता है और न उनके पास किन्हीं विश्वासोत्पादक पूर्व प्रयासों का अनुभव ही है। सब कुछ नये सिरे से शुरू किया जाना है और इसलिए आरंभ में परिणाम विशेष कारगर नहीं भी हो सकते हैं। किंतु पुरातात्विक सामग्री की प्रचुरता, जो इस दृष्टि से अनुपम है, उसमें प्रागैतिहासिक मनुष्य द्वारा आबाद क्षेत्र की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रतिबिंबन, उसका मनुष्य की सक्रियता से घनिष्ठ संबंध और इस सक्रियता

के, जो जैसे कि मानसिक परिघटनाओं का वास्तवीकृत रूप है, जबकि स्वयं इन परिघटनाओं को चेतना के क्षेत्र में स्थानांतरित सक्रियता कहा जा सकता है, परिणाम के रूप में स्वयं चिंतन का अस्तित्व पुरातात्विक सामग्री के प्रति पुनर्कल्पनात्मक-मनोवैज्ञानिक उपागम को अत्यंत संभावनापूर्ण तथा नितांत आवश्यक बना देते हैं।

इस प्रकार, जीवाश्मी होमिनिडों के चिंतन के नियमों की पुनर्रचना के चार स्रोत हैं – ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक, प्राणिमनोवैज्ञानिक, पुरातांत्रिकीय और पुरातात्विक। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशिष्टता है और प्रत्येक ऐसे परिणाम देता है, जो किसी अन्य विधि से नहीं पाये जा सकते। इसके साथ ही इकट्ठे लिये जाने पर उन सबका एक दूसरे से प्रतिपरीक्षण भी हो सकता है। मनुष्य के विकास के आरंभिक चरणों में उसके मानसिक प्रकार्यों के पुनर्कल्पन का ऐसा जटिल द्वंद्वात्मक रूप है। प्राणिमनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक सामग्रियों की तुलना पुनर्कल्पन की सीमाएं इंगित करती है, पुरातंत्रिकाविज्ञान और पुरातत्व उच्चतर पशुओं की उच्च तंत्रिका सक्रियता से आधुनिक मानव के मानस में संक्रमण के काल की परिघटनाओं के क्रम की पुनर्रचना में मदद करते हैं। यह पुनर्रचना या पुनर्कल्पन ही उस विज्ञान का विषय है जिसे मनुष्य का पुरामनोविज्ञान कहा जा सकता है और जो अपने अध्ययन की वस्तु के विशिष्ट स्वरूप के कारण एक पृथक विज्ञान-शाखा समझे जाने का अधिकारी है, क्योंकि उसमें अन्य विज्ञानों के हितों के आंशिकतः एक दूसरे से मिलने के बावजूद वह जो सूचना प्रदान करता है वह अन्य किसी विज्ञान से नहीं मिल सकती और ज्ञानविज्ञान के परस्परसंबद्ध क्षेत्रों के लिए अत्यधिक महत्व रखती है।

विज्ञान की किसी भी स्वायत्त, अपने आप में पूर्ण शाखा का निर्धारण करते समय अन्य सीमांत शाखाओं की तुलना में उसके क्षेत्र, दायरे को स्पष्टतः परिभाषित करना अत्यंत आवश्यक है। इस संबंध में सबसे पहले जो प्रश्न उठता है वह यह है कि मनुष्य के पुरामनोविज्ञान का विकासीय शरीरक्रियाविज्ञान की उस उपशाखा से क्या संबंध है जो विशिष्टतः मानव प्रकार्यों की गतिकी का अध्ययन

करती है। शरीरक्रियात्मक अनुसंधानों के एक विशेष क्षेत्र के तौर पर विकासीय शरीरक्रियाविज्ञान ने पशु जगत में विभिन्न विश्लेषकों की प्रकार्य सक्रियता के बारे में, प्रकार्य सक्रियता के एक स्तर से दूसरे स्तर में संक्रमण के स्वरूप के बारे में और उद्विकास के दौरान विभिन्न विश्लेषकों के पहले से अधिक परिष्कृत बनने के क्रम के बारे में बहुत अधिक तथ्य एकत्र कर लिये हैं। किंतु विकासीय मनोविज्ञान, जिसके अंतर्गत प्राणिमनोविज्ञान और मनुष्य का मनोविज्ञान आते हैं, इतनी प्रगति नहीं कर सका है। उसमें हाल के वर्षों से ही प्रयोग की विधि अपनायी जाने लगी है और इसके अलावा प्रयोग तथा प्रेक्षण के परिणामों की व्याख्या के मामले में उसकी अपनी विशिष्ट तथा अत्यंत गंभीर कठिनाइयां भी हैं। फिर भी आज वह निम्नतर रूपों से उच्चतर रूपों की ओर व्यवहार के उद्विकास की एक सुनिश्चित तथा पर्याप्त सुविकसित संकल्पना प्रतिपादित कर सकता है। विकासीय मनोविज्ञान जैसे कि शरीरक्रियात्मक ज्ञान की तुलना में अधिक ऊंचा अधिरचना-स्तर है। शरीरक्रियात्मक ज्ञान मानस के भौतिक अधःस्तर का ज्ञान होता है और स्वयं मानस अंत में प्रत्यय विषयक ज्ञान का योग होता है। अपने विकसित रूप में प्रत्यय का प्रवर्ग केवल आधुनिक प्ररूप के मनुष्य की विशेषता है, किंतु उसका स्रोत, सचेतन मानसिक सक्रियता का स्रोत मानवोत्पत्ति में है, यद्यपि अपने सबसे सरल रूपों में वह पशुओं में भी पाया जा सकता है।

जीवाश्मी होमिनिडों के मानस के वे सबसे मुख्य संरचनात्मक घटक कौन-से हैं, जिनका मनुष्य के पुरामनोविज्ञान के दायरे में अध्ययन किया जाता है? स्वाभाविकतः, उन्हें वर्तमान मनुष्य के मानस के संरचनात्मक गठन के ज़रिये ही जाना जा सकता है। इसका अर्थ है कि यदि जीवाश्मी मानव के मानस की कुछ अपनी ही विशेषताएं थीं भी, तो हम उन्हें तब तक नहीं जान सकते जब तक कि हमारे पास उनके आधुनिक तुल्यरूप न हों। पुरामनोविज्ञान के विषय में मुख्य मानसिक अधःस्तर अथवा मानसिक सक्रियता की संरचना है। आधुनिक प्ररूप के मनुष्य की मानसिक परिघटनाओं में यह अधःस्तर पूर्वदत्त होता है। बेशक, जीवाश्मी होमिनिडों की सक्रियता के भौतिक अवशेषों के, जो उनके

मानसिक कार्यों के वस्तुरूप निर्मोक हैं, अध्ययन के दौरान भी कुछ तथ्य प्रकाश में आते हैं, किंतु इन "कुछ" तथ्यों का निर्वचन वर्तमान मनुष्य की मानसिक सक्रियता से तुल्यरूपता के ज़रिये ही किया जा सकता है। इस तुल्यरूपता को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि तार्किक चिंतन का स्वरूप, स्मृति के गुण, बिंब, प्रतीक, कल्पना (यदि वह थी), साहचर्यों के विकास का स्तर और अंततः (यह सबसे महत्वपूर्ण है), द्वंद्वात्मक चिंतन के भ्रूणीय रूप में सामान्य तुलनाएं ही जीवाश्मी मानव के मानस के वे संरचनात्मक घटक हैं, जिनका पुरामनोविज्ञान के दायरे में पुनर्कल्पन किया जाना चाहिए। इस सूची में किस चीज़ का संतोषजनक ढंग से पुनर्कल्पन हो पाता है और किस चीज़ का नहीं हो पाता है – यह हमें आगे चलकर तय करना होगा। किंतु इस समय भी एक बात स्पष्ट है और वह ऊपर बतायी गयी बातों का सबसे बुनियादी निष्कर्ष भी है। वह यह कि मनुष्य का पुरामनोविज्ञान ज्ञान का एक ऐसा अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसमें उल्लेखनीय सफलताएं पाये बिना हम प्राचीन होमिनिडों की विचारधारा और सामाजिक जीवन के विकास के आरंभिक चरणों की बहुत सारी विशेषताओं की व्याख्या में प्रगति की आशा नहीं कर सकते। इस प्रकार, मनुष्य के पुरामनोविज्ञान से संबंधित प्रश्नों का अध्ययन साथ ही आदिम समाज के विकास के आरंभिक चरण के इतिहास से संबंधित सबसे महत्वपूर्ण प्रश्नों का अध्ययन भी है।

तार्किक चिंतन की प्रकृति, चेतना के क्षेत्र और आदिम चिंतन में अचेतना का तत्व

जब हमें मालूम नहीं था कि उद्‌विकास की प्रक्रिया, जिसके फलस्वरूप वर्तमान मानवजाति अस्तित्व में आयी, एक अत्यंत दीर्घ प्रक्रिया थी और न ही हम मनुष्य की प्राकृतिक-ऐतिहासिक उत्पत्ति तथा इतिहास के उषाकाल में मुख्य सामाजिक संस्थाओं के निर्माण के तथ्य से परिचित थे, वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन को आदिम जीवन तथा वन्य मानव के बिंब तथा विचार बड़े आकर्षित

करते थे और आदिम लोगों के जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक परंपराओं को वह बड़े गुलाबी रंगों में चित्रित करता था। इतालवी विद्वान जे० कोक्कयारी ने यूरोपीय देशों में लोक-वार्ता के इतिहास तथा लोक-संस्कृति के अध्ययन के बारे में और जिस ढंग से लोक-संस्कृति मध्ययुग तथा उसके बाद के प्रमुखतम यूरोपीय मनीषियों की चेतना में प्रतिबिंबित हुई, उसके बारे में एक उत्कृष्ट पुस्तक लिखी है (१९६०)। उसमें ऐसे असंख्य दिल-चस्प तथ्य उद्धृत किये गये हैं, जो दिखाते हैं कि आदिम अवस्था के बारे में मोंतेन, मोंतेस्क्यू, वाल्तेयर और दिदेरो जैसे यूरोपीय संस्कृति के दिग्गजों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कितना दूर था और कैसे यह अवस्था उन्हें मानव समाज तथा संस्कृति का स्वर्णयुग प्रतीत होती थी। किंतु दत्त प्रसंग में हमारी दिलचस्पी स्वयं इन दृष्टिकोणों में नहीं, अपितु आदिम मनुष्य के प्रति, उसकी मानसिकता के प्रति रवैये में है, जो "जांगल" शब्द द्वारा व्यक्त होता था, और इसका अर्थ आदिम, नेक, निष्कपट, सदाचारी, स्वार्थहीन आदमी था। वह उन सभी आदर्शों का मूर्तिमान रूप था, जिन्हें विकसित सभ्यता बहुत पहले ही खो चुकी है। आज हमें यह सब कल्पना की उड़ान लगती है, किंतु इस क्षेत्र में ज्ञान की ओर पहला क़दम उसके साथ ही उठाया जाता है और इन विचारों को आदिम मनुष्य के मनोजगत के पुनर्कल्पन का प्रथम प्रयास माना जा सकता है, चाहे यह प्रयास परिकल्पनात्मक और जीवन के सत्य से कटा हुआ ही क्यों न हो।

अगले चरण में इन दृष्टिकोणों का स्थान आदिम मानव के मनोजगत में झांकने की वास्तविक इच्छा ले लेती है, जिसे यात्रियों और मानव संस्कृति की विविधता के प्रथम अध्येताओं के प्रेक्षणों के संचय और विकास में पिछड़ी हुई, कभी-कभी क्रूर और अपने जंगलीपन से यूरोपीय प्रेक्षकों को डरा देनेवाली तथा प्रायः बिल्कुल समझ में न आनेवाली जातियों के धार्मिक विश्वासों तथा रीति-रिवाजों से संबंधित ठोस जानकारियों की व्याख्या के द्वारा पूरा किया जाता था। प्राचीन सभ्यताओं के काल में ही उनके इर्द-गिर्द की जातियों के बारे में काफ़ी जानकारियां एकत्र कर ली गयी थीं, किंतु उन्हें क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित बनाया जाना और आदिम

संस्कृति तथा आदिम चिंतन के समेकित चित्र के निर्माण के लिए इस्तेमाल किया जाना १९वीं शती के मध्य में ही आरंभ हुआ। बाद में उन्हें क्रमशः विकासवादी, विसरणवादी और फ़्रायडवादी विचारों के सांचे में, नृजातिवैज्ञानिक चिंतन के इतिहास में पाये जानेवाले कार्यपरक और नृजातिमनोवैज्ञानिक उपागमों के सांचे में ढाला गया, किंतु जिस पहलू में हमारी दिलचस्पी है, उसकी दृष्टि से, कुछेक अपवादों को छोड़कर, उन सबसे आदिम चिंतन की यह अवधारणा बनती थी कि वह एक ऐसी मानसिक संरचना है, जो विकसित सभ्यता के प्रतिनिधि – आज के मनुष्य – की इसी प्रकार की संरचना से थोड़ा ही भिन्न है या बिल्कुल भी भिन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में, सामान्यतः यह समझा जाता था कि आदिम मनुष्य (और अभिप्राय मुख्य रूप से आदिम संस्कृति के आधुनिक संवाहक से होता है, किंतु बहिर्वेशन के ज़रिये यह मान्यता जीवाश्मी मानव पर भी लागू की जा सकती है) सभ्य मनुष्य जैसे ही नियमों के अनुसार सोचता था, हालांकि उतनी अच्छी तरह से नहीं। बहुत दशकों तक इस संकल्पना में कोई बुनियादी फेर-बदल नहीं हुए।

आज का अन्वेषणात्मक सिद्धांत, जो आदिम चिंतन के पुनर्कल्पन में हमारी सहायता करता है, चेतना के क्षेत्रों से संबंधित अवधारणा है। चेतना के क्षेत्र पूर्णतः स्वायत्त, अपने आप में बंद मानसिक संरचनाएं नहीं होते। वे विसारित होते हुए एक दूसरे का, विशेषतः सीमावर्ती संलग्न क्षेत्रों में, अंतर्वेधन करते हैं, किंतु इसके बावजूद वे चेतना की सारी धारा को किन्हीं अलग-अलग खंडों में बांट डालते हैं, जिनके भीतर एक दिये हुए निश्चित स्वरूप की सूचना का संचार तथा विश्लेषण होता है। चेतना के क्षेत्र एक विशाल, निरंतर फैलते जा रहे नगर के अलग-अलग इलाक़ों जैसे हैं, जिनकी सीमाएं और आकार बदलते रहते हैं, किंतु जिनके भीतर फिर भी एक तरह की स्वायत्तता होती है। वे चेतना के संरचनात्मक घटक नहीं हैं, यद्यपि उसके उद्‌विकास के निश्चित चरणों में उस रूप में कार्य कर भी सकते हैं; वे, शायद, सूचना के संग्रहण तथा रूपांतरण के क्षेत्र ज़्यादा हैं और उनमें रूपांतरित होकर ही सूचना चिंतन प्रक्रिया में समाविष्ट होती है। चेतना के क्षेत्रों के विभेदीकरण के

ऐसे सिद्धांत के आधार पर हम चेतना के तीन क्षेत्र निर्धारित कर सकते हैं, जो अपनी सारवस्तु की दृष्टि से एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न हैं। ये हैं इंद्रियानुभव का क्षेत्र ; इंद्रियानुभव के परिणामों के सामान्यीकरण का क्षेत्र ; और अमूर्त चिंतन का क्षेत्र। प्राक्कल्पनात्मक तौर पर जीवाश्मी मानव की चेतना के इन तीन क्षेत्रों का वर्तमान आदिम लोगों के मानस की अंतर्वस्तु के प्रेक्षणों के आधार पर पुनर्कल्पन काफ़ी कठिन है। फिर ऐसा पुनर्कल्पन कई महत्वपूर्ण बातों में अत्यंत अस्पष्ट भी होता है। किंतु, दूसरी ओर, सहभागिता के नियम और अयौक्तिक तर्क के उसूलों की क्रिया की प्रकार्यात्मक सीमाओं को वस्तुपरक ढंग से उसके ज़रिये ही मालूम किया जा सकता है।

इंद्रियानुभव का क्षेत्र सबसे आधारभूत प्रत्यक्ष ज्ञान का, या अगर ठीक-ठीक कहें, तो वस्तुओं के साधारणतम गुणों, प्राकृतिक प्रक्रियाओं की आवृत्तिशीलता तथा मानव जीवन के क्रम से परिचय का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में परिघटनाओं का एक दूसरी के साथ संबंध साधारण और व्यावहारिकतः एकस्तरीय होता है : आपने असावधानीवश आग के ऊपर हाथ रखा नहीं कि वह जल जायेगा। इस तरह के प्रयोग द्वारा अर्जित अनुभव पशुओं में भी पाया जाता है, किंतु वस्तुतः मानव सक्रियता की बहुविधता के कारण मनुष्य में यह अनुभव अपने विकास के पहले चरण में भी पशुओं के अनुभव की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, बहुरूपी तथा समृद्ध होता है और कहीं अधिक क़िस्मों की प्राकृतिक प्रक्रियाओं से संबंध रखता है। क्या हम किसी ऐसे समूह अथवा व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं, जिसका इंद्रियानुभव के क्षेत्र में व्यवहार यौक्तिक तर्क द्वारा नहीं, बल्कि अयौक्तिक तर्क द्वारा, सहभागिता के नियम द्वारा निर्धारित होता हो? अपने व्यापक अर्थ में सहभागिता इस शर्त पर यथार्थ विश्व की परिघटनाओं तथा प्रक्रियाओं के सभी संभव परस्पर संबंधों को अपनी परिधि में शामिल कर लेती है कि मनुष्य – दत्त प्रसंग में आदिम मनुष्य – को, चाहे किसी भी कारण सही, ये संबंध वास्तविक लगें। ऐसी व्यापक व्याख्या किये जाने पर यौक्तिक तर्क द्वारा प्रतिबिंबित वास्तविक संबंध सहभागिता के तर्क में विशिष्ट घटना के रूप में ही स्थान पाते हैं। अतः, उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए ऐसा सोचा

भी नहीं जा सकता कि सहभागिता के तर्क का, अयौक्तिक तर्क का इंद्रियानुभव के क्षेत्र में, चाहे आंशिकतः ही सही, प्राधान्य रहा होगा। अस्तित्व और श्रम सक्रियता के सबसे साधारण रूप भी यौक्तिक, तार्किक नियमों के अटल पालन को आवश्यक बना देते हैं। ऐसे पालन के बिना प्रकृति के नियमों की अपरिहार्य क्रिया उस सबको परे फेंक डालेगी, जो उनके विरोध में खड़ा है। आदिम समाज अत्यंत धीमी गति से, मगर फिर भी उत्तरोत्तर विकास कर रहा था, और ऐसे विकास की पहली शर्त महत्वपूर्णतम प्राकृतिक संबंधों का आदिम मानस द्वारा यौक्तिक, तार्किक अवबोधन ही हो सकता था।

इस प्रकार, इंद्रियानुभव के क्षेत्र में आरंभ से ही यौक्तिक तर्क का प्राधान्य रहा होगा, प्रकृति की परिघटनाओं तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या युक्तिपरक ढंग से की जाती रही होगी, अपनी परिवेशी परिघटनाओं के संबंध में आदिम मनुष्य की प्रतिक्रियाएं युक्तिसंगत रही होंगी और, अंत में, अपने दैनंदिन जीवन में आदिम मनुष्य युक्तिसंगत ढंग से आचरण करनेवाला रहा होगा। ऐसा अत्यधिक युक्तिसंगत, सतर्क, सुविचारित और दूरदर्शितापूर्ण व्यवहार ही प्राकृतिक परिवेश तथा पड़ोसी गिरोहों से संघर्ष की कठिनाइयों पर विजय पाने, शिकार में सफलता और इसलिए आहार के पर्याप्त भंडारों के निर्माण की पूर्वपरिस्थितियां बनाने में सहायक हो सकता था। किंतु बात इतनी ही न थी। आदिम संस्कृति के दो और अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं, जिनका निर्माण तथा आगे विकास अयौक्तिक व्यवहार के आधार पर असंभव था। हमारा अभिप्राय श्रम सक्रियता और सामाजिक संबंधों से है। प्रयत्न-त्रुटि विधि के अनुसार तलाश ने निश्चय ही साधारणतम औज़ारों के निर्माण के पहले प्रयोगों में वैसी ही बड़ी भूमिका निभायी थी, जैसी वह बंदरों द्वारा विभिन्न समस्याओं का समाधान किये जाने में अब भी निभाती है। प्रयोगों ने दिखाया है कि बंदर के लिए यह तलाश बड़ा महत्व रखती है और प्रायोगिक स्थितियों को कई बार दोहराने के बाद ही वह किन्हीं न्यूनाधिक बुद्धिमत्तापूर्ण क्रियाओं पर आता है। आरंभिक औज़ार-निर्माण संबंधी सक्रियता कितनी भी अपरिष्कृत क्यों न रही हो, उसमें, संभवतः, सूझबूझ का तत्त्व कहीं अधिक था और उसका

तार्किक बोध के मातहत होना आवश्यक ही था और अन्यथा हो भी नहीं सकता था। इसी तरह यह भी असंभव था कि इस सक्रियता के दौरान मनुष्य की क्रियाओं तथा वस्तुओं के बीच देखे जानेवाले संबंध (आघाती या संसाधक क्रियाएं – वस्तुओं की आकृति में परिवर्तन – उनकी औज़ार के तौर पर इस्तेमाल के लिए उपयुक्तता) तार्किक चेतना द्वारा दर्ज न हों, ताकि बाद में कुछ निश्चित क्रियाएं अतिरिक्त श्रम खर्च किये बिना तथा पर्याप्त प्रभाविता के साथ दोहरायी जा सकें। इस मामले में अयौक्तिक तर्क और चेतना द्वारा मनुष्य की क्रियाओं तथा बाह्य वस्तुओं के बीच वास्तविक नहीं, अपितु आभासी संबंधों का अंकन किसी भी प्रकार की औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता को उसके आरंभ में ही अंधगली में पहुंचा देते।

यही बात पूर्ण औचित्य के साथ उन सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों तथा संपर्कों के बारे में भी कही जा सकती है, जो जीवाश्मी मानव के आदिम समुदायों में स्थापित हुए थे। सबसे पहले वे हर व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों तथा किसी भी तरह की स्थिति के अनुरूप व्यवहार द्वारा सुनिश्चित होते थे, जो व्यक्तिगत टकरावों को बढ़ने से रोकनेवाले मानसिक संतुलन में ही नहीं, बल्कि समूह में विद्यमान पदसोपान प्रणाली, रक्त तथा बांधव संबंधों, मूल्य-चेतना और स्थापित परंपराओं के बारे में युक्तिसंगत तथा तार्किकतः उचित प्रतिक्रिया में भी व्यक्त होता था। यदि इनमें से एक भी प्रवर्ग के संबंध में व्यक्ति की प्रतिक्रिया अनुरूप न होती और उसमें अयौक्तिक तथा उसी समूह के दूसरे सदस्यों के लिए अव्याख्येय तत्त्व या कोई अनजान, असामान्य तथा डरावना तत्त्व रहता, तो ऐसा व्यवहार दिखानेवाले व्यक्ति की सामाजिक सहजवृत्तियां कितनी भी प्रबल क्यों न होतीं, उसकी वैसी प्रतिक्रिया आसपास के लोगों में हमेशा हैरानी तथा असंतोष पैदा करती, उन्हें उसका बहिष्कार करने को उकसाती और, अंततः, टकरावों का कारण बन जाती।

अब कल्पना करें कि समूह में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो दैनंदिन सामाजिक व्यवहार में यौक्तिक तर्क नहीं, बल्कि अयौक्तिक तर्क से, परिघटनाओं और उन संबंधों की, जो समूह के सामाजिक जीवन

का अंग हैं, तार्किकतः अव्याख्येय प्राचलों के अनुसार सहभागिता से निदेशित होते हैं। इस हालत में कोई भी सामूहिक सामाजिक क्रियाएं संपन्न नहीं हो पायेंगी और इसके बजाय कि समूह एक पूर्णतः संहत शक्ति के रूप में कार्य करे, वह आपस में लड़नेवाली या एक दूसरे को ठीक से न समझ पानेवाली व्यष्टियों के अस्थिर जमघट में परिवर्तित हो जायेगा। इस प्रकार, चेतना के उस क्षेत्र का, जिसके अंतर्गत इंद्रियानुभव आता है, अत्यंत साधारण विश्लेषण भी दिखाता है कि विकसित आधुनिक समाज के मनुष्य की भांति आदिम मनुष्य के मामले में भी यह क्षेत्र शुद्ध तर्क का क्षेत्र है और उसमें किसी प्रकार का भी अयुक्तिवाद अथवा वस्तुओं की उनके वास्तविक संबंधों के बजाय आभासी संबंधों के अनुसार सहभागिता संभव नहीं है। अन्यथा इंद्रियानुभव तत्काल ही वह चीज़ नहीं रह जायेगा, जो वह वास्तव में है, यानी पीढ़ी दर पीढ़ी अंतरित होकर प्रगति का एक प्रबल उत्प्रेरक। अयुक्तिपूर्ण ढंग से व्याख्या किये गये आनुभविक प्रेक्षण किसी भी आदिम समूह को तुरंत विपत्तियों के गर्त में धकेल देंगे और उसके आगे विकास या प्रगति कर पाने की संभावना को स्वतः खत्म कर डालेंगे।

इंद्रियानुभव के परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्र को अभी ऊपर विवेचित इंद्रियानुभव के क्षेत्र से स्पष्टतः पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसा हम पहले भी बता चुके हैं, सामान्यतः, सभी क्षेत्र काफ़ी अधिक परस्परव्यापी होते हैं और इसलिए उनकी सीमाएं धुंधली ही बनी रहती हैं। बिल्कुल साफ़ है कि यह क्षेत्र विश्व, लोगों, लोगों के आपसी संबंधों, प्राकृतिक परिघटनाओं, आदि से ताल्लुक़ रखनेवाले आनुभविक प्रेक्षणों के सामान्यीकरण का अगला चरण है। इस क्षेत्र की सीमाएं क्या हैं और उसके भीतर संपन्न होनेवाली मानसिक संक्रियाओं का स्वरूप क्या है, इंद्रियानुभव के क्षेत्र की भांति यहां भी क्या तर्क के नियमों से शासित होता है और क्या अयौक्तिक सहभागिता के नियम को प्रतिबिंबित करता है, क्या यहां कोई ऐसे कारक तो नहीं हैं कि जो अयौक्तिक के प्रकट होने में बाधक और तार्किक नियमों की प्रधानता में सहायक होते हों, अथवा, इसके विपरीत, सहभागिता की रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति को सहारा देते हों और तर्क के नियमों की क्रिया

को दबाते हों ? जैसा कि हमें लगता है, पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्य इंद्रियानुभव के परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्र के विस्तार का निर्धारण है। भ्रूणीय आदिम चिंतन में, यानी जब अभी औज़ार-निर्माण संबंधी सक्रियता का जन्म ही हो रहा था, शिकार की वस्तु को, जिस पशु का शिकार किया जा रहा है, उसे मात्र उसके रूप में नहीं, बल्कि उसकी आदतों, उसकी जीवन-पद्धति, इलाक़े के अन्य जीवों से उसके संबंधों, आदि की पूरी समष्टि में देखा जाता था। इस तरह, इंद्रियानुभव में पशु का प्रत्यय पैदा हुआ, उसकी आंगिक विशेषताओं की वह समष्टि उत्पन्न हुई, जो किसी भी स्थिति में उसे पहचानने में सहायक होती है। किंतु किसी भी शिकारी की चेतना में यह प्रत्यय स्थिर नहीं रहता और पूर्णता को तभी प्राप्त होता है, जब उसमें अन्य संबद्ध प्रत्यय भी आकर जुड़ जाते हैं। शिकार की वस्तु के रूप में किसी भी पशु के बारे में ज्ञात के आधार पर अज्ञात की पुनर्रचना करने, जैसे, उदाहरण के लिए, पीछा किये जाने के बाद अगले कुछ समय में उसके व्यवहार का पूर्वानुमान लगाने (इसी ने हांके की विधि से शिकार को जन्म दिया था) की संभावना, हमारे मत में, इंद्रियानुभव के परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्र का वह भाग है, जो आदिम मनुष्य की जीवन-सक्रियता के आखेटमूलक रूप से संबंध रखता है।

इस क्षेत्र की सीमाओं को आगे सुनिश्चित करते हुए हमें खाद्य-संग्रहण का भी ज़िक्र करना होगा। सोद्देश्य, विशेषीकृत खाद्य-संग्रहण सामाजिक विकास की निचली सीढ़ियों पर स्थित बहुत-सी समकालीन जातियों में भी पाया और दर्ज किया गया है। अनेक विद्वानों ने ठीक ही लिखा है कि ऐसा संग्रहण अकेला ही किसी समूह के जीवन-निर्वाह का ज़रिया नहीं हो सकता और वह अर्थ-व्यवस्था का एक अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती चरण में पैदा हुआ आनुषंगिक रूप है। किंतु खाद्य-संग्रहण अर्थव्यवस्था के एक विशेषीकृत रूप के नाते नहीं, अपितु किसी भी उपयुक्त आहार के सहज उपयोग के नाते प्राइमेटों समेत सभी शाकाहारी अवयवियों के जीवन का एक अनिवार्य घटक रहा है। इस प्रकार का खाद्य-संग्रहण जीवाश्मी होमिनिडों के लिए भी उनके विकास के आरंभिकतम चरणों से ही अत्यंत लाक्षणिक था। जो बात आखेट के मामले में हुई, वही खाद्य-

संग्रहण से संबंधित सक्रियता के मामले में भी हुई होगी, यानी खाद्य वनस्पतियों की तलाश में प्रयत्न-त्रुटि सिद्धांत छोड़ दिया गया होगा और इन वनस्पतियों के प्रसार के बारे में तथा जिस वानस्पतिक परिवेश में वे मिलती थीं, उसके बारे में पहले के, मगर अभी बहुत अधूरे प्रेक्षणों पर आधारित अटकलों का कम या ज़्यादा सहारा लिया जाने लगा होगा। चिंतन के विकास का पथ भी लगभग वैसा ही था – किसी निश्चित खाद्य-वनस्पति के प्रत्यय और जिन परिस्थितियों में वह मिलती थी, उनसे संबंधित किन्हीं अर्ध-सहजवृत्तिक धारणाओं से उसकी खोज के लिए जान-बूझकर किये गये प्रयत्नों की ओर।

ऊपर जो कहा गया है, वह आर्थिक चक्र के भ्रूणीय रूपों से संबंध रखता है, जैसे कि वे – हालांकि बहुत स्पष्टतः नहीं – आरंभिक पुरापाषाणकालीन स्थलियों के पुरातात्विक अध्ययनों द्वारा दर्ज किये गये हैं। किंतु इसके अतिरिक्त आर्थिकेतर परिघटनाओं का एक विशाल क्षेत्र भी है, जिससे आदिम मानव का अपरिहार्य रूप से वास्ता पड़ता था और जिस पर वह उतना ही निर्भर था, जितना कि खाद्य संसाधनों की अवस्था पर। हमारा आशय मौसम-चक्र और जलवायवी परिघटनाओं से है। प्राकृतिक विपदाओं का पूर्वानुमान कर पाना आधुनिक विज्ञान के लिए भी पूरी तरह संभव नहीं है, किंतु मौसमी प्रक्रियाओं की आवर्तिता को ठीक-ठीक जानना और उसके अनुरूप अपने को ढालना सर्वथा संभव है। शुष्क मौसम के बाद वर्षा का मौसम आता है, दिन के बाद रात होती है – ये आनुभविक प्रेक्षण हैं, किंतु इस क्रम की अपरिहार्यता की, उसकी अनिवार्य आवृत्ति की चेतना, स्पष्टतः, इंद्रियानुभव का सामान्यीकरण है। और जैसा कि हमने ऊपर देखा, स्वयं प्रेक्षण और उसका सामान्यीकरण चेतना के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से संबंध रखते हैं। शिकार और खाद्य-संग्रहण के मामलों में इंद्रियानुभव का सामान्यीकरण आहार की अधिक नियमित आपूर्ति में सहायक बनता था, जबकि प्राकृतिक प्रक्रियाओं की आवर्तिता तथा स्वरूप के प्रेक्षण तथा ध्यान में रखने के मामले में खराब मौसम से बचने के लिए शरणस्थल पहले से चुन तथा तैयार कर लेने, डेरों तथा रात्रिवास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थानों का चुनाव करने की,

यानी सारे जीवन-चक्र का निष्पादन करने की संभावना देता था।

अब जब इंद्रियानुभव के सामान्यीकरण के क्षेत्र की सीमाएं अपेक्षाकृत स्पष्ट हो गयी हैं, हम इस क्षेत्र के भीतर तर्क और अयौ-क्तिक सहभागिता की भूमिका का आकलन कर सकते हैं। पूर्ववर्ती विवेचन से, जैसा कि हम सोचते हैं, यह निष्कर्ष निकलता है कि इंद्रियानुभव के क्षेत्र की भांति इंद्रियानुभव के सामान्यीकरण का क्षेत्र भी बुनियादी तौर पर वास्तविक यौक्तिक तर्क के नियमों से शासित होता है। असल में रहस्यात्मक सहभागिता का प्राधान्य वहां होता है, जहां तेज़ी से और तत्काल काम करना होता है। जब किसी जानवर का पीछा किया जाता है, तो वह आगे क्या करेगा, इसका पूर्वानुमान लगाने की युक्तिसंगत क्रिया के बजाय कुछ ऐसे तर्कातीत साम्यानुमान काम करते हैं, जिनकी किसी भी तरह के यथार्थ व्यवहार से पुष्टि नहीं हुई है; नतीजे के तौर पर शिकार में कामयाबी नहीं मिलती और समूह आहार के बिना रह जाता है। खाद्य-संग्रहण के दौरान खाद्य वनस्पतियों से संबंधित वास्तविक ज्ञान को ध्यान में रखने तथा उपयोग में लाने के बजाय उनके प्रसार और जिन परिस्थितियों में वे उगती हैं, उनसे संबंधित अजीबोग़रीब धारणाओं से काम लिया जाता है। नतीजा फिर वही निकलता है: संग्रहण नाकामयाब रहता है और लोगों को आहार नहीं मिल पाता। अंत में, गौण साम्यानुमानों पर आधा-रित अयौक्तिक सहभागिता वहां फूलती-फलती है, जहां मौसम का पूर्वानुमान लगाने, आर्थिक चक्र व दैनंदिन जीवन के व्यव-स्थापन तथा मौसमी व शिकार से संबंधित स्थान-परिवर्तनों में इन पूर्वानुमानों को ध्यान में रखने, अस्थायी डेरे बनाने और गुफाओं तथा कंदराओं को आबाद करने की आवश्यकता होती है। स्पष्टतः, इसके परिणाम घातक ही होंगे: अव्यवस्था पैदा होगी, गंभीर बीमारियां फैलेंगी और आर्थिक सक्रियता की उत्पादिता घट जायेगी। यह कहना काफ़ी हद तक उचित ही होगा कि यदि अयौक्तिक तर्क या सांयोगिक, सतही साम्यानुमानों के ज़रिये सहभागिता का तर्क अपने को इंद्रियानुभव के सामान्यीकरण के क्षेत्र के किसी भाग में प्रकट कर सकता था, तो यह निश्चय ही अत्यंत सीमित पैमाने पर होता था। इसके अलावा आज यह स्पष्टतः बता पाना कठिन है

कि उसका यदि कोई प्रभाव पड़ता था, तो किस रूप में पड़ता था। दूसरी ओर, यौक्तिक तर्क की परिधि में इंद्रियानुभव के क्षेत्र की भांति, संभवतः, इंद्रियानुभव के परिणामों के सामान्यीकरण का भी सारा क्षेत्र आ जाता था।

अमूर्त चेतना का क्षेत्र मनुष्य की चेतना का सबसे जटिल क्षेत्र है। यह बता पाना कठिन है – और थोड़ा-बहुत भी निश्चायक ढंग से, परिकल्पनात्मक आधार पर नहीं, अपितु वस्तुपरक पुरातात्विक एवं पुरामानववैज्ञानिक प्रेक्षणों के आधार पर बता पाना तो बहुत ही कठिन है – कि अमूर्तन का आरंभ कब हुआ था। फिर भी माना जा सकता है कि शब्द के पूर्ण अर्थ में अमूर्त चिंतन का आविर्भाव मानवोत्पत्ति के अंतिम चरणों में हुआ होगा और नियंडरथल मानव तथा उसके बाद आधुनिक मानव के निर्माण से संबंध रखता था। जैसा कि हम इससे पहले के दो अध्यायों में बता चुके हैं, एतद्विषयक काफ़ी सामग्री उपलब्ध है कि उनके समुदायों में प्रतीकमूलक चिंतन, कला, आदि अस्तित्व में आ चुके थे। मोटे तौर पर कहें, तो अमूर्त चेतना का क्षेत्र प्रकृति तथा मानव समाज की सर्वाधिक सामान्य परिघटनाओं तथा प्रक्रियाओं की सैद्धांतिक व्याख्या का क्षेत्र है और आदिम चिंतन के स्तर पर उसके अंतर्गत वह सब कुछ आ जाता है, जिसे प्रसिद्ध फ़्रांसीसी समाजशास्त्री, धर्म-अध्येता और मनोविज्ञानी एल० लेवी-ब्रूल ने अपनी रचनाओं में "तर्कातीत सहभागिता के नियम" की क्रिया की मिसालें बताया है और सभ्य मनुष्य के यौक्तिक तर्क के विरोध में रखा है। बाद के युगों के सभी अंधविश्वासों की भांति सब प्रकार के आदिम विश्वास बहुत हद तक तर्कातीत होते हैं और उनमें जो यौक्तिक तत्व होता है, वह अपने को परि-घटनाओं तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या के ढंगों में इतना नहीं, जितना कि व्याख्या के प्रयत्न में व्यक्त करता है। लेवी-ब्रूल ने जिस नियम की प्रकल्पना की है, उसकी क्रिया को यदि उन्होंने आदिम मनुष्यों की जादुई और धार्मिक-मनोवैज्ञानिक धारणाओं के दायरे तक ही सीमित रखा होता और उनके जीवन के सारे क्षेत्रों पर लागू न किया होता, तो उनके मत का इतना तीव्र और कुछ बातों में उचित विरोध न किया जाता। इतना ही नहीं, एल० लेवी-ब्रूल को इसका अनन्य श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने अन्य सब विद्वानों से अधिक पूर्णता, स्पष्टता

तथा विश्वासोत्पादकता के साथ आरंभिक धार्मिक विश्वासों में अयौक्तिक की, जिसने आगे चलकर रहस्यात्मकता का रूप ले लिया, भूमिका को प्रदर्शित किया। वास्तव में धार्मिक विश्वास यौक्तिक के निषेध के तौर पर ही पैदा होते हैं, क्योंकि अल्प इंद्रिया-नुभव होने के कारण वह आदिम मनुष्य द्वारा परिवेशी प्रकृति तथा स्वयं अपने मानस की परिघटनाओं की व्याख्या किये जाने के लिए पर्याप्त नहीं पड़ता था।

चेतना के क्षेत्रों के आविर्भाव और आदिम चिंतन के तार्किक तथा अयौक्तिक पहलुओं के निर्माण का काल जानने के लिए जरूरी है कि ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे एक कालानुक्रमिक पैमाने में बहिर्वेशित किया जाये। अभी-अभी बताया गया था कि अमूर्त चिंतन के क्षेत्र के आविर्भाव का काल-निर्धारण कितना भी कठिन क्यों न हो, उसका निर्माण बहुत करके मध्य पुरापाषाण काल में आरंभ हुआ था। इंद्रियानुभव का क्षेत्र और उसके परिणामों के सामान्यीकरण का क्षेत्र, हमारे मतानुसार, कालक्रम की दृष्टि से एक दूसरे से अविभाज्य हैं; दोनों स्वयं आदिम चिंतन के साथ पैदा हुए थे और आदिम चिंतन का जन्म, संभवतः, होमिनिडों के उद्‌विकास के आरंभिक चरणों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। पूर्ववर्ती अध्याय में हमने देखा था कि इस उद्‌विकास के पहले चरण के प्रतिनिधि – आस्ट्रेलोपिथेकस – वास्तविक मानव वाक्-प्रकार्य से अपरिचित थे और केवल पशुओं जैसा संप्रेषण जानते थे। वहीं हमने प्राग्वाचिक संकल्पनाओं के अस्तित्व और भाषारहित प्रत्ययमूलक चिंतन की विद्यमानता में संदेह भी व्यक्त किया था। यदि यह सब वास्तव में वैसा है, जैसा हम सोचते हैं, तो चेतना के जिन क्षेत्रों को हमने इंद्रियानुभव का क्षेत्र और उसके परिणामों के सामा-न्यीकरण का क्षेत्र कहा है, उनका निर्माण होमिनिडों के उद्‌विकास के अगले चरण में, अर्थात वाक् तथा भाषा से परिचित पिथिकैं-थ्रोपसों के युग में हुआ होगा। इस प्रकार, चिंतन का निर्माण अयौ-क्तिक रूप में नहीं, अपितु अत्यंत यौक्तिक रूप में होता है और तर्कातीत उसके विकास के एक निश्चित चरण में पैदा होता है तथा आगे तार्किक के समानांतर विकास करता है।

मानसिक क्रियाओं की सारी बहुविधता चेतना के उपरोक्त

तीन क्षेत्रों के साथ ही ख़त्म नहीं हो जाती है। एक व्यापक, स्वतंत्र क्षेत्र और भी है, जो चेतना के क्षेत्रों का प्रतिध्रुवस्थ है। यह अचेतन का क्षेत्र है। ज़िगमुंड फ़्रायड और उनके अनुयायियों की इतनी अधिक लोकप्रिय हुई रचनाएं इस क्षेत्र की गहराइयों और मानव मानस की बहुत ही विविध अभिव्यक्तियों पर उसके प्रभाव का उद्घाटन करने से ही संबंध रखती थीं। जैसा कि परवर्ती आलोचना ने अकाट्य रूप से दिखाया, इन रचनाओं में बहुत कुछ भ्रांतिजनक था, फिर भी उन्होंने मानसिक क्रियाओं के उच्चतम चरणों के कार्य में अचेतन, गूढ़ अनुबंधित एवं अननुबंधित प्रतिवर्तों की महत्वपूर्ण भूमिका का प्रदर्शन करके बड़ा सकारात्मक प्रभाव छोड़ा। अचेतन के लिए अपने अतिशय उत्साह के कारण फ़्रायड (१९२३) ने आदिम संस्कृति की सभी बुनियादी परिघटनाओं की जांच उसके ज़रिये करने का प्रयत्न किया, जिसमें कुल मिलाकर उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिल पायी, क्योंकि, स्पष्टतः, सभी सांस्कृतिक उपलब्धियां मानस के अचेतन क्षेत्र के बजाय सचेतन क्षेत्रों के आधार पर ही ज़्यादा पनपती हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे अचेतन की समस्या और आदिम मनुष्य के मानस में उसके स्थान की समस्या ख़त्म हो जाती हैं। इस विषय पर महत्वपूर्ण अनुसंधानों की संख्या भी इतनी अधिक बड़ी है कि यहां हमारे लिए उन सबका विवरण दे पाना और आलोचनात्मक विश्लेषण कर पाना संभव नहीं है। अंत में हम सिर्फ़ इस बात पर बल देंगे कि अचेतन के क्षेत्र का अभी और गहन अध्ययन किया जाना आवश्यक है, मगर सिद्धांत रूप में इतना अब भी कहा जा सकता है कि आदिम मानस में उसकी भूमिका इंद्रियानुभव, इंद्रियानुभव के परिणामों का सामान्यीकरण और अमूर्त चिंतन जैसे चेतना के क्षेत्रों की तुलना में सीमित थी।

निदर्शनात्मक प्रहस्तन और औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की उत्पत्ति

दूसरे अध्याय में हमने औज़ारनिर्माण संबंधी या श्रम सक्रियता की उत्पत्ति के काल के निर्धारण और उसके आरंभिक चरणों के पुनर्कल्पन के विषय में पुरातत्व से उपलब्ध सूचना का निचोड़

पेश करने का प्रयत्न किया था। परिघटनाओं के स्रोत तथा उनकी आधारिक पूर्वशर्तें उनके भ्रूण में खोजने की अपनी सामान्य विधि का पालन करते हुए हमने वानरों द्वारा बाहरी वस्तुओं के प्रहस्तन के बारे में उपलब्ध जानकारी पर संक्षेप में विचार किया था। किंतु उसमें प्रहस्तन का एक विशिष्ट रूप, जिसका वर्तमान अध्याय की विषयवस्तु से घनिष्ठ संबंध है, अविवेचित ही छूट गया था। प्रहस्तन के इस रूप का अपने आप में नहीं, बल्कि वानरों में अनुकारी क्रिया की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रबल विकास के कारण बहुत बड़ा महत्व है। सोवियत विद्वान क० फ़ाब्री (१९७४) ने प्रहस्तन के इस रूप की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट किया था और उसे निदर्शनात्मक प्रहस्तन का नाम दिया था। व्यवहार का ऐसा रूप सामान्यतः वयस्क आयु के बहुत-से स्तनपायी प्राणियों में पाया जाता है, किंतु इस मामले में वानर विशेष स्थान रखते हैं: उनमें निदर्शनात्मक प्रहस्तन बहुत ही ज़्यादा और अनेकानेक रूपों में पाया जाता है। दूसरे प्राणी प्रहस्तक की क्रियाओं की पुनरावृत्ति कर सकते हैं, किंतु यह पुनरावृत्ति क़तई आवश्यक नहीं है और अधिकांशतः पुनरावृत्ति नहीं, अपितु प्रहस्तनकारी वानर की क्रियाओं का ध्यानपूर्वक प्रेक्षण दर्ज होता है। यह जैसे कि एक ही अभिनेतावाला थियेटर है (का० फ़ाब्री "अभिनेता" शब्द का प्रत्यक्ष नहीं, अपितु आलंकारिक अर्थ में प्रयोग करते हैं), जिसमें प्रेक्षणकारी प्राणी दर्शकों की भूमिका निभाते हैं।

प्राइमेटों के समुदायों में ऐसे व्यवहार की प्रकार्यात्मक भूमिका क्या है? क० फ़ाब्री उसकी संप्रेषणात्मक तथा संज्ञानमूलक कार्यों के रूप में व्याख्या करते हैं, जिनके दौरान एक प्राणी किसी वस्तु से परिचय के अपने अनुभव का प्रदर्शन करता है और दूसरे दूर से उसे देख सकते हैं, इस अनुभव से लाभ उठा सकते हैं और वस्तु को स्वयं छुए बिना उसके बारे में तथा उसके गुणधर्मों के बारे में जान सकते हैं। ऐसा व्यवहार मानवोत्पत्ति के आरंभिक चरण की ओर संक्रमण के दौरान कैसे बदल सकता था तथा कार्योपयोगी बन सकता था? इस विषय से संबंधित अपनी पुस्तक 'प्राणिमनोविज्ञान के मूलतत्त्व' में क० फ़ाब्री ने निदर्शनात्मक प्रहस्तन के प्रश्न का निरूपण उचित ही अंतिम अध्याय में किया है, जिसका शीर्षक है 'मानस

का उद्विकास और मानवोत्पत्ति'। बढ़ते हुए अनुभव के द्रुततर तथा पूर्णतर प्रसार में ऐसे व्यवहार की भूमिका असंदिग्ध रूप से बड़ी है – विशेषतः आस्ट्रेलोपिथेकसों के चरण में, जब वाक् के अभाव में इंगित संप्रेषण सफलतापूर्वक ध्वनिक संप्रेषण की अनुपूर्ति कर सकता था। किंतु निदर्शनात्मक प्रहस्तन का इतना ही महत्वपूर्ण एक और पहलू भी था। हमारा आशय औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की उत्पत्ति में निदर्शनात्मक प्रहस्तन की भूमिका से है। तुलनात्मक प्राणिमनोविज्ञान और जीवपारिस्थितिकी के लगभग सभी विशेषज्ञों ने बहुत ही अलग-अलग क़िस्म के पशुओं में अनुकरण के उच्च विकास तथा व्यापक प्रसार का उल्लेख किया है और बताया है कि अनुकारी योग्यताओं के विकास की दृष्टि से वानर भी इसके अपवाद नहीं हैं। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि कुछ प्राणियों की किन्हीं वस्तुओं का संसाधन-विधायन करने की ओर लक्षित साधारण क्रियाओं – पत्थर पर चोट करना, लकड़ी या हड्डी से सोंटा बनाना, आदि – को दूसरों द्वारा देखा और न्यूनाधिक सफलता के साथ नक़ल किया जाता था। ठीक इसी तरीक़े से पहले अतिसाधारण तकनीकी नवाचारों और परंपराओं का भी प्रसार हो सकता था। इस प्रकार, निदर्शनात्मक प्रहस्तन और अनुकरण, दोनों ने मिलकर औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता की ओर संक्रमण में एक निश्चित भूमिका निभायी होगी, अर्थात, दूसरे शब्दों में, समुदाय के कुछ सदस्यों की तकनीकी खोजों तथा नवाचारों को सारे समुदाय द्वारा अपनाये जाने को, युक्तिसंगत ढंग से अपनाये जाने को (जो यहां हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है) प्रोत्साहित किया होगा।

बुनियादी विरोधों और मानसिक अचरों की उत्पत्ति के बारे में

बुनियादी विरोध किन्हें कहते हैं? मनोविज्ञान, विशेषतः समकालीन मनोविज्ञान, में यह संकल्पना व्यापक तौर पर इस्तेमाल की जाती है और मनोविज्ञान के क्षेत्र से उसे नृजातिविज्ञान और संस्कृति-अध्ययन के क्षेत्रों में भी अपना लिया गया है। बुनियादी विरोध उन अतिसाधारण वर्गीकरण सिद्धांतों को कहते हैं, जिनकी मदद

से आपस में किसी सामान्य सूत्र से जुड़ी हुई परिघटनाओं को साथ ही एक दूसरे के विरोध में रखा जाता है और युग्मों अथवा त्रिकों में से अलग किया जाता है। बुनियादी विरोधों के रूप में ऐसे वर्गीकरण सिद्धांतों का आविष्कार १८९६ में इंगलैंड में आर० डेन्नेट द्वारा और १९०२ में फ़्रांस में ई० द्युर्कहाइम तथा एम० मॉस्स द्वारा एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से किया गया था। अपने अनुसंधानों द्वारा उन्होंने आदिम चिंतन में युग्म प्रतीकों और द्विचर विरोधों, अर्थात आमने-सामने रखने के सिद्धांत के आधार पर, "हां-ना", "काला-सफ़ेद", आदि के सिद्धांत के आधार पर विरोधों के अनन्य महत्व का प्रदर्शन किया था। ठीक-ठीक कहें, तो अपनी सरलता के कारण, शायद, विरोधों का यह रूप ही सबसे बुनियादी (और, संभवतः, आद्य भी) रूप है। कुछ भी हो, बहुत-से विद्वान ऐसा ही सोचते हैं, यद्यपि, जैसा कि हम आगे चलकर पायेंगे, इसे दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है।

आजकल के या वर्तमान युग से कुछ ही समय पहले तक विद्यमान आदिम समुदायों में सामाजिक संरचनाओं के क्षेत्र में भी और आत्मिक संस्कृति के क्षेत्र में भी द्विचर विरोधों का बहुत व्यापक प्रचलन पाया जाता है। अ० ज़ोलोतार्योव (१९६४) ने बहुत-सी जातियों में द्विचर विरोधों की प्रणाली से संबंध रखनेवाली सामाजिक संस्थाओं की विद्यमानता का उल्लेख किया है और आदिम समाज के विकास के आरंभिक चरणों में अपने स्वरूप की दृष्टि से द्वैतात्मक युग्मज पूजा की भूमिका तथा प्रचलन को दिखाया है। ज़ोलोतार्योव के बाद ऐसा ही उपागम के० लेवी-स्ट्रॉस ने भी विकसित किया (यद्यपि प्रकाशन के मामले में वह ज़ोलोतार्योव से बाज़ी मार ले गये थे – उनकी पुस्तक १९५८ में ही प्रकाशित हो गयी थी)। लेवी-स्ट्रॉस बहुत-सी सामाजिक संस्थाओं में लगभग हर कहीं द्विविभाजन और द्विचर विरोध की व्यापकता का प्रदर्शन करनेवाले अनेकानेक नये तथ्य प्रकाश में लाये। प्राचीन समाजों की सामाजिक संरचना में द्विचर विरोधों की भूमिका को उजागर करने के अलावा उन्होंने बहुत-से ऐसे तथ्यों की ओर भी ध्यान खींचा, जो दिखाते हैं कि ये विरोध पूजा-उपासना और आदिम कला के क्षेत्र में भी कम प्रचलित न थे। ये तथ्य लोक-वार्ता और सांस्कृतिक-ऐतिहासिक

सामग्री से ही नहीं लिये गये थे, बल्कि द्विचर विरोध के दृष्टिकोण से भाषावैज्ञानिक सामग्री के विश्लेषण से भी प्राप्त किये गये थे।

नृजातिविज्ञानी ऐसे प्रचुर तथ्य एकत्र कर चुके हैं, जो दिखाते हैं कि आनुष्ठानिक और मिथकीय संकेत प्रणालियों को सामान्य तार्किक संरचनाओं में वैसे ही परिणत किया जा सकता है, जैसे साथ ही भाषा में द्विचर विरोधों को किया जाता है। इन तथ्यों का सामान्यीकरण जैसे कि विभिन्न संकेत प्रणालियों की शृंखलाओं के बीच सादृश्य पाने और उनकी उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी आधार-भूत तार्किक संरचनाओं के बारे में एक प्राक्कल्पना के प्रतिपादन के निकट पहुंचने की संभावना देता है, यद्यपि ऐसी प्राक्कल्पना के लिए अधिक गहन निरूपण और उसके मूल में स्थित बुनियादी संकल्पना-तंत्र का आगे विश्लेषण आवश्यक हैं।

तो ये तथ्य क्या हैं? क्या वे मनुष्य के मानस की किन्हीं समाजसापेक्ष विशेषताओं को ही प्रतिबिंबित करते हैं (जैसे, उदाहरण के लिए, मानसिक क्षेत्र में सामाजिक संस्थाओं के द्वैध ढांचे का प्रतिबिंब, जो, निस्संदेह, बड़ा सपाट, आदिम क़िस्म का लगता है), या ऐसे जन्मजात मानसिक गुणों के सबूत हैं, जिनका स्वरूप सामा-जिक नहीं, अपितु आनुवंशिक है? वर्तमान काल में इस प्रश्न का व्यापक और सर्वांगीण उत्तर शायद ही दिया जा सकता है, क्योंकि सामूहिक मनोवैज्ञानिक धारणाओं का अभी कम ही अध्ययन हो पाया है।

सर्वतोमुखी अध्ययन के बिना किसी भी मनोवैज्ञानिक परिघटना की ऐतिहासिक भूमिका को पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इसके अलावा यह भी पर्याप्त रूप से नहीं जाना जा सकता कि प्राचीनतम मानव समुदायों की किन्हीं निश्चित सामाजिक संरचनाओं की उत्पत्ति किस हद तक इस कारक के जन्मजात तत्त्वों की क्रिया का फल है।

बहुत संभव है कि सममिति के प्रकृति में यथार्थतः विद्यमान किसी एक रूप की चेतना उस जन्मजात मानसिक संरचना के तौर पर काम करती है, जिससे द्विचर विरोधों का निर्माण होता है। सजीव प्रकृति में द्विपक्षीय सममितिवाले पिंडों की प्रधानता की खोज और सममिति के सिद्धांत के सामान्य ज्यामितिक तथा भौतिक

आधारों के निर्माण के बाद जैव तथा अजैव, दोनों विश्वों में सममिति का अध्ययन प्रकृति के इतिहास से संबंधित प्रायः सभी शाखाओं में अतिशय महत्वपूर्ण बन गया। इस क्षेत्र में किये गये काम का संक्षिप्त सिंहावलोकन भी हमें अपने विषय से बहुत दूर ले जायेगा। और फिर यहां हमारे लिए प्रत्यक्ष महत्व केवल जैव सममिति रखती है। इस क्षेत्र में दीर्घकालिक अनुसंधानों की बदौलत जैव पदार्थ की सममिति के विभिन्न रूपों का पता लगाया और काफ़ी स्पष्टता के साथ विशिष्टता-वर्णन किया जा सका है। विचाराधीन समस्या के लिए दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति, सजीव पिंडों का दक्षिण तथा वाम अर्धांशों में विभाजन और उनका दक्षिण तथा वामपक्षीय सममितियुक्त वस्तुओं के रूप में वास्तविक अस्तित्व विशेष महत्व रखते हैं। जीवाश्मी होमिनिडों का सममिति के इस रूप से अपने जीवन की सभी महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों में साक्षात्कार होता था। उदाहरण के लिए, शिकार में वे मारे गये पशु के शरीर में दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति पाते थे, फिर इसी तरह की सममिति अन्य लोगों के शरीर की रचना में देखते थे और, अंत में, पाते थे कि वह, अर्थात दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति, उनके अपने शरीर का भी एक गुण है। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि मनुष्य के प्राचीनतम पूर्वजों और आधुनिक मानव के आकृतिक गठन में यह दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति पूर्ववर्ती रूपों की लंबी शृंखला में साकार बने विकास के दीर्घ उद्विकासमूलक मार्ग का परिणाम थी।

ज्यों ही हम मनुष्य और उसके पूर्वजों की आकृति में सममिति की समस्या पर आते हैं, एक महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख अवश्य ही किया जाना चाहिए। जीवाश्मी होमिनिडों में ही हमें इसका प्रमाण मिल जाता है कि शरीर के अनुदैर्घ्य तल के संबंध में सममित आकृतिक संरचना में एक कार्यात्मक असममिति थी – श्रम क्रियाओं में अधिकांशतः दायें हाथ का इस्तेमाल होता था और वैसे भी काम की प्रक्रियाओं में शरीर के दक्षिण तथा वाम भाग एक दूसरे के मुक़ाबले में रखे जाते थे। पत्थर के औज़ारों की सममिति के स्वरूप और उन पर पाये गये प्रयोग-चिह्नों के गहन अध्ययन से इस सर्वथा उचित निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि नियंडरथल मानव मुख्य रूप

से अपने दायें हाथ से काम करता था, यानी नियंडरथलीय अवस्था में ही वह कार्यात्मक असममिति उत्पन्न हो गयी थी, जो वर्तमान मनुष्य की भी विशेषता है। संभव है कि ऐसी सममिति का आविर्भाव मस्तिष्क के गोलार्धों के युग्म कार्य से संबंध रखता था और मस्तिष्क के उद्‌विकास की किन्हीं अभी अज्ञात प्रवृत्तियों का परिणाम था। उल्लेखनीय है कि यह युग्म कार्य स्थानिक अभिविन्यास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। ज्यों-ज्यों शिकार के तरीक़े जटिल बनते गये, गुफाओं का आवास के तौर पर प्रयोग बढ़ा, काफ़ी व्यापक इलाक़ों में शिकार किया जाने लगा और भागते हुए जानवर का देर तक पीछा किये जाने, अल्पपरिचित जगहों से होते हुए तथा कभी-कभी तो अंधेरे में घर लौटने की आवश्यकता पैदा हुई, त्यों-त्यों मानवोत्पत्ति में स्थानिक अभिविन्यास का महत्व बढ़ता गया।

कार्यात्मक असममिति से पुनः दक्षिण तथा वामपक्षीय आकृतिक सममिति पर आते हुए, जो इस कार्यात्मक असममिति से लगभग बिल्कुल भी भंग नहीं होती है, इस तथ्य का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए कि उससे सममिति के कुछ अन्य अतिसाधारण रूप भी संबंध रखते हैं, जो बाद में सबसे सामान्य प्रकार के द्विचर विरोधों – ऊर्ध्व और अधर, अग्र और पश्च, मध्य और छोर, आदि प्रतिस्थापनों – के लिए आधार बने। दिक् और बहुत-सी जीवनीय स्थितियों में अभिविन्यास को उत्तरोत्तर परिष्कृत बनाते हुए ये प्रतिस्थापन (उनकी संख्या निश्चय ही काफ़ी बड़ी रही होगी और आदिम समुदायों के जीवन के सभी पहलुओं के संदर्भ में उनकी सूची बनाना प्रागैतिहासिक समाज़ से संबंधित विज्ञान के लिए एक दिलचस्प कार्य हो सकता है) द्विपक्षीय सममिति के साथ मिलकर निरंतर द्वि-अंगी प्रतीक योजना के निर्माण के लिए और साथ ही द्विचर विरोधों के निर्माण के लिए भी पूर्वाधार तैयार करते थे। साहित्य में इन दो श्रेणियों की परिघटनाओं (जैव सममिति और युग्म विरोध) के बीच सादृश्य को इंगित करनेवाली संक्षिप्त प्रस्थापनाएं मिलती तो हैं, किंतु, खेदवश, अभी तक उन्हें किसी प्रकार से आगे विकसित नहीं किया गया है।

मनुष्य के प्राचीनतम पूर्वजों के जन्मजात व्यवहार-संरूप में द्विचर विरोधों और सामान्यरूपेण द्वि-अंगी प्रतीक योजना के जड़ें

जमाने का क्या रूप रहा होगा? उपलब्ध सामग्री के आधार पर सोचा जा सकता है कि प्राइमेटों के शरीर के दायें तथा बायें अर्धांशों में कार्यात्मक असममिति होती है, यद्यपि आधुनिक प्ररूप के मानव जितने स्पष्ट रूप में नहीं।

बहुत संभव है कि प्राचीन होमिनिडों में इस असममिति की वृद्धि श्रम क्रियाओं का प्रत्यक्ष और श्रम की प्रक्रिया में कार्यात्मक असममिति के अभी तक अज्ञात किन्हीं लाभों का अप्रत्यक्ष परिणाम थी। किंतु कुछ भी हो, मानवोत्पत्ति और उसके समानांतर बढ़ रहे चिंतन के कार्य के दौरान शरीर के दक्षिण तथा वाम अर्धभागों के परस्पर प्रतिस्थापन की वृद्धि के फलस्वरूप किसी – हमारे मतानुसार आरंभिक – चरण में, उदाहरणार्थ, पिथिकैंथ्रोपसोंवाले चरण में, दायें और बायें हाथों के, शरीर के दक्षिण तथा वाम भागों के परस्पर प्रतिस्थापन की चेतना को, दूसरे शब्दों में, दक्षिण तथा वामपक्षीय असममिति की चेतना को उत्पन्न होना ही था। बहुत करके मानसिक क्षेत्र में इस ढंग की चेतना ने ही द्वि-अंगी प्रतीक योजना की उत्पत्ति का आधार तैयार किया।

किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि बात इस आरंभिक उत्प्रेरण तक ही सीमित नहीं रही और द्वि-अंगी प्रतीक योजना आरंभ से ही मानसिक क्षेत्र का एक ऐसा तत्त्व बन गयी, जो जिन विषयियों के चिंतन में द्विचर विरोधों के भ्रूण पनप रहे थे, उन्हें एक तरह का मनोवैज्ञानिक लाभ प्रदान करता था। ये विरोध आदिम मनुष्य के, जिसका, जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, दैनंदिन जीवन में द्विचर विरोधों से प्रायः साक्षात्कार होता था, तार्किक तंत्र में विश्व के संज्ञान का सशक्त साधन थे। स्वाभाविकतः, इस तार्किक तंत्र का कार्य चेतना के उन क्षेत्रों में प्रकट होता था, जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं और जो इंद्रियानुभव और उसके परिणामों के सामान्यीकरण से संबंध रखते हैं। संभवतः, द्विचर विरोधों को तार्किक क्षेत्र में अंतरित करने और उन्हें सृष्टि की मुख्य विशेषता के रूप में पहचानने की योग्यता काफ़ी पहले ही वरण की क्रिया का विषय बन गयी थी और शिकार में सफलता, स्थानिक अभिविन्यास की यथार्थता तथा कुछ हद तक प्रतिक्रियाओं की निरंतर जटिल बन रहे सामाजिक परिवेश से अनुरूपता को निर्धारित करती थी।

ज्यों-ज्यों मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में वरण की निर्माणकारी भूमिका घटती गयी, त्यों-त्यों इस मनोवैज्ञानिक विशेषता के संबंध में वरण के तंत्र का प्रभाव भी, स्वाभाविकतः, कम होता गया। आगे चलकर उसका स्थिरीकरण पहले से बनी हुई, आनुवंशिकतः निर्धारित प्रतिक्रियाओं की प्रणाली के आधार पर ही होने लगा।

इस प्रकार, संभवतः, द्वि-अंगी प्रतीक योजना बहुत सारे पार्थिव प्राकृतिक पिंडों तथा संबंधों की द्विचर दक्षिण तथा वामपक्षीय सममिति का और उसकी पृष्ठभूमि में मानव शरीर की आकृतिक सममिति तथा कार्यात्मक असममिति के संज्ञान का ही परिणाम नहीं है, अपितु मानवोत्पत्ति के आद्यतम चरणों में वरण द्वारा आवश्यक तार्किक संरचना के आनुवंशिक स्थिरीकरण और जन्मजात व्यवहार-संरूप के स्तर पर अंतरण का भी परिणाम है। व्यवहार के अर्जित तंत्रों के जन्मजात तंत्रों में और अनुबंधित प्रतिवर्तों के अननुबंधित प्रतिवर्तों में संक्रमण के शरीरक्रियात्मक तंत्रों का निर्माण कैसे होता है, यहां हम इसका गहराई में विवेचन नहीं कर सकते और पाठक को इस बारे में प्रकाशित विशेष रचनाओं का सहारा लेने की सलाह देंगे। कुछ पृष्ठ पहले जो प्रश्न उठाया गया था, यानी यह कि द्विचर विरोध मनुष्य के मानस के समाजसापेक्ष लक्षण हैं या आनुवंशिक, उसके उत्तर के संबंध में भी हम जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसे देखते हुए दूसरे विकल्प को प्राथमिकता देने की आवश्यकता पर ही ज़ोर देंगे।

त्रिचर अथवा त्रि-अंगी विरोध, तीन तत्त्वों का परस्पर-प्रतिस्थापन भी चिंतन के वर्गिकीय कार्य की एक बुनियादी क्रिया है और आदिम चिंतन में उसकी भी बहुत बड़ी भूमिका है।

प्रायः त्रिचर विरोधों की आकारपरक तर्क के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए उन्हें दो परस्परप्रतिस्थापित तत्त्वों की मध्यवर्ती कड़ी की चेतना और एक तीसरे, स्वतंत्र तत्त्व के रूप में इस कड़ी का पृथक्करण माना जाता है। हम समझते हैं कि यह व्याख्या काफ़ी कष्टकल्पित है, क्योंकि उसमें यह बात बिल्कुल ही अस्पष्ट रह जाती है कि तत्त्वों के बीच की कड़ी को क्या और कैसे एक स्वतंत्र, उनके समकक्ष तत्त्व समझ लिया गया और पहले स्थापित द्विचर विरोध के सिद्धांत के अनुसार उन दोनों के मुक़ाबले में नहीं रखा

गया। इस खींच-तानकर की गयी व्याख्या का विरोध करते हुए, जो इसलिए भी कम विश्वसनीय लगती है कि परस्परप्रतिस्थापित तत्त्वों के बीच की कड़ी की चेतना पर्याप्त विकसित तथा परिष्कृत चिंतन के लिए ही संभव तार्किक क्रिया है, हम उसके मुक़ाबले में पुरुष के व्याकरणिक प्रवर्ग के साथ त्रिचर विरोधों के संभावित संबंध की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। पूर्ववर्ती अध्याय में इस मत के पक्ष में कई दलीलें दी गयी थीं कि वाक् का आरंभिक रूप संवादपरक था और बोलने के दौरान सूचना का इकतरफ़ा संप्रेषण नहीं, अपितु दोतरफ़ा विनिमय होता था। हमने यह भी कहा था कि एकालापी वाक् को नियंडरथल चरण से जोड़ा जाना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि इस चरण में व्यक्ति का व्यक्तित्व मूर्त रूप ग्रहण करता है और उसमें पहली बार अपने "अहं" की चेतना उत्पन्न होती है। किंतु इस "अहं" का अवबोधन उस व्यक्ति की स्वतंत्रता का अहसास किये बिना नहीं हो सकता था, जिसके यह अहं संपर्क में आता था। न ही वह इस दूसरे व्यक्ति के अन्य सभी व्यक्तियों से भिन्न होने की चेतना के बिना ही संभव था, जो दत्त क्षण में इस संपर्क में भाग नहीं ले रहे थे। इस तरह पुरुष का व्याकरणिक प्रवर्ग और वस्तु जगत का क्रिया के कर्त्ता और यह क्रिया जिस वस्तु को संबोधित है, उसमें तथा अन्य सभी वस्तुओं में विभाजन उत्पन्न हुआ।

न० मार्र ने इस धारणा के पक्ष में कई अकाट्य तर्क दिये हैं कि प्रकृति की मानवीकृत शक्तियों को भारोपीय भाषाओं के इस अंतिम प्रवर्ग में सम्मिलित किया जाना चाहिए। उन्होंने, उदाहरणार्थ, फ़्रांसीसी के **il fait chaud** (गरमी है) या जर्मन के **es regnet** (वर्षा हो रही है) जैसे प्रयोगों की इस दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए उन्हें अन्य पुरुष के प्रवर्ग में आनेवाले "भाववाच्य पदों" की मिसाल बताया। आगे चलकर अन्य परिवारों की भाषाओं से भी इसकी बहुत-सी अतिरिक्त मिसालें पेश की गयीं। यह सब आदिम चेतना में "वह" प्रवर्ग के महत्व को रेखांकित करता था (अन्यथा हो भी नहीं सकता था), जबकि "मैं" और "तुम" के प्रवर्गों का महत्व प्रत्यक्षरूपेण संवाद में ही अनुभव किया जाता था।

हमारे मत में, वस्तुओं, व्यक्तियों के संबंधों का ऐसा विभाजन

दो तत्त्वों के बीच की अनुमानित कड़ी के एक स्वतंत्र तत्त्व के तौर पर सामान्यीकरण की, जो स्वतः ही त्रयी की उत्पत्ति की ओर ले जाती है, काफ़ी हद तक कृत्रिम प्राक्कल्पना के बजाय कहीं अधिक स्वाभाविक ढंग से त्रिचर विरोधों की ओर, त्रयात्मक विघटन के प्रवर्ग का वर्गीकरण के एक सार्वभौम तार्किक सिद्धांत के रूप में सामान्यीकरण करने की ओर ले जाता है। इस प्रकार, सोचा जा सकता है कि नियंडरथल मनुष्यों में त्रिचर विरोध, जन्मजात द्विचर विरोधों के विपरीत, भाषा और चेतना में पुरुष के प्रवर्ग की उत्पत्ति की प्रक्रिया में प्रकट हुए होंगे। इंद्रियानुभव के क्षेत्र में और उसके परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्र में, जहां, जैसे कि ऊपर बताया जा चुका है, यौक्तिक तर्क का प्राधान्य था, बुनियादी विरोधों की उत्पत्ति में भेद था। ये मानसिक संरचनाएं अपनी उत्पत्ति में आनु-वंशिकतः नियत और भाषा के विकास द्वारा अनुबंधित थीं।

इससे लगभग स्वतः ही हम इस प्रस्थापना पर पहुंच जाते हैं कि आदिम मनुष्य के मानस में कुछ अधिक व्यापक – बुनियादी विरोधों की तुलना में अधिक व्यापक – क़िस्म के अचर मौजूद थे। इस विषय पर इतनी अधिक सामग्री उपलब्ध है कि उस सबका यहां सरसरी तौर पर विश्लेषण कर पाना संभव नहीं है। यहां पुरा-पाषाणकालीन कला की अत्यंत उत्कृष्ट तथा विपुल कृतियां भी हैं, औज़ारों की आकृतियों का स्थायित्व भी है, पुरापाषाणकालीन क़ब्रों में उन्हें और बलि किये हुए पशुओं को रखे जाने के ढंग की आवृत्ति-शीलता भी है और बहुत सारी दूसरी चीज़ें भी हैं। हमें लगता है कि यहां विवेचित प्रश्नों – आदिम प्रौद्योगिकी में प्रतिबिंबित आधारिक मानसिक संरचनाओं के प्रश्नों – के सिलसिले में संयुक्त राज्य अम-रीका में ए० मर्शाक (१९७२) तथा सोवियत संघ में ब० फ़्रोलोव (१९७४) के अनुसंधानों के परिणामों और इसी प्रकार टी० विन्न के उन निष्कर्षों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए, जिनकी हमने एक पूर्ववर्ती अध्याय में इस प्रश्न का विश्लेषण करते हुए जांच की थी कि औज़ार किसे कहा जा सकता है।

विन्न प्रश्न को सर्वथा नये ढंग से पेश करते हैं और आदिम मनुष्य के आत्मिक जगत तथा मानसिक विशेषताओं के पुनर्कल्पन में पूर्व पुरापाषाण काल के पत्थर के औज़ारों की आकृतिक विशेषताओं

से संबंधित ठोस प्रेक्षणों का भी सहारा लेते हैं। वह कुछ ऐसे लक्षणों को इंगित करते हैं तथा विशेष विश्लेषण का विषय बनाते हैं, जिनसे मनुष्य के मानस के बहुत ही साधारण, किंतु आधारभूत गुणों के निर्माण का और साथ ही दिक्काल संबंधों की चेतना के सरलतम रूपों की उत्पत्ति का सबूत मिलता है।

विन्न लिखते हैं कि पुरातात्विक सामग्री में तार्किक व गणितीय चिंतन के परिणाम खोज पाना कठिन है। यह बात पूर्व पुरापाषाण काल के – और हो सकता है कि मध्य पुरापाषाण काल के भी – संबंध में अवश्य सही है, किंतु उत्तर पुरापाषाण काल के संबंध में उसे सही शायद ही कहा जा सकता है। उत्तर पुरापाषाण काल में संख्यात्मक संबंधों की काफ़ी अधिक पुनरावृत्ति होती है और इसे तार्किक व गणितीय चिंतन के विकास के आरंभिक चरणों के पुनर्कल्पन का आधार बनाया भी जा चुका है। ए० मर्शाक और ब० फ़्रोलोव के उपरोक्त अनुसंधानों की विशेषता यह है कि वे उसके संधिस्थल पर स्थित हैं, जो कला और विज्ञान, दोनों की ही उत्पत्ति से संबंध रखता है। इस संधिस्थल की विलक्षणता यह है कि ए० मर्शाक ने भी और ब० फ़्रोलोव ने भी पुरातात्विक सामग्री – पुरापाषाणकालीन कला की वस्तुओं – का इस्तेमाल करके पुरापाषाण काल के मनुष्य के मानस में सरलतम संख्यात्मक संबंधों के निर्माण को, यानी जो तार्किक व गणितीय चिंतन के भ्रूणों को प्रतिबिंबित करता है और आगे चलकर गणित का आधार बना, उसको समझने का तरीक़ा मालूम किया। किंतु सवाल पारंपरिक अनुसंधानात्मक संदर्भ में लिये गये पुरापाषाणकालीन कला के स्मारकों का ही नहीं है, बल्कि दत्त मामले के लिए ही विकसित किये गये विशेष उपागम का है, जो विभिन्न स्थलियों से पाये गये मूर्तिशिल्पों पर दोहराये गये अलंकरणों की संख्या तथा क्रम और अन्य वस्तुओं, उदाहरणार्थ, आभूषणों, जिनमें इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कंठहार हैं, में बार-बार मिलनेवाले तत्त्वों की संख्या के आंके जाने में और साथ ही पुरापाषाणकालीन अलंकरण की संख्यात्मक संरचना तथा प्रतीक योजना के विश्लेषण में व्यक्त होता है। इस सबके लिए इस विषय से संबंधित बहुत अधिक साहित्य की जांच, उसमें उपलब्ध सामग्री का समुचित वर्गीकरण (क्योंकि पुरापाषाणकालीन संख्यात्मक प्रतीक योजना से

ताल्लुक़ रखनेवाली सूचना बिखरी हुई तथा अधूरी है और अभी तक अलग-अलग, परस्पर-असंबद्ध प्रेक्षणों तक ही सीमित रही है), यूरोप, संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के संग्रहालयों की पुरापाषाणकालीन सामग्रियों (श्रम के औज़ारों तथा कला की वस्तुओं) का स्वतंत्र अध्ययन और, अंत में, सभी प्राप्त परिणामों की आरंभिक होमो सेपियनों के आकृतिक विकास के स्तर से संबंधित आज भी काफ़ी हद तक अधूरे प्रेक्षणों के साथ तुलना किये जाने की आवश्यकता थी।

संख्यात्मक प्रतीक योजना का – मुख्य रूप से यूरेशिया के उन पुरापाषाणकालीन स्मारकों की संख्यात्मक प्रतीक योजना का, जिनका सबसे ज़्यादा अच्छी तरह अध्ययन किया जा चुका है – सर्वांगीण विश्लेषण करके यह अकाट्य रूप से प्रदर्शित किया जा सका है कि यह सारी संख्यात्मक प्रतीक योजना उत्तर पुरापाषाण काल के अलंकरणों में संख्याओं की एक निश्चित श्रेणी – ५, ७ और कभी-कभी ३ भी – के विशेष महत्व को इंगित करती है। इसके साथ ही अलंकरण के तत्त्वों का सबसे अधिक व्यापक समूहन ४ की संख्या में समूहन है। इन संख्यात्मक संबंधों की नृजातिवैज्ञानिक सामग्री, मनोवैज्ञानिक खोजों के परिणामों और पुरापाषाणकालीन लोगों की कला, शवाधान संस्कार तथा वैचारिक धारणाओं के बारे में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर विशद व्याख्या की गयी है। नतीजे के तौर पर ब० फ़्रोलोव चार दिशाओं के महत्व के बारे में पहले के नृजातिवैज्ञानिक प्रेक्षणों से अपने प्रेक्षणों की तुलना करके यह अकाट्यतः प्रदर्शित कर सके हैं कि मनुष्य को जब विश्व के सबसे बुनियादी गुणधर्मों का बोध हुआ, तो गणना के पहले चरण के तौर पर ३ और ४ की संख्याएं पैदा हुईं। जहां तक असम संख्याओं के अगले युग्म – ५ और ७ – का संबंध है, तो उनकी चेतना को नैदानिक तथा मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से जोड़ा जाता है, जिन्होंने मनुष्य की कार्यकारी स्मृति की सीमित क्षमता का और घटनाओं को तेज़ी से याद करने के दौरान उसकी सीमा का, जो ७ की संख्या से निर्धारित होती है, प्रदर्शन किया है। यदि आज के मनुष्य की यह सीमा है, तो आदिम मनुष्य के लिए वह निश्चय ही चरम सीमा रही होगी। अधिकांश मामलों में वह, संभवतः, ५ की संख्या से

आगे नहीं बढ़ता था। हमारे मत में, ए० मर्शाक ने भी सातदिवसीय चक्र पर आधारित एक निश्चित पंचांग के अस्तित्व की प्राक्कल्पना के दायरे में, अर्थात पुनः ७ की संख्या के ज़रिये ही, उत्तर पुरापाषाणकालीन कला की संख्यात्मक प्रतीक योजना की काफ़ी विश्वासोत्पादक व्याख्या प्रस्तुत की है।

शायद, यहां हमें आनुभविक ज्ञान के संचय की दिशा में पहले क़दमों के बारे में भी कुछ शब्द कहने चाहिए, यद्यपि इन क़दमों का आदिम मनुष्य की मानसिक संरचनाओं से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से आज की सबसे पिछड़ी हुई जन-जातियों के भी आनुभविक ज्ञान का दायरा काफ़ी व्यापक है और उसे काफ़ी जटिल वर्गीकरण प्रणालियों द्वारा व्यवस्थित किया हुआ है। कुछेक मामलों में तो वह जीवन के किसी ख़ास क्षेत्र के संबंध में बहुत ही विस्तृत पाया गया है, जैसे, उदाहरण के लिए, एल्यूतों का शरीर की रचना से संबंधित ज्ञान। पशुओं की शरीररचना अथवा खगोलविज्ञान से संबंधित जीवाश्मी मानव के ज्ञान के स्वरूप तथा परिमाण के बारे में प्रकाशित प्रेक्षण अपने आप में अत्यंत दिलचस्प होने पर भी उत्तर पुरापाषाण काल की कला पर आधारित हैं और इसका कम ही आभास दे पाते हैं कि पूर्व तथा मध्य पुरापाषाण काल के जीवाश्मी मनुष्य क्या जानते थे।

हमने ऊपर पिथिकैंथ्रोपसों के चरण में वाक् के जन्म के साथ-साथ चेतना का और फलस्वरूप इंद्रियानुभव तथा उसके परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्रों का भी विकास होने का उल्लेख किया था। शिकार, खाद्य-संग्रहण, स्थानीय दिशाज्ञान, शैलाश्रयों का उपयोग और काल की गति तथा प्राकृतिक प्रक्रियाओं की मौसमी आवर्तिता की चेतना—जैसा कि हम बता चुके हैं, ये सब, निस्संदेह, मानव चिंतन की बहुत पहले की उपलब्धियां हैं और उनके बिना मानवजाति पिथिकैंथ्रोपसों के चरण में भी ज़िंदा नहीं रह सकती थी।

इस प्रकार, जो ऊपर कहा गया है, उसके आधार पर हम सरलतम तार्किक संरचनाओं के निर्माण के चरणों का क्रम-निर्धारण कर सकते हैं। औज़ारनिर्माण संबंधी सक्रियता के आरंभकाल की, जिसकी अभिव्यक्ति ओल्डुवाई उद्योग में दिखायी देती है, जब साधारणतम औज़ार बनाने के लिए पत्थर के साथ-साथ लकड़ी और

हड्डी को भी इस्तेमाल किया जाता था, विशेषता अग्रचेतना थी, जिसमें निश्चित संरचनात्मक संबंधों का काफ़ी हद तक अभाव था। द्विपक्षीय सममिति की चेतनावाले स्तर और उस चेतना के आधार पर उद्भूत द्विचर विरोधों का निर्माण, संभवतः, इसी काल में हुआ और, शायद, तभी द्विचर विरोधों का आनुवंशिक तौर पर दृढ़ीकरण हुआ होगा। शेलीयन काल में, जिसमें औज़ार बनाने की सामग्री के नाते चक़मक़ की उत्कृष्टता को पूरी तरह अनुभव किया गया तथा वाक्-क्रिया प्रकट हुई, द्विचर विरोधों के सिद्धांत के अनुसार किये जानेवाले द्विविभाजन का एकता, एकत्व की चेतना से और अंशों का पूर्ण की चेतना से प्रतिसंतुलन किया गया। इंद्रियानुभव और उसके परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्रों का निर्माण, जो, जैसा हमने ऊपर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, इस चरण का समकालिक था, एकत्व के, पृथकत्व के प्रवर्ग की उत्पत्ति के बिना नहीं हो सकता था। यह प्रवर्ग ही आगे चलकर मूल संख्याओं की गणितीय श्रेणी के प्रथम सदस्य में विकसित हुआ।

नियंडरथल मानव की भाषा में पुरुष के प्रवर्ग के विकास के समानांतर ही, शायद, "क्रिया का कर्त्ता – क्रिया की वस्तु – अन्य वस्तुएं" शृंखला के तार्किक अवबोध के रूप में तीन युग्म विरोध पैदा हुए। भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के कतिपय तथ्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि अंतिम प्रवर्ग ("अन्य वस्तुएं") में मानवीकृत प्राकृतिक शक्तियां भी सम्मिलित की जाती थीं, जिनके कार्य को तब भी परलोक, किन्हीं मनुष्येतर शक्तियों की, अर्थात तर्कातीत, अयौक्तिक सहभागिता के नियम की अभिव्यक्ति समझा जाता था। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से तर्कातीत, संभवतः, तार्किक के बाद और अमूर्त चिंतन का क्षेत्र, संभवतः, इंद्रियानुभव तथा उसके परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्रों के बाद अस्तित्व में आते हैं। अंत में, यदि पुरातात्विक तथ्यों से निदेशित हुआ जाये, तो मूल संख्याओं के अगले असम सदस्य, यानी ५ और ७, उत्तर पुरापाषाण काल में आते हैं। उत्तर पुरापाषाण काल में चिंतन इसके लिए पर्याप्त ऊंचे स्तर पर पहुंच गया था कि उसके दायरे में चार और छह से भाग की क्रियाओं की उत्पत्ति हो सके, जो अपने सरलतम रूप में बुनियादी द्विचर और त्रिचर विरोधों के संयोजन ही हैं।

आदिम चिंतन की विसरणता तथा मूर्तता

मूल संख्याओं की गणितीय श्रेणी की विभिन्न कड़ियों के उत्पत्ति-क्रम का अभी-अभी पुनर्सृजित चित्र हमारे सामने जैसे कि उन तार्किक अचरों का ढांचा प्रकट कर देता है, जो आदिम समाज के इतिहास के दौरान जीवाश्मी मानव के चिंतन को और-और ज़्यादा व्यवस्थित बनाते और उसकी व्यावहारिक प्रभाविता को शनैः-शनैः बढ़ाते गये थे। किंतु आदिम चिंतन की तार्किक संरचना और समय के साथ उसके निरंतर परिष्कार के अतिरिक्त उसकी दो विशेषताओं का भी उल्लेख किया जाना चाहिए, जो पूर्ववर्ती अनुच्छेद के अंत में विवेचित कारक – अपनी परिवेशी प्रकृति के बारे में जीवाश्मी होमिनिडों को पर्याप्त ठोस ज्ञान न होना तथा उसमें दिग्विन्यास की कठिनाइयां (बेशक; यहां आशय भौतिक दिक् में यांत्रिक स्थान-परिवर्तन से नहीं, बल्कि शब्द के व्यापक अर्थ में दिग्विन्यास से है) – और साथ ही अमूर्त चिंतन के क्षेत्र के अविकसित स्वरूप की उपज हैं। इस प्रकार, बात पूर्व पुरापाषाण काल (शेलीयन तथा एश्यूलीयन युगों) और मध्य पुरापाषाण काल (मोस्तारी युग) की चल रही है। पिथिकैंथ्रोपस वंश और नियंडरथल जाति के विकास के साक्षी इस दीर्घ काल के दौरान ही मानसिक संरचना की उन दो विशेषताओं का निर्माण हुआ, जिनकी ओर इस अनुच्छेद के शीर्षक में संकेत किया गया है, अर्थात चिंतन की मूर्तता और विसरणता, अनियत-रूप, विभिन्न संकल्पनाओं की परस्पर व्याप्ति तथा उनका अस्पष्ट विभेदन।

ओल्डुवाई चरण के होमिनिडों – आस्ट्रेलोपिथेकसों – की विशेषता, जैसा कि हमने अभी कहा, अत्यंत अस्पष्ट अग्रचेतना थी, जिसका तार्किक गठनकारी मूलतत्त्व, संभवतः, द्विचर विरोध था। साधारणतम संकल्पनाओं की प्रणाली अभी स्पष्ट ही हो रही थी, जिसका प्रमाण उत्तरवर्ती काल के पत्थर के औज़ारों की तुलना में ओल्डुवाई औज़ारों के अस्थिर रूप हैं। भौतिक विश्व की विच्छिन्नता, शायद, अभी-अभी आंतरिक बिंबों में (इनकी तुलना आधुनिक मनुष्य की "अंतर्वाक्" से की जा सकती है) अथवा ऐसी अस्पष्ट संकल्पनाओं में प्रकट होने लगी थी, जो वाक् की उत्पत्ति तक

वास्तविक संकल्पनाओं का रूप ग्रहण नहीं कर सकती थीं और बाह्य विश्व की वस्तुओं से स्पष्टत: संबद्ध नहीं हो सकती थीं। चाहे परिकल्पनात्मक प्राक्कल्पना के दायरे में ही सही, किंतु ऐसा सोचा जा सकता है कि संकल्पनाओं की इस प्रकार की विसरणता आंशिकत: आगामी युगों में भी बनी रही, क्योंकि संकल्पनाओं के निर्माण की प्रक्रिया ही उनकी ध्वनिक अभिव्यक्तियों के समानांतर एक ऐसे अनिश्चितता तथा अस्पष्टता के क्षेत्र को जन्म दे रही थी, जिसमें प्रयत्न-त्रुटि नियम के अनुसार गठित मानसिक प्रक्रिया की अवशिष्ट परिघटनाएं प्रकट हुईं। इसके साथ ही वह पहली पर आधारित अगली संभावना को भी जन्म दे रही थी, और यह संभावना थी पहले बननेवाले शब्दों और जायमान संकल्पनाओं के बीच स्पष्ट संबंध का अभाव, जो अनिश्चितता के क्षेत्र को बढ़ा देता था और संकल्पनाओं को उलझा डालता था। विसृत चिंतन इतना विसृत नहीं था कि उसके संवाहक अपनी कुछ पशुसुलभ सहजवृत्तिक क्रियाओं को खोकर परिवर्तनशील विश्व में न रह पाते और अपनी वंशवृद्धि न कर सकते। किंतु वह इतना विसृत अवश्य था कि उनका जीवन संकीर्ण दायरों में सीमित रहता और वे अत्यंत धीमी गति से ही प्रगति कर पाते, जिसकी पुष्टि तथ्यों से भी होती है। पुरापाषाणकालीन मानसिक परंपराओं की गतिशून्यता और आरंभिक होमिनिडों की शारीरिक विशेषताओं के परिवर्तन के धीमेपन को बहुत ही तरह-तरह की सामग्रियों के आधार पर कई बार दिखाया जा चुका है। यहां इस बात का भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि ऐसे विसृत चिंतन और संकल्पनाओं के घालमेल के चिह्न उत्तर पुरापाषाण काल की संस्कृति, विशेषत: कला, के सभी अध्येताओं द्वारा किसी न किसी रूप में दर्ज किये गये हैं और उसके अवशेष अधिक उत्तरकालीन समाजों – नवपाषाण तथा कांस्य युगों के समाजों – की विचारधारा में भी पाये गये हैं। दूसरे शब्दों में, मानसिक क्षेत्र में विसरणता के कतिपय लक्षण, स्पष्टत:, आदिम समाज के सारे ही इतिहास के दौरान सुरक्षित रहे।

मानसिक संरचनाओं की विसरणता के कारण लगता है कि दूसरी विशेषता – चिंतन की मूर्तता – के लिए कोई गुंजायश नहीं है। वास्तव में, यदि मूर्तता को विसरणता के प्रतिपक्ष के तौर पर,

संकल्पनाओं और उनके ध्वन्यात्मक स्थायीकरण की किसी विशेष मूर्तता के तौर पर देखा जाये, तो उसके लिए गुंजायश नहीं है। किंतु बात इसकी नहीं चल रही है। अपने जीवन की एकरसता के कारण आदिम मानव, शायद, अपनी परिवेशी वस्तुओं के बहुत-से ऐसे गुणों को ठीक-ठीक दर्ज करता था, जिनकी ओर हम आज कोई ध्यान नहीं देते और कई मामलों में तो उन्हें भाषा में भी दर्ज नहीं करते। ऐतिहासिक और नृजातिवैज्ञानिक साहित्य में प्रायः दावा किया जाता है कि आदिम जातियों की भाषाएं ठोस संकल्पनाओं के मामले में अत्यंत समृद्ध हैं, जबकि सामान्य संकल्पनाओं का उनमें अभाव पाया जाता है। एक क्लासिक मिसाल, जिसका बहुत बार हवाला दिया गया है, यायावर संस्कृतिवाली बहुत-सी जातियों की भाषाओं में पशुपालन से संबंधित शब्दावली की अत्यधिक बहु-विधता है। किंतु ठोस शब्दावली की ऐसी विपुलता तथा बहुविधता सामान्य संकल्पनाओं की विद्यमानता का किसी भी प्रकार अपवर्जन नहीं करती हैं, जिसे बहुसंख्य अनुसंधानों से सिद्ध भी किया जा चुका है। सामाजिक विकास के निम्नतर चरण में स्थित आधुनिक जातियों की आदिम भाषाओं की विशिष्टता उनमें सामान्य संकल्पनाओं का अभाव नहीं है, बल्कि ऐसी संकल्पनाओं का भाषा के उन क्षेत्रों में न होना है, जो दत्त जाति के जीवन-चक्र से बाहर की परिघटनाओं को प्रतिबिंबित करते हैं।

बहुत-से पूर्ववर्ती मामलों की तुलना में यहां भूतलक्षी पुनर्कल्पन और भी कम निश्चयात्मक है, किंतु सोचा जा सकता है कि चिंतन का भाषा में प्रतिबिंबित यह पक्ष आधुनिक प्ररूप के मनुष्य के विलुप्त पूर्वजों – जीवाश्मी होमिनिडों – में भी काफ़ी प्रवलता के साथ विद्यमान था। हमारा आशय जीवन के उन क्षेत्रों में संकल्पनाओं को काफ़ी अधिक ठोस, सुनिश्चित बनाये जाने से है, जो जीवाश्मी होमिनिडों के आर्थिक और श्रम चक्र के अंग थे और जो, जैसा कि आधुनिक भाषाओं से तुलना दिखाती है, आदिम शब्दावली में अभिव्यक्ति पाते थे। शायद, ऐसा सोचना ठीक ही होगा कि जीवाश्मी होमिनिड अपने संकल्पनात्मक क्षेत्र में पशुओं की शरीररचना तथा आदतों में काफ़ी बारीकी से भेद करते थे और वाक्-क्रिया में उन्हें काफ़ी सही-सही इंगित भी

करते थे। एक सामान्य मॉडल के रूप में विसरणता और संकल्पना-तंत्र तथा वाचिक संकेतन के विशिष्ट क्षेत्रों में मूर्तता ही वह द्वंद्वात्मक एकता है, जो आदिम चिंतन के आविर्भाव के समय से ही उसके विकास की सहगामी रही। बहुत संभव है कि विरोधोपमा (किसी परिघटना का किसी अन्य परिघटना से तुलना के ज़रिये वर्णन), जो यूनानी काव्य की एक लाक्षणिक विशेषता थी और लोक-साहित्य में दी जानेवाली अत्यंत विविध परिभाषाओं के साथ काफ़ी कुछ समानता रखती है, अधिक उत्तरवर्ती युगों में इस मूर्तता का ही अवशेष थी। दूसरे शब्दों में कहें, तो वह, अर्थात विरोधोपमा, आदिम युग के लिए लाक्षणिक चिंतन के उद्‌विकास के एक अपेक्षाकृत आरंभिक चरण की विरासत तथा अवशेष थी।

मानसिक विशेषताओं के वैयक्तिक संयोजनों की प्रारूपिकी

व्यक्तियों की प्रारूपिकी की समस्या, किन्हीं ख़ास गुणों की उत्कृष्ट अभिव्यक्तियों के प्ररूपानुसार वर्गीकरण की समस्या, मानव-जाति के इतिहास में भव्य व्यक्तित्वसंपन्न लोगों का महत्व, उत्कृष्ट कोटि के सृजन की समाजसापेक्षता और प्रतिभा का वंशानुगत स्वरूप – ये समस्याएं मानवजाति के इतिहास के वर्तमान काल समेत सभी चरणों में सामयिक व प्रासंगिक रही हैं। साहित्य, कला और दर्शन ने उन्हें सदा अपनी समस्याएं माना है और विभिन्न जातियों तथा सभी युगों के महान विचारक कभी अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से, तो कभी स्पष्टरूपेण आत्मपरक ढंग से और कभी कलात्मक शैली में इन समस्याओं की व्याख्या करनेवाली उत्कृष्ट रचनाएं अपने पीछे छोड़ गये हैं। इस तरह मनुष्य अपने भीतर झांकता है और वहां ऐसी-ऐसी गहराइयां पाता है, जिनमें देखकर उसे भय भी लगता है और आनंद भी मिलता है।

क्या मनुष्य के चरित्र की समस्या मानवजाति के लिखित इतिहासवाले दौर की ही विशेषता है, या उसे आधुनिक प्ररूप के मनुष्य के इतिहास जितनी पुरानी माना जाना चाहिए? अथवा हो सकता है कि उसकी जड़ें मानवोत्पत्ति से संबंधित युग में हों और

जीवाश्मी मानव (आर्कैंथ्रोपस, पिथिकैंथ्रोपस तथा नियंडरथल मानव) भी स्वभाव के मामले में एक दूसरे से वैसे ही भिन्न रहे हों, जैसे आज के लोग होते हैं ? हो सकता है कि व्यक्ति की मानसिक विशेषताएं भी मिलकर वही सम्मिश्र बनाती हों, जिनका हम दैनंदिन जीवन तथा मानव इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए अनुमान ही लगाते हैं, बजाय इसके कि उन्हें यथार्थ तौर पर, वस्तुपरक तथ्यों के आधार पर लोगों की अंतहीन रूप से विविध विशेषताओं, आदतों, रुझानों और नियतियों में से चुनकर अलग करें। व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन कर पाना बड़ा कठिन है। उसमें आनुवंशिकता और नियति अविमोचनीय रूप से गुंथे हुए होते हैं। उसमें अनेकानेक अनुपम और केवल उसकी ही विशेषताभूत, प्रायः अबोधगम्य आत्मिक हलचलें अपने को आश्चर्यजनक रूपों में अभिव्यक्त करती हैं। चरम परिस्थितियों में व्यवहार कल्पनातीत रूप से वैयक्तिक होता है, जो मनोवैज्ञानिक प्रेक्षण की आधुनिक युक्तियों का प्रयोग करके भी मनोवैज्ञानिक प्ररूपों को ठीक-ठीक परिभाषित कर सकना तथा विभिन्न जीवनीय परिस्थितियों में उनके व्यवहार के तरीक़ों को इंगित कर पाना कठिन बना देता है।

इस प्रश्न को उठाने का श्रेय सोवियत विद्वान या० रोगीन्स्की (१९६९) को है, जिन्होंने मानवोत्पत्ति की समस्याओं से संबंधित अपनी पुस्तक में 'चरित्र के प्ररूप और मानवोत्पत्ति के सिद्धांत में उनका महत्व' शीर्षक से एतद्विषयक एक अध्याय शामिल किया था। दार्शनिक निबंध की शैली में लिखा गया यह अध्याय अपने दार्शनिक तथा प्रकृतिवैज्ञानिक उपागमों के अंतर्गुंफन और साहित्यिक तथा कलात्मक तुलनाओं के कारण अत्यंत रोचक है और शैली की दृष्टि से पर्याप्त जटिल है, हालांकि विवेचित प्रश्नों के स्वरूप तथा लेखक की संकल्पना को प्रस्तुत करने के ढंग को देखते हुए उसका ऐसा होना उचित ही समझा जाना चाहिए। रोगीन्स्की की संकल्पना का मूलमंत्र यह था कि उन्होंने चरित्र के जो चिरंतन प्ररूप निरूपित किये हैं, उनका मानवोत्पत्ति से कोई संबंध नहीं है। इसलिए इन प्ररूपों के संवाहकों के व्यवहार का सारा विश्लेषण जैसे कि एककालिक है और वह आधुनिक मनुष्य – नियोऐंथ्रोपस – के इतिहास के दायरे में किया जाता है। या० रोगीन्स्की का हमेशा

ही ऐसा दृष्टिकोण नहीं था। उदाहरणार्थ, अपने वैज्ञानिक कार्यकलाप के आरंभ में प्रकाशित एक लेख (१९२८) में उन्होंने मुख्य चारित्रिक संयोजनों के उद्विकासमूलक महत्व विषयक दृष्टिकोण का समर्थन किया था और इसके बाद उनका प्रेरण-तंत्र तथा कतिपय आकृतिक विशेषताओं से संबंध दिखाया था (१९३७), जिसकी बाद में अगले अध्ययनों में भी पुष्टि की गयी।

या० रोगीन्स्की अपने द्वारा निरूपित चिरंतन चरित्र-प्ररूपों की उत्पत्ति की जो व्याख्या करते हैं, उसमें एक निश्चित विरोध पाया जाता है। वह इन प्ररूपों की उत्पत्ति को मनुष्य के चरित्र की तीन सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों – इच्छा, तर्कबुद्धि तथा भावना – से संबद्ध करते हैं, जो अपने त्रि-एकत्व में तथा विभिन्न नामों से सारे यूरोपीय दर्शन और अनेक प्राच्य दर्शनों को ज्ञात रहे हैं। रोगीन्स्की के मतानुसार, अपनी बारी में मानव चरित्र की ये तीन अभिव्यक्तियां समाज के सारे इतिहास में मनुष्यों के सहजीवन के तीन सबसे महत्वपूर्ण घटकों – जीवन-निर्वाह के साधनों तथा श्रम के औज़ारों का उत्पादन, प्रकृति की शक्तियों से संघर्ष और मानव समूहों के भीतर सहयोग – की विद्यमानता सुनिश्चित करती हैं। समीकरण काफ़ी सीधा-सरल है, किंतु स्पष्टत: विवादास्पद भी है: इच्छा, बल और शक्ति संघर्ष के लिए चाहिए, तर्कबुद्धि उत्पादन के लिए और भावना, प्रेम तथा दयालुता सहयोग के लिए। फिर भी वह बिल्कुल संभव लगता है, विशेषत: इसलिए भी कि रोगीन्स्की संबंधों की अपनी प्राक्कल्पना को काफ़ी सतर्कता तथा प्रचुर द्वंद्वात्मक तर्कों के साथ प्रस्तुत करते हैं और इन संबंधों में आड़े आनेवाली सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख करने के साथ-साथ उन्हें विश्लेषण में सम्मिलित भी करते हैं।

किंतु मुद्दा यह नहीं, अपितु वह स्वाभाविक सवाल है, जो मानवजाति के विकास के चिरंतन घटकों के निर्माण से उत्पन्न होता है: यदि वे चिरंतन हैं, तो क्यों वे आदिम समाज के इतिहास में प्रकट नहीं हुए? वैसे भी, यदि हम उन्हें चिरंतन प्रवर्गों में शामिल न करें, तो भी यह सवाल तो पूछा ही जा सकता है कि क्या आदिम समाज में उत्पादन, प्रकृति की शक्तियों तथा शत्रुओं से संघर्ष और अपने क़बीले के लोगों के साथ सहयोग नहीं थे? उत्तर

स्पष्टत: अस्तिवाचक होगा और इस पुस्तक के पूर्ववर्ती पृष्ठों पर हमने जो कहा है, उससे इसके पक्ष में बहुत-से सबूत जुटाये जा सकते हैं। और यदि संघर्ष, काम तथा सहयोग वास्तव में चिरंतन प्रवर्ग और उत्तरकालीन ऐतिहासिक कालों की भांति ही आदिम इतिहास की अंतर्वस्तु हैं, तो इन प्रवर्गों के अनुरूप चरित्र-प्ररूपों को किसी उत्तरवर्ती काल की उपज मानने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है।

वास्तव में, हम पिथिकैंथ्रोपसों और नियंडरथलों के स्थानीय समुदायों के आंतरिक जीवन के बारे में कितना भी कम क्यों न जानते हों, कुछ न कुछ तो हमें फिर भी मालूम है ही। हमारा आशय उत्पादन से नहीं है, जिसका भौतिक संस्कृति के अवशेषों के आधार पर काफ़ी पूर्णता के साथ पुनर्कल्पन कर लिया गया है। तर्कबुद्धि का संवाहक, बौद्धिक प्ररूप का प्रतिनिधि उत्पादन की प्रक्रिया में अपने लिए स्थान सदा खोज सकता था – प्रौद्योगिकीय परंपराओं के संरक्षक के रूप में (रोगीन्स्की स्वयं भी सारे विश्व साहित्य में पाये जानेवाले ज्ञानी, बुद्धिमान आदमी के बिंब का उल्लेख करते हैं), नवप्रवर्तक या लकड़ी, पत्थर और हड्डी के संसाधन की नयी युक्तियों के आविष्कारक के रूप में, प्राकृतिक प्रक्रियाओं के मौसमी परिवर्तन के व्याख्याकार व भविष्यवक्ता के रूप में या फिर पशुओं की आदतों के जानकार और आखेट तथा औज़ारनिर्माण कला के अनुभवी शिक्षक के रूप में। समुदायों के बीच रक्तपातपूर्ण या मात्र गंभीर टक्करें, संभवत:, विरल परिघटनाएं थीं। कम से कम आधुनिक पिछड़ी हुई जातियों के नृवृत्तात्मक वर्णनों से या जीवाश्मी होमिनिडों के बारे में हमें जो मालूम है, उससे ऐसी टक्करों की कोई पुष्टि नहीं होती है। जीवाश्मी होमिनिडों की खोपड़ियों पर कृत्रिम चोटों के निशान इतने प्रायिक नहीं हैं कि उनके घातक झगड़ों या लड़ाइयों का परिणाम होने से संबंधित मत को, जो व्यापक रूप से प्रचलित है, सही माना जा सके। किंतु हिंस्र जानवरों से संघर्ष, शिकार में मुख्य भूमिकाएं, प्रकृति की शक्तियों का विरोध, लंबे स्थानांतरण और उनके दौरान समुदाय का नेतृत्व करने की संभावना एवं आवश्यकता ज्यों के त्यों बने रहे और वे इच्छाशक्तिसंपन्न चरित्र के विकास तथा जीवन-चक्र में उसके सकारा-

त्मक पहलुओं के साकारीकरण का ज़रिया बड़ी अच्छी तरह बन सकते थे। बिल्कुल संभव है कि आर्कैंथ्रोपसों से पैलियोऐंथ्रोपसों में उद्विकास के साथ इन गुणों की कुछ वृद्धि हुई होगी और अधिकाधिक स्थिर सामाजिक संगठन तथा उसके मूल में स्थित मनोवैज्ञानिक पूर्वापेक्षाओं का विकास मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया की मुख्य प्रवृत्ति रहे होंगे। त्रयी का तीसरा घटक – भावना, प्रेम या एकता – भी इस जायमान सामाजिक परिवेश के दायरे में अपने लिए अभिव्यक्ति का रास्ता पा सकता था और, शायद, इसमें उसे सफलता भी मिली। इस प्रकार, सोचा जा सकता है कि चारित्रिक वर्गीकरण की तीनों अभिव्यक्तियां आरंभ से ही अपनी उत्पत्ति में चेतना के आद्यतम चरण के निर्माण से जुड़ी हुई थीं और इसलिए होमिनिड उपकुल, यानी वास्तविक मनुष्यों के सारे इतिहास की सहगामी रही हैं।

कम से कम पूर्व पुरापाषाण काल से तीन प्रकार के चरित्रों – इच्छाशक्तिसंपन्न, बौद्धिक तथा भावप्रवण – के यथार्थ अस्तित्व की पुष्टि जैविक प्रेक्षणों से भी होती है, जो उपरोक्त ऐतिहासिक तथा आनुवंशिकीय तर्कों से पर्याप्त संगति रखते हैं। इन तीन चारित्रिक प्ररूपों के दूरस्थ तुल्यरूप पशुओं की उच्च तंत्रिका सक्रियता में मिलते हैं। आक्रामक प्राणी या, इसके विपरीत, बहुत ही मिलनसार प्राणी – ये संकल्पनाएं उन लोगों द्वारा प्रायः प्रयोग की जाती हैं, जिनका जंगली अथवा घरेलू जानवरों से लगातार वास्ता पड़ता है। लगेगा कि इन तुल्यरूपों की सारी सापेक्षता तथा सोपाधिकता के बावजूद बौद्धिक प्ररूप का प्राणिमनोवैज्ञानिक तुल्यरूप मिल पाना कठिन या बिल्कुल असंभव है, किंतु यहां भी साहित्य में वर्णित कतिपय प्राणियों तथा उनके व्यवहार की तुलना समुचित और वह भी मनुष्य की निकटवर्ती मिसाल खोजने में मदद करती है। हमारा आशय चिम्पांज़ी से है। न० लदीगिना-कोट्स के अनुसंधानों का इयोनी, जो प्यारा, आकर्षक, मगर भोंदू है, और व० केलेर का सुलतान, जो अपने सामने रखी गयी समस्याओं का लगभग प्रतिभाशालियों जैसे ढंग से समाधान करता है, चिम्पांज़ियों में बौद्धिक क्षमताओं के बहुत ही विविध स्तर होने का प्रमाण देते हैं। प्रसंगतः, यह तथ्य अपने आप में बड़ा महत्वपूर्ण है और तुल-

नात्मक मनोविज्ञान द्वारा उसका समुचित मूल्य नहीं आंका गया है। वह दिखाता है कि बौद्धिक दृष्टि से विकसित प्राणी बौद्धिक क्षमताओं के निम्न स्तरवाले प्राणी से कभी-कभी कितना भिन्न होता है। इसलिए भी उन सभी प्रकार के प्रेक्षणों को परस्परसंबद्ध करना संभव हो जाता है, जो दिखाते हैं कि आधुनिक प्ररूप के मानव के आविर्भाव से पहले होमिनिडों के विकास की प्रक्रिया मानवजाति के इतिहास में अपवाद नहीं थी और उसके दौरान हमें मानसिक विशेषताओं की एकरूप अभिव्यक्तियां नहीं, बल्कि पर्याप्त स्पष्टता के साथ दिखायी देनेवाली बहुविध अभिव्यक्तियां मिलती हैं।

क्या जीवाश्मी मानवों की मानसिक विशेषताओं की प्रारूपिक विविधता उपरोक्त प्ररूपों तक ही सीमित है? बेशक, हमारे पास इस प्रश्न का सुनिश्चित उत्तर देने के लिए कोई प्रत्यक्ष तथ्य नहीं हैं, किंतु कतिपय अप्रत्यक्ष बातें उसका उत्तर न में देने को विवश करती हैं। पालतू जानवरों और मनुष्य के शारीरिक गठनों में परस्पर अनुरूपता पायी जाती है, जिसकी ओर अब तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है और जिसकी अभी पूरी तरह व्याख्या भी नहीं की गयी है। रूसी विद्वान ये० बोग्दानोव (१६२३), प० कुलेशोव (१६२६) और अ० मलीगोनोव (१६६८) ने पालतू जानवरों के शारीरिक गठन के तथ्यात्मकतः सर्वाधिक प्रामाणिक, सैद्धांतिकतः सुविवेचित और विस्तृत वर्णन दिये हैं। यदि इनकी मनुष्य के शारीरिक गठन की विशेषताओं से तुलना की जाये, तो उनके बीच साम्य स्पष्टतः दिखायी दे जायेगा। वन्य जीवों के शारीरिक गठन से संबंधित जानकारी के अभाव में भी (यद्यपि उसका बड़ा सैद्धांतिक महत्व होता) यह साम्य जीवाश्मी होमिनिडों के लिए भी ऐसा ही शारीरिक गठन संबंधी प्ररूपानुसार वर्गीकरण सुझाने के वास्ते अपने आप में पर्याप्त है। अब तक की खोजों से दो स्वतंत्र, आनुवंशिकतः निर्धारित घटक प्रकाश में आ चुके हैं, जिनके विविध संयोजन ही शारीरिक गठन के प्ररूप हैं: अनुदैर्घ्य वृद्धि का कारक, जो आकार को तय करता है, और बुनियादी चयापचय का कारक, जिस पर भारी-भरकमपन निर्भर होता है, यानी वे मुख्य लक्षण, जिन पर किसी भी जीव के, चाहे वह घरेलू जानवर हो या वन्य जानवर अथवा मनुष्य, मूल्यांकन के दौरान सबसे पहले नज़र

पड़ती है। ऊपर होमिनिडों के प्रस्तावित वर्गीकरण के पक्ष में प्रमाण देते हुए हमने आस्ट्रेलोपिथेसिनों के सभी ज्ञात रूपों को उनके भारी-भरकमपन की मात्रा के अनुसार दो वंशों में समूहित किया था और यद्यपि उनमें इसके अलावा अन्य बातों में भी भेद था, फिर भी बिल्कुल संभव है कि यहां हमारा शारीरिक गठन की दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों से साक्षात्कार हुआ है।

शारीरिक गठन के तुलनात्मक अध्ययन की – खेद है कि वह अभी पूर्ण शरीर के स्तर पर आकारनिर्माण का एक सामान्य सिद्धांत नहीं बना पाया है – इस संक्षिप्त समीक्षा की आवश्यकता हमें इसलिए पड़ी कि व्यक्ति की मनोतंत्रिक विशेषताओं और आकृतिक विशेषताओं के बीच प्रकट होनेवाली कतिपय निर्भरताओं, विशेषतः एथलेटिक गठन (बड़ा, भारी-भरकम शरीर) और एस्थेनिक गठन (छोटा, लघु शरीर) वाले लोगों के बीच कुछ निश्चित भेदों का प्रदर्शन किया जा चुका है। उनको एक दूसरे से भिन्न बनानेवाले मानसिक लक्षणों में तंत्रिका प्रक्रियाओं के वेग, संवेदनशीलता तथा शक्ति (अंतिम दो कारक आपस में प्रतिलोम संबंध रखते हैं, अर्थात तंत्रिका-तंत्र उतना कम संवेदनशील होगा, जितना ज़्यादा वह शक्तिशाली होगा) को शामिल किया जाता है।

स्वभावों का कोई सर्वस्वीकृत वर्गीकरण नहीं है, किंतु आंशिकतः वे तंत्रिका-तंत्र की उपरोक्त विशेषताओं की परिधि में आ जाते हैं। स्वभावों की विविधता को उन चारित्रिक संयोजनों से, जिन्हें या० रोगीन्स्की चिरंतन कहते हैं तथा जीवाश्मी होमिनिडों के समुदायों में जिनकी भूमिका का ऊपर विवेचन किया जा चुका है, और उन ठोस सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्ररूपों से, जिनका जीवन-चक्र तथा रहन-सहन के ढंग की एकरसता के बावजूद अलग-अलग समुदायों के भीतर पैदा होना अनिवार्य था, गुणित होकर होमिनिडों के इतिहास के उषाकाल में ही वैयक्तिक मानसिक विशेषताओं के और भी बहुविध संयोजनों को जन्म देना था। उनका पूर्ण प्ररूपानुसार वर्गीकरण किया जाना अभी बाक़ी है, हालांकि स्पष्ट नहीं है कि यह किया कैसे जाये। फ़िलहाल इसके लिए जो तरीक़े मौजूद हैं, वे अप्रत्यक्ष तथ्यों पर ही आधारित हैं। किंतु यह कहना, संभवतः, उचित ही होगा कि यह विविधता परिमाण की दृष्टि से होमो

सेपियनों के समाज की अपेक्षा कम होने के बावजूद इसके लिए पर्याप्त थी कि प्रगति के चाहे आरंभ में अत्यंत धीमी गति से ही सही, पर फिर भी आगे बढ़ने को सुनिश्चित कर सके।

"हम" और "वे" – नृजातीय कारक

अब हम जिस मुख्य प्रश्न की जांच करेंगे, वह यह है: क्या पुरापाषाण काल के लोगों की चेतना में अन्य लोगों से अपने अलग होने की चेतना शामिल थी? क्या वह समूह चेतना थी? क्या वह कोई नृजातीय रंग लिये हुए थी? प्रथम दृष्टि में यह प्रश्न अजीब ढंग से पेश किया हुआ लगता है। जब कोई "प्राचीन काल के लोगों" की बात करता है, तो स्पष्टत: आशय अपेक्षाकृत उत्तर-कालीन नृजातीय विरचनाओं से, सभ्य युग और वर्गीय समाज के नृजातीय प्रवर्गों से होता है, जैसे मिस्री, सुमेरी, हिट्टी, आदि। किंतु ऐतिहासिक वृत्तों में उनके उल्लेख को और हमारी चेतना में वे जो स्थान रखते हैं, उसे आसानी से समझाया जा सकता है: उन्हें लिखने की कला आती थी और वे राजनीतिक, आर्थिक तथा कलात्मक विषयवस्तु के बहुविध अभिलेख ही नहीं, अपने पड़ो-सियों के विवरण भी छोड़ गये हैं। फिर भी क्या जाति (जन) जैसे ऐतिहासिक प्रवर्ग की उत्पत्ति को लेखन कला से जोड़ना जरूरी है? आखिर क्या प्राचीन पूरब की बहुत-सी जातियों को हम पड़ोसी जातियों के लिखित स्मारकों में उपलब्ध सूचनाओं से ही नहीं जानते? अत:, चूंकि लेखन कला किसी जाति के यथार्थ अस्तित्व का अनिवार्य मापदंड नहीं है, इसलिए आदिम युग में भी, पहले राज्यों के आविर्भाव से पहले भी ऐसी जातियों का अस्तित्व हो सकता था, जो लेखनहीन विस्मृति के गर्त में खो गयी हैं और अपने पीछे कोई ऐतिहासिक यादगार नहीं छोड़ गयी हैं। सामाजिक विकास के अत्यंत निम्न चरण पर स्थित जातियों से संबंधित अनेक नृजातिवैज्ञानिक शोध-रचनाओं में क़बीलों के परस्पर संबंधों का नृजातिक कारक के दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है। अलग-अलग क़बीलों को सजातीय क़बीलों के समूह में संयुक्त किया जाता है और इस

तरह जैसे कि नृजातीय समेकन की परिघटनाओं को देखा जाता है। संक्षेप में, वैसी ही प्रक्रियाएं – किंतु सूक्ष्म, लघु पैमाने पर – घटती हैं, जैसी विकसित जातियों और सभ्यताओं में पायी जाती हैं।

विभिन्न नृजातिवैज्ञानिक संप्रदाय और धाराएं समकालीन समाजों से संबंधित नृजातिवर्णनात्मक सामग्री का प्रयोग करके आदिम समाज के इतिहास के घटनाक्रम की पुनर्रचना के अनेक तरीक़े सुझाते हैं। किंतु इनसे पूरे परिणाम नहीं मिल पाते। वर्तमान काल में सोवियत वैज्ञानिकों के बीच सबसे अधिक लोकप्रिय यू० ब्रोम्लेय की नृजाति सिद्धांत विषयक पुस्तक है, जो १९७२ में प्रकाशित हुई थी। दूसरी ओर, नृजातीयता के रूपों का, विशेषतः इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। बहुत संभव है कि वस्तुपरक ढंग से आयोजित भावी अनुसंधान अगर नये रूपों के नहीं, तो पुराने रूपों के विकास में महत्वपूर्ण सोपानों को प्रकाश में लायेंगे। नृजाति समूहों के निर्माण के आरंभिक चरणों के संबंध में ऐसा होना लगभग संदेहातीत है। समेकन की संकल्पना में परिमाणात्मक विवरण का अभाव होता है। अतः, नृजातीय स्थिति के प्रति ऐसे उपागम के लिए आधार अभी पूरी तरह तैयार नहीं है। हमारी रुचि ऐसे विकास के केवल प्रथम चरण में है और उसके संदर्भ में कहा जा सकता है कि जिन गोत्रीय या क़बीलाई समूहों को प्रायः काल की दृष्टि से आनुक्रमिक नृजाति समूह माना जाता था, वे वास्तव में आपस में कहीं अधिक विविध, जटिल और, संभवतः, समकालिकता के संबंधों से जुड़े हुए थे।

निस्संदेह, जीवाश्मी होमिनिडों के समूहों में नृजातीयता के पुनर्कल्पन के लिए कोई प्रत्यक्ष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। आरंभिक चरणों में नृजातीय विभेदीकरण की प्रक्रिया की स्वाभाविक अस्पष्टता को देखते हुए अप्रत्यक्ष तथ्य भी उतने नहीं हैं, जितने कि अन्य सभी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के पुनर्कल्पन के लिए उपलब्ध हैं। हम यहां विशेष रूप से ज़ोर देना चाहते हैं कि नृजातीयता आदिम समाज के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र का अंग है, क्योंकि यह जातीय आत्मचेतना ही थी कि जिसने जातियों के निर्माण को पहले-पहल प्रेरणा दी, यद्यपि उनके आगे विकास में और समेकन (इस संकल्पना की अंतर्वस्तु की सारी अस्पष्टता के बावजूद हमें उसका प्रयोग

करना ही पड़ता है, क्योंकि वह नृजातीय प्रक्रियाओं के बहुत महत्व-पूर्ण पहलुओं को इंगित करती है) के उच्चतर चरणों में नृजाति के भौतिक लक्षण – साझा प्रदेश, भाषा, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संपर्क, इत्यादि – बहुत बड़ा (और हो सकता है कि निर्णायक भी) महत्व ग्रहण कर लेते हैं। यह बिल्कुल संभव प्रतीत होता है कि अपनों को दूसरों, परायों के मुक़ाबले में रखना और इस प्रतिस्थापन की चेतना ही वह आधार था, जिस पर समूह मनोविज्ञान का विकास हुआ। ऐसा प्रतिस्थापन सामाजिक मनोविज्ञान की प्रणाली की एक बुनियादी संकल्पना के तौर पर साहित्य में विशेष विश्लेषण का विषय बना है। किंतु हमें लगता है कि इस संकल्पना का सामाजिक मनोविज्ञान की प्रणाली के अंतर्गत ही विश्लेषण उसकी सारी अंत-र्वस्तु को उजागर नहीं कर पाता है और मानव इतिहास के आरं-भिक चरण में अपनों और परायों का प्रतिस्थापन, "हम और वे" विकल्प अलग-अलग समूहों तक ही सीमित नहीं था और एक समूह के सदस्यों तथा अन्य सभी समूहों, विशेषतः पड़ोसी समूहों के सदस्यों के बीच किन्हीं भेदों की चेतना को प्रकट करता था।

इस दृष्टिकोण के पक्ष में पहला तर्क, जैसा कि हमें लगता है, यह स्वतःस्पष्ट तथ्य है कि प्राचीनतम होमिनिडों के सभी समूहों में सामाजिक स्तरीकरण का अभाव था और इसलिए रक्त संबंध और इस संबंध की चेतना इस दृष्टि से समूह के सभी सदस्यों को समान स्थिति में रखते थे। दूसरा तर्क यह है कि शिकार तथा खाद्य-संग्रहण की दत्त समूह के लिए ही लाक्षणिक सामान्य युक्तियां तथा कौशल, घनिष्ठ आर्थिक जीवन की प्रक्रिया में समूह के सभी सदस्यों की मनोवैज्ञानिक "घिसाई", स्थापित पारंपरिक तरीक़ों से पत्थर के संसाधन तथा औज़ारों के निर्माण का रिवाज़, साझी भाषा तथा पूर्ण भाषायी परस्पर समझ, जिन क्षेत्रों में भाषेतर व्यवहार अवशिष्ट रहा है, उन क्षेत्रों में ऐसे व्यवहार की समरूपता और, अंत में, आधारभूत ज्ञान की एक निश्चित साझी समष्टि – यह सब ही उस भावना का मनोवैज्ञानिक आधार था, जिसका प्राचीनतम होमिनिडों के आदिम समुदायों में प्राधान्य था और जो हर किसी को दूसरों को ठीक वैसे ही लोगों के रूप में देखने की संभावना देती थी, जैसा वह स्वयं था।

हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस प्रक्रिया में भाषायी विभेदीकरण की बड़ी भूमिका रही होगी। ज्यों ही वाक्-क्रिया का विकास हो गया – और ऊपर हमने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि यह पिथिकैंथ्रोपसों के चरण में हुआ था – भाषाओं का निर्माण करनेवाले समूहों के आपेक्षिक और हो सकता है कि काफ़ी अधिक अलगाव की परिस्थितियों में भाषा के प्रवाह की ध्वन्यात्मक रंगत में और शब्दनिर्माण में भेद पैदा होने लग गये, जिन्होंने परस्पर संप्रेषण कठिन बना दिया (हम नहीं कह सकते कि आरंभ में ये भेद सिर्फ़ कुछ समूहों में ही पैदा हुए थे, या कई समूहों में अथवा बहुत अधिक समूहों में, यद्यपि भाषाओं तथा बोलियों के समकालीन भूगोल के आधार पर बिचला विकल्प ही सत्य के सबसे अधिक निकट प्रतीत होता है) और अलग-अलग समूहों अथवा उनकी समष्टियों में अन्य भाषाएं अथवा बोलियां बोलनेवालों के प्रवेश में प्रबल बाधा खड़ी कर दी। इसलिए अलग-अलग समूहों अथवा उनकी समष्टियों का अलगाव, शायद, भाषायी अंतरों के पैदा होने के बाद बढ़ गया और तब तक उसी स्तर पर रहा, जब तक बहुत-सी ऐसी सामाजिक संस्थाएं उत्पन्न न हो गयीं, जिनके भीतर भाषा की बाधाओं को अन्य, अधिक विकसित सामाजिक संबंधों की प्रणाली में लांघा जाता था।

इससे दूसरा निष्कर्ष जो निकलता है, वह यह है कि भाषायी भेदों का उन समूहों के समेकन में महत्वपूर्ण और, संभवतः, निर्णायक भूमिका अदा करना अपरिहार्य था, जो भाषायी संप्रेषण की एक ही प्रणाली की परिधि में आते थे। यह अनुमान सही ही प्रतीत होता है कि भाषा के आंतरिक विकास की प्रक्रिया में भाषायी बाधा और उसके बढ़ने के कारण आदिम समूहों की ऐसी छोटी समष्टियों में आदिम समाज के आरंभिक चरणों में पहले विभेदीकरण की नहीं, अपितु एकता, समेकन की परिघटनाएं प्रकट हुई थीं। यह समेकन सबसे पहले इसमें व्यक्त हुआ कि सामान्य भाषा अथवा बोली प्रयोग करनेवाले समूहों के बीच सांस्कृतिक संपर्क न केवल कम कठिन बना, अपितु साझी भाषा के कारण उसे प्रोत्साहन भी मिला। कहीं अधिक बड़ी संख्या में लोग संपर्क की प्रक्रिया में खिंच आये और इसने एक निश्चित दिशा में, जो, संभवतः, कुछ हद

तक संयोगवशात् आदिम समूहों की दत्त समष्टि से ही संबद्ध हो गयी थी, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास को तीव्र कर दिया। इसलिए हर भाषा को उसके आरंभ से ही एक जातिनिर्माता कारक माना जा सकता है। इसमें यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि कई-कई समूहों को अपनी परिधि में लेनेवाली विभिन्न भाषाओं के निर्माण के बाद भी पड़ोसी समूहों के प्रति सामुदायिकता की भावना बनी रही थी, यद्यपि उसका रूप कुछ बदल गया था। किंतु जैसे ही भाषाओं के प्रसार की सीमाएं अस्तित्व में आयीं, यह भावना, स्वाभाविकतः, लुप्त हो गयी, क्योंकि सारे बाह्य साम्य के बावजूद एक दूसरे की भाषा को न समझ पाना एक दुर्लंघ्य बाधा था। दूसरे क़बीलों, जातियों से साहचर्य की अनुभूति खत्म हो गयी। उसके स्थान पर एक नयी भावना उत्पन्न हुई। यह किसी पराये से संपर्क की, अपने से भिन्न लोगों के किसी समूह के सदस्य से संपर्क की भावना थी। इस प्रकार, एक ओर, भाषायी समानता की सीमाओं में साम्य – "हम" – की चेतना और, दूसरी ओर, भेदों – "वे" – की चेतना ने (साम्य और भेद, दोनों को ही भिन्न-भिन्न ढंगों से समझा गया होगा : साम्य – सभी बातों में पूर्ण साम्य, और भेद – मुख्यतः भाषा के मामले में भेद के रूप में) समूह अथवा समूहों की समष्टि को अंदर से ऐक्यबद्ध किया और बाहर से उनकी अन्य समूहों से भिन्नता अथवा विरोध को बढ़ाया। मनोवैज्ञानिक कारक, अर्थात समूह मानस और समूह व्यवहार की मानसिकता ने अपने आरंभिक चरणों से ही जातीय रूप धारण कर लिया था और भाषा की भांति वे नृजातिनिर्माण के प्रेरक भी थे और सहगामी भी। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे देखते हुए इसका काल पिथिकैंथ्रोपसों का चरण माना जा सकता है।

अध्याय पांच

सामाजिक संबंधों का गठन

इस संकल्पना की अर्थवत्ता और परिधि

ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक संबंधों की सुस्पष्ट व्याख्या करता है ; इस क्षेत्र में भी वह सामाजिक उत्पादन की प्राथमिकता तथा सभी सामाजिक संस्थाओं के निरूपण में उसकी अद्वितीय भूमिका पर बल देता है। सामाजिक संबंध वे संबंध हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया में लोगों के बीच बनते हैं, अर्थात उत्पादन संबंध जमा वे संबंध जो किन्हीं भी सामाजिक दलों की अन्योन्यक्रिया की प्रक्रिया में लोगों के बीच बनते हैं। आदिम युग में जीवन-चक्र की विपन्नता और एकरसता को, जो अनेक बार इंगित की गयी है, देखते हुए यह प्रतीत हो सकता है कि तब कोई सामाजिक स्तरीकरण होना तो दूर, उसके लिए पूर्वाधार तक नहीं बन सकते थे, सो यह सोचा जा सकता है कि आदिम समाज में सामाजिक संबंध केवल उत्पादन संबंधों तक ही सीमित थे और, परिणामतः, वे उत्पादन प्रक्रिया के भीतर संबंधों के रूप में ही प्रकट होते थे। परंतु वास्तव में किसी भी प्रकार के उत्पादन संबंध अपने पीछे सामान्यतः सामाजिक संगठन के इस या उस रूप को लाते हैं।

एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' के १८८४ में ज़ूरिच में निकले पहले संस्करण की भूमिका में बिल्कुल उचित ही समाज के जीवन के पुनरुत्पादन के दोहरे स्वरूप पर बल दिया – एक ओर, जीवन के भौतिक आधारों का पुनरुत्पादन होता है तथा, दूसरी ओर, स्वयं मनुष्यों का पुनरुत्पादन। इस मूलभूत प्रस्थापना के समर्थन में एंगेल्स ने अपनी पुस्तक में अलग-अलग पक्षों से विभिन्न तर्क प्रस्तुत किये। तब से इतिहासविज्ञान में इसने पक्का स्थान बना लिया है। आदिम समाज में उत्पादन संबंधों के समानांतर रक्त संबंधों का भी, जो अधिकाधिक

हद तक सामाजिक पक्ष पाते गये थे, अध्ययन करने में मार्क्स-वादी विचारोंवाले शोधकर्ताओं की रुचि भी इसी प्रस्थापना द्वारा पूर्वनिर्धारित है।

अनेक दशकों तक उत्पादन संबंधों और रक्त संबंधों का वास्तव में ही समानांतर अध्ययन हुआ, क्योंकि यह स्वतःस्पष्ट लगता था कि उत्पादन और रक्त संबंध संपाती होते हैं, अर्थात संबंधियों का दल, यथा, परिवार अथवा गोत्र ही आर्थिक समुदाय की भूमिका अदा करता है। लेकिन कालांतर में न्यू गिनी और आस्ट्रेलिया के पिछड़े समाजों के बारे में काफ़ी प्रचुर सामग्री जमा की गयी जो इस सुघड़, किंतु सरलीकृत उपागम की सीमाओं में नहीं समाती थी। यह सामग्री दिखाती है कि आर्थिक प्रक्रिया में परिवार की भूमिका काफ़ी क्षीण है, कि गोत्र समुदाय भी सदा आर्थिक इकाई नहीं होते। 'सोवेत्स्कया ऐत्नोग्राफ़िया' (सोवियत नृजातिविज्ञान) पत्रिका में इस सामग्री को लेकर वाद-विवाद चला, किंतु उससे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सका। परंपरागत दृष्टिकोण-वाले और "नवप्रवर्तक" – सभी का अपना-अपना मत बना रहा, किंतु यही इस वाद-विवाद की सार्थकता थी: सामाजिक-उत्पादन समुदायों और रक्त संबंधियों के समुदायों के संपाती न होने के बारे में तथ्यों का खंडन नहीं हुआ, परिणामतः, वाद-विवाद ने यह दिखाया कि सामाजिक संगठन के विकास के आरंभिक चरणों की व्याख्या एकल नहीं, बहुल उपागम की सीमाओं में की जा सकती है अर्थात इन धारणाओं की सीमाओं में कि, एक ओर, उत्पादन समुदाय की तथा, दूसरी ओर, परिवार और गोत्र की परिधियां किन्हीं स्थानों पर एक ही थीं, और कहीं अलग-अलग थीं। रक्त संबंधों और उत्पादन संबंधों की परिधियों के संपाती होने के पक्ष में अ० पेर्शिन के सर्वाधिक विश्वासोत्पादक तर्क (१९७०) आधुनिक पिछड़े जनगण तथा मध्यपाषाण युग के कतिपय समाजों के बारे में निर्विवाद हैं (अ० पेर्शिन ने उत्तरी अफ़्रीका की मध्यपाषाण-कालीन आबादी के बारे में सूचना का उपयोग किया है), किंतु ये तर्क कहां तक सार्विक स्वरूप रखते हैं और इन्हें सामाजिक संगठन के विकास के बिल्कुल आरंभिक चरणों पर कहां तक लागू किया जा सकता है – यह अभी अस्पष्ट ही है।

इस सारे वाद-विवाद का हमारे विषय से यह संबंध है कि वह साफ़-साफ़ दिखाता है – आदिम समाज में सामाजिक संबंध केवल उत्पादन संबंधों तक कदापि सीमित नहीं थे, उनमें एक प्रमुख घटक के नाते रक्त संबंध भी शामिल थे। उत्तरवर्ती काल की ऐतिहासिक सामग्रियों के अनेक अनुसंधानों से पता चलता है कि ये अंतोक्त संबंध वर्गाधारित समाज में भी अपनी भूमिका बनाये रखते हैं, जबकि इतिहास के उदयकाल में तो ये संबंध व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित करनेवाले कारक ही समझे जाते थे। रक्त संबंधियों के दल एक दूसरे के लिए यथार्थतः कार्यरत सामाजिक शक्तियां ही थे। अतः, इस अध्याय में मानव समाज के आरंभिक चरण में सामाजिक संबंधों के पहले रूपों के गठन की चर्चा करते हुए हम सर्वप्रथम रक्त संबंधों के स्वरूप को ही लेंगे। ऐसा करना इसलिए भी उचित है कि उत्तर पुरापाषाण तथा परवर्ती ऐतिहासिक कालों के समुदायों के लिए अच्छी तरह अन्वेषित परिवार, गोत्र, बहिर्विवाह, आदि परिघटनाएं रक्त संबंधों के विभिन्न रूपों को ही व्यक्त करती हैं। ऐसा रक्त संबंध लैंगिक जनन का, जो पशु जगत में प्रमुख है, सीधा परिणाम है। लैंगिक जनन के विभिन्न रूपों के अनुसार वह पशुओं के समूहों में, मानवाभ वानरों में भी, विभिन्न रूप पा लेता है। सो, बहुत मुमकिन है कि प्राचीनतम होमिनिडों के समूहों में जन्म ले रहे सामाजिक संबंधों का कोई सादृश्य व्यवहार के उन रूपों में मौजूद हो, जो पशु समूहों में लैंगिक जनन, शावकों के पालन-पोषण तथा सामान्यतः लैंगिक-आयुवर्गीय संरचना से संबंधित हों। इन पंक्तियों के लेखक ने इस प्रश्न पर एक विशेष लेख (१९८०) लिखा है, जिसका शीर्षक है: 'कतिपय सामाजिक संस्थानों की मूल अवस्थाओं के पुनर्कल्पन के लिए महत्वपूर्ण जैव परिघटनाएं'।

जैव पूर्वाधार

सामाजिक संगठन के आरंभिक रूपों की उत्पत्ति की समस्या को आदिम समाज विषयक विज्ञान में एक केंद्रीय स्थान प्राप्त है। इन आरंभिक रूपों का प्रत्यक्ष प्रेक्षण ऐतिहासिक विकास का लंबा पथ तय कर चुके, किंतु नृजातीय दृष्टि से पिछड़े आधुनिक

15-1291

समाजों में ही हुआ है, सो हम उन्हें अवशेष रूप में ही जानते हैं। अतः, सामाजिक संबंधों के आरंभिक रूपों के उद्गमों, गठन के कारकों और विकास के चरणों के पुनर्कल्पन के लिए नृजातिवर्णन विषयक ज्ञान के अलावा पुरातत्वीय सामग्री का विश्लेषण, पुरापाषाण काल से संबंधित पुरामानववैज्ञानिक जानकारी का उपयोग, इत्यादि भी अपेक्षित है। इस सिलसिले में विशाल कार्य किया जा चुका है, परंतु फिर भी कई प्रश्न स्पष्ट नहीं हुए हैं, इनके लिए आगे अनुसंधान करना आवश्यक है। इस प्रसंग में पिछले दो दशकों में वानरों के व्यवहार के अध्ययन में रुचि बहुत बढ़ गयी है – सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति के तुलनात्मक अनुशीलन के लिए ऐसे अध्ययनों से प्राप्त जानकारी निस्संदेह रोचक है। इस प्रश्न पर उपलब्ध साहित्य यह दिखाता है कि आधुनिक वानरों (विशेषतः मानवाभ वानरों) के समूहगत व्यवहार तथा प्राचीनतम होमिनिडों के समूहगत व्यवहार के आरंभिक रूपों में सादृश्य, समवृत्ति देखने की विधि कितनी फलप्रद है।

पिछले वर्षों में बड़ी संख्या में हुए व्यवहार विषयक अनुसंधानों से तीन बातें स्पष्टतः उभरकर सामने आयी हैं। पहली बात, यह धारणा कि वानर झुंड में नर असाधारणतः आक्रामक होते हैं, मादा के लिए सक्रिय संघर्ष करते हैं और, परिणामतः, उनमें तथाकथित "जैविक व्यष्टिकता" चरम सीमा में व्यक्त होती है – यह धारणा वास्तविकता से मेल नहीं खाती है, अतः यह धारणा आदिम यूथ के गठन के आरंभिक चरणों के पुनर्कल्पन का आधार नहीं हो सकती, हालांकि नृजातिविज्ञानी इस नाते इसका अक्सर उपयोग करते आये हैं। दूसरी बात, वानरों के विभिन्न दलों के यूथगत व्यवहार के बारे में प्रचुर और महत्वपूर्ण नवीनतम सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे यह पता चलता है कि उनका यूथगत व्यवहार विविधतापूर्ण है, कि इस प्रकार बननेवाले व्यवहार के यूथगत रूप अस्थायी होते हैं, इन रूपों के गठन में केवल यौन संबंध ही नहीं, बल्कि सोपानक्रमिक तथा अन्य कई प्रकार के संबंध भी महत्व रखते हैं। अंततः, तीसरी बात, वानरों के यूथगत व्यवहार में कुछ ऐसे तत्वों की खोज की गयी है जो सामाजिक संगठन के विभिन्न रूपों में ऐसे ही तत्वों का दूरवर्ती सादृश्य प्रतीत होते

हैं (अनेक जातियों के नर वानरों में पायी जानेवाली एक ही पीढ़ी की सीमाओं में मैथुन की प्रवृत्ति, दूसरे दलों की मादाओं से मैथुन की प्रवृत्ति)। आदिम यूथ में सामाजिक संबंधों के आरंभिक रूपों के पुनर्कल्पन के लिए अब वानरों के व्यवहार के अध्ययन से प्राप्त महत्वपूर्ण जानकारी को नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। इस समस्या पर 'सोवेत्स्कया ऐत्नोग्राफ़िया' पत्रिका में हुए वाद-विवाद के अंत में संपादकीय लेख में उचित ही यह इंगित किया गया कि "इस समस्या पर अनुसंधानों के मामले में विभिन्न ज्ञान-शाखाओं के बीच समन्वय का अभाव है", तथा यह आह्वान किया गया कि "सामाजिक संगठन के निर्माण के चरणों का चहुंमुखी अध्ययन हो"।

यह देखना भी रोचक होगा कि यह वाद-विवाद कैसे छिड़ा और कैसे चला। इसकी शुरुआत ल० फ़ाइनबर्ग (१९७४) ने की, जिनका लेख वस्तुतः कालांतर में प्रकाशित उनकी पुस्तक का सारांश था। क० फ़ाब्री (१९७४) ने वाद-विवाद के दौरान उन पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने वानर यूथ में व्यष्टियों के बीच परस्पर संबंधों का शांतिपूर्ण स्वरूप सिद्ध करने की ओर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया है। फ़ाब्री के मत में, ऐसे प्रमाण देना अनावश्यक है, क्योंकि वानरों की प्रखर "जैविक व्यष्टिकता" की चर्चा एस० पुकरमैन के काफ़ी पुराने शोधकार्य के प्रकाशन (१९३२) के बाद ही की जा सकती थी, अर्थात तब जब पशुओं, विशेषतः मानवाभ वानरों के जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध थी। आज तो जीवपारिस्थितिकी के द्रुत विकास के बाद हमें पशुओं के यूथगत संबंधों के बारे में जो कुछ ज्ञात है उस सबसे इसका कोई मेल नहीं बैठता है। वाक़ई, इस धारणा को त्यागा जा सकता था, लेकिन परंपरा बड़ी जीवंत निकली। छठे दशक के आरंभ से पशुओं के व्यवहार का प्रयोगशालाओं में नहीं, बल्कि प्राकृतिक परिस्थितियों में सक्रिय और चहुंमुखी अध्ययन होने लगा। वानरों के व्यवहार को समर्पित रचनाओं का सिलसिला सातवें दशक के आरंभ से शुरू हुआ और अब तक जारी है। फ़ाइनबर्ग ने अपने विरोधियों को उत्तर देते हुए उचित ही कहा कि विशेष प्राणि-वैज्ञानिक साहित्य में प्रकाशित व्यवहार विषयक नवीनतम जानकारी से नृजातिविज्ञानी या तो पूरी तरह अनभिज्ञ रहे हैं, या फ़िर उन्हें

इनका आंशिक ज्ञान ही है। यही कारण है कि सामाजिक संबंधों के विकास के आरंभिक चरणों के पुनर्कल्पन के विषय पर अभी हाल ही तक प्रकाशित रचनाओं में भी "जैविक व्यष्टिकता" का अति-मूल्यांकन पाया जाता है। सामाजिक संस्थाओं के गठन और विकास के आरंभिक चरणों में इन संस्थाओं का एकमात्र नहीं, तो कम से कम एक प्रमुख कार्यभार "जैविक व्यष्टिकता" पर अंकुश लगाना ही माना जाता है। इसके अतिमूल्यांकन का तर्कसंगत परिणाम यह होता है कि यौन वर्जनाओं के सामाजिक महत्व का भी अतिमूल्यांकन किया जाता है। आदिम यूथ में यौन संबंधों को ऐसे तत्व के रूप में देखा जाता है जो टकरावों का स्थायी स्रोत था और श्रम सक्रियता में बाधक था। बहिर्विवाह की उत्पत्ति की काफ़ी प्रचलित प्राक्कल्पना इस अंतोक्त बात को ही प्रमुख कारक मानकर चलती है, अनेक आदिम जन-जातियों के अध्ययन से प्राप्त सामग्री की तुलना करते हुए इस प्राक्कल्पना के पक्ष में तर्क पेश किये गये हैं (स० तोलस्तोव, १९३५)। अमरीकी साहित्य में यह प्राक्कल्पना बी० सेलिग्मैन (१९५०) और एम० सेलेंस (१९६०) ने, प्रत्यक्षतः स्वतंत्र रूप से, निरूपित की। इसके प्रमाण में बहुधा यह इंगित किया गया कि शरीरक्रिया के पुनर्गठन के फलस्वरूप मानव के पूर्वजों में दूसरे स्तनपायी जीवों की तुलना में यौन सक्रियता स्थायी हो गयी। लेकिन मानवाभ वानरों में भी दूसरे स्तनपायी जीवों जैसा यौन चक्र नहीं देखने में आता। यहां यदि इतना और जोड़ दिया जाये कि भांति-भांति की यौन वर्जनाओं के नृजातीय उदाहरण अपेक्षाकृत विकसित समाजों से ही लिये गये हैं और ये वर्जनाएं सदा जादू-टोने के रूप में होती हैं तो यौन वर्जनाओं की प्रथाओं के बारे में जानकारी को आदिम यूथ में लिंगों के परस्पर संबंधों को सीधे-सीधे बहिर्वेशित किया जाना एक कोरा अनुमान ही प्रतीत होता है।

वानरों के व्यवहार के अध्ययन में रुचि जहां अत्यंत बढ़ रही है, वहीं, दूसरी ओर, यह विचार भी व्यक्त किया जाता है कि वानरों के (मानवाभ वानरों के भी) यूथ जीवन के बारे में सारी जानकारी का आदिम सामाजिक संगठन के पुनर्कल्पन के लिए कोई महत्व नहीं है, या बहुत सीमित महत्व है, क्योंकि यह जानकारी जीवविज्ञान के क्षेत्र की है, जबकि सामाजिक संगठन और कुल

जमा समाजोत्पत्ति जैविक नियमों के कार्य-क्षेत्र से परे स्थित है। इस कथन का दूसरा भाग, हमारे विचार में, सही है, किंतु क्या वह पहले भाग को उचित मानने का पर्याप्त आधार हो सकता है, जिसमें यह कहा गया है कि वानरों के यूथ व्यवहार की जानकारी का आदिम यूथ में व्यक्तियों के संबंधों में बहिर्वेशन असंभव है, अथवा उसकी संभावना अत्यंत सीमित है? हमें तो यह संदेहास्पद ही लगता है, इसके प्रमाणस्वरूप हम मार्क्सवादी प्रणालीतंत्र के लिए महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय प्रस्थापना इंगित करना चाहेंगे – सजीव प्रकृति में भी और निर्जीव प्रकृति में भी नियमों का सोपानक्रम है, प्रत्येक नियम की परिधि में निश्चित परिघटनाएं आती हैं, किंतु अधिक ऊंचे सोपानक्रमिक स्तर पर यह नियम अधिक सामान्य नियम के कार्य-क्षेत्र में शामिल होता है। किसी हद तक नैरंतर्य के बने रहने के बिना निम्नतर से उच्चतर की ओर किसी भी प्रकार के आरोहण की कल्पना नहीं की जा सकती, यह आरोहण अधिक ऊंचे स्तर पर पूर्ववर्ती चरण के किन्हीं गुणों या लक्षणों का विकास ही है। लेनिन के इन शब्दों का कि निषेध को "संबंध का तत्व, सकारात्मक को बनाये रखते हुए विकास का तत्व"* समझना चाहिए – इनका विचाराधीन समस्या के लिए आधारभूत महत्व है। द्वंद्ववाद के नियम प्रकृति के सामान्य नियम हैं, वे सजीव प्रकृति और समाज, दोनों के ही विकास की नियमसंगतियों में प्रकट होते हैं और, प्रत्यक्षतः, उनके जरिये ही यह आंका जा सकता है कि सजीव प्रकृति की कौन-सी आधारभूत नियमसंगतियां रूपांतरित होकर मानव समाज के जीवन में प्रकट होती हैं तथा इस समाज के विकास के आरंभिक चरण में यह रूपांतरण किस प्रकार हुआ। इस सिलसिले में व० नोवक के सैद्धांतिक कार्य (१९६७, १९७५, १९७८) बहुत रोचक हैं, जिनमें उन्होंने सरलतम जीवों से लेकर मानव तक के व्यवहार के सामाजिक रूपों के उत्सों का पता लगाने की कोशिश की है।

समाजोत्पत्ति के आरंभिक चरण में जैव दलों में, हमारे मामले में वानरों के समूहों में, व्यष्टियों के बीच संबंधों का रूपांतरण किस

---

* व्ला० इ० लेनिन, 'दार्शनिक कापियां', संपूर्ण रचनावली, खंड २९, पृ० २०७ (रूसी में)।

प्रकार होता है? आकृतिक एवं शरीरक्रियात्मक उद्‌विकास के चरणों से यद्यपि मानस का विकास स्वतंत्र है तथापि पशु जगत में आकृतिक-शरीरक्रियात्मक प्रगति तथा मानसिक विकास के स्तर में उत्थान की गति के बीच निश्चित समानांतरता पायी जाती है। यह अकारण ही नहीं कि आकृतिक-शरीरक्रियात्मक प्रगति के सर्वाधिक पूर्ण और तर्कसम्मत सिद्धांत के प्रवर्तक अ० सेवेर्त्सेव (१९२२) ने आकृतिक-शरीरक्रियात्मक उद्‌विकास के समानांतर मानसिक प्रकार्यों के उद्‌विकासमूलक परिष्करण पर विशेष रचना लिखी। अनेक तुलनात्मक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि निम्नतर चरण के शारीरिक संगठनवाले वानरों की तुलना में मानवाभ वानरों के मानसिक विकास का स्तर अधिक ऊंचा होता है। इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि आज पशु जगत के सभी प्रतिनिधियों में चिम्पांज़ी और गोरिला ही शरीर-आकृति की दृष्टि से मानव के सबसे अधिक समीप हैं। इन दोनों बातों को देखते हुए इन दो जातियों के यूथ जीवन के बारे में उपलब्ध जानकारी का विशेष महत्व है – यदि हम इसका उपयोग उद्‌विकास की मानव शाखा का सूत्रपात करनेवाले रूपों के समूहों में परस्पर संबंधों को समझने के लिए करना चाहते हैं।

गोरिला और चिम्पांज़ी के व्यवहार के सबसे अधिक बारीकी से और पूर्ण प्रेक्षणों में बी० शेलर और एम्लेन (१९६३) द्वारा पर्वतीय गोरिलों के यूथ संबंधों के तथा लेविक-गुडाल (१९७१) द्वारा किये गये चिम्पांज़ी के परस्पर संबंधों के प्रेक्षण सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं। इन जातियों की पारिस्थितिकी (परिवेश) में सभी भेदों के बावजूद इनका यूथ व्यवहार बहुत हद तक एक जैसा है। गोरिलों के दल में अलग-अलग आयु के १०-१५ नर और मादा, दोनों प्राणी होते हैं; दल के भीतर व्यष्टियों की स्थिति का निश्चित सोपानक्रम होता है। यह स्थिति व्यष्टि के आकार और शक्ति पर कम ही निर्भर होती है, किन्हीं दूसरे कारकों द्वारा निर्धारित होती है। यौन संबंधों को छोड़कर जीवन के शेष सभी क्षेत्रों में अधीनता और प्रधानता की पद्धति प्रकट होती है, किंतु पूर्वोक्त के मामले में कोई स्पष्ट टकराव नहीं होते। सामान्यतः, टकराव विरले ही कभी पैदा होते हैं, और लड़ाई में इनका अंत तो इससे भी अधिक विरला होता है, नियमतः, टकरावों का समाधान शांतिपूर्ण ढंग

से होता है – प्रधानता की पद्धति में निम्नतर चरण पर स्थित प्राणी अधिसंख्य मामलों में उच्चतर स्थितिवाले प्राणी के आगे झुक जाता है। प्रधानता-अधीनता के संबंध स्थायी नहीं होते – वे बदलते रहते हैं, लेकिन ये परिवर्तन खुली भिड़ंत का रूप नहीं लेते।

यह बात भी ध्यातव्य है कि गोरिला स्वभाव से ही शांत जीव हैं, जबकि चिम्पांजी अधिक आसानी से उत्तेजित हो जाते हैं; तो भी इन दोनों जातियों के बीच इस मामले में अधिक भेद नहीं हैं। चिम्पांज़ी के बारे में कहा जा सकता है कि इनके १०-१५ प्राणियों के छोटे यूथ कभी-कभी अधिक बड़े समूह के घटक होते हैं, जिसमें ८० तक चिम्पांज़ी हो सकते हैं। ये समूह खुले होते हैं, अर्थात कुछ चिम्पांज़ी दूसरे समूहों में चले जाते हैं, जबकि दूसरे समूहों से कुछ इनमें आ जाते हैं, साथ ही समूहों में निश्चित स्थिरता भी बनी रहती है।

इस सामान्य निष्कर्ष के बारे में, शायद, अधिक विस्तार से, ब्योरेवार बताया जाना चाहिए। प्रकृति में चिम्पांज़ी के जीवन का प्रेक्षण करते रहे अधिसंख्य विशेषज्ञों ने यह इंगित किया है कि उनके समूहों में निश्चित व्यवस्था होती है, उनमें संरचनात्मक तत्व देखे जा सकते हैं। समूहों में पशुओं की संख्या ३० से ७०-८० तक होती है। समूह के सदस्यों का अपने समूह के दूसरे जीवों तथा दूसरे समूहों के जीवों के प्रति रुख़ अलग-अलग होता है। अंतोक्त मामले में स्पष्ट आक्रामकता देखी जा सकती है। वन्य और अधखुले इलाक़ों में बसे समूहों के व्यवहार में भेद अत्यंत रोचक हैं: वनों में समूह का संगठन काफ़ी मुक्त होता है, जबकि सवाना में चलने का बिल्कुल निश्चित क्रम होता है (शावकों के साथ मादाएं, नर, शावकों के बिना मादाएं और युवा चिम्पांज़ी), प्रधानता के सुनिश्चित संबंध होते हैं, इत्यादि। एक ही समूह यदि सवाना से जंगल में या जंगल से सवाना में जाता है तो उसका यूथगत व्यवहार और संबंध तदनुरूप बदल जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रयोगों के दौरान "वनवासी" और "सवानावासी" चिम्पांज़ियों के व्यवहार में अंतर देखा जाता है: पूर्वोक्त चिम्पांज़ी पड़ोस के पिंजड़ों में बंद हिंसक जंतुओं से डरते हैं, जबकि अंतोक्त उनके प्रति आक्रामक रुख़ दिखाते हैं। क्या यह मानवोत्पत्ति और वन से

सवाना में संक्रमण के आरंभ का एक माडल नहीं है? जहां तक समूहों के भीतर संरचनात्मक इकाइयों की बात है, इनमें, एक ओर, नरों और शावकों के बिना मादाओं के तथा, दूसरी ओर, शावकों के साथ मादाओं और एक-दो नरों के अस्थायी दल स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। सभी अनुसंधानकर्ता इस बात पर एकमत हैं कि समूहों में संबंध शांतिपूर्ण होते हैं, मादा के लिए संघर्ष में टकराव की स्थितियां पैदा नहीं होतीं तथा प्रधानता की पद्धति में काफ़ी नीचे स्थान पर स्थित नर भी यौन संबंधों में भाग लेते हैं।

कहना न होगा कि आधुनिक मानवाभ वानरों से संबंधित जानकारी को मानव के पूर्वजों के प्राचीनतम समुदायों पर सीधे-सीधे लागू करना उचित नहीं है। साथ ही आस्ट्रेलोपिथेसिनों, आर्कैंथ्रोपसों और पैलियोऐंथ्रोपसों के यूथ जीवन के पुनर्कल्पन में इसे नज़रंदाज़ भी नहीं किया जा सकता। जीवाश्मी मानवों के कपालों पर आयुधों से पहुंची चोटों के निशान मिलने की जिन घटनाओं का उल्लेख किया जाता है वे सारतः स्थिति को नहीं बदलती हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे मामले कम ही देखने में आते हैं, ये चोटें यूथ के भीतर हुई झड़पों का नहीं, बल्कि अलग-अलग आदिम मानव यूथों के बीच कभी-कभार हुई टकरावों का परिणाम हो सकती हैं। ऐसी झड़पें मानवाभ वानरों के दलों के बीच देखने में आती हैं, हालांकि ये बहुत विरली होती हैं। प्राचीन मानव समुदायों में श्रम के औज़ारों की उपस्थिति को देखते हुए, जो सहज ही रक्षा और आक्रमण के आयुधों का काम दे सकते थे, ऐसे टकराव कुछ अधिक उग्र हो सकते थे। किंतु साथ ही विचाराधीन प्रश्न के संदर्भ में हमें निम्न तथ्यों जैसे आधारभूत तथ्यों को भी याद रखना चाहिए: विशेषज्ञों ने जिस प्राणी को 'पिथिकैंथ्रोपस १' नामांकित किया है उसकी ऊर्वस्थि से स्पष्टतः पता चलता है कि वह अध्यस्थिता (अस्थि-ऊतक के बढ़ने के रोग – एक्ज़ोस्टोसिस) से ग्रस्त था; 'शेनिडर १' नामक नियंडरथल मानव के अवशेषों से साफ़ पता चलता है कि उसके जीवन-काल में ही कोहनी तक उसकी बांह काटी गयी थी। प्राचीनतम होमिनिडों के समुदायों में यदि परस्पर सहायता का प्रचलन न होता तो क्या ये प्राणी ज़िंदा बच सकते थे? सिद्धांततः, ऐसी संभावना की कल्पना कर पाना

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कठिन है, विशेषत: इसलिए भी कि पशुओं के समूहों तक में परस्पर सहायता का व्यापक प्रचलन देखने में आता है। वानर इस मामले में अपवाद नहीं हैं: उदाहरणत:, निश्चित परिस्थितियों में बैबून झुंड में कहीं जाते समय पीछे छूट गये जीवों के आने तक उनका इंतज़ार करते हैं, जानवरों के शिकार के पश्चात चिम्पांज़ी सहज ही झुंड के दूसरे सदस्यों के साथ मांस बांटते हैं। इस प्रकार, अभी हाल ही तक प्रचलित धारणाओं और आदिम समाज के इतिहास की पुस्तकों में दिये गये वर्णनों से भिन्न मानव के प्राचीनतम पूर्वज, प्रत्यक्षत:, कहीं अधिक शांतिप्रिय जीव थे। यदि ऐसा है तो क्या सामाजिक संबंधों की उत्पत्ति को ऐसा अंकुश माना जा सकता है जो उदीयमान समाज अलग-अलग व्यष्टियों के बीच हो सकनेवाले घातक टकरावों पर लगाता था? प्रत्यक्षत:, ऐसा नहीं माना जा सकता। इस उदीयमान समाज में इन संबंधों की भूमिका, संभवत:, दूसरी थी, श्रम की प्रक्रिया में समुदाय के सदस्यों के परस्पर संबंध का नियमन करना ही इनका ध्येय रहा होगा।

यहां इस बात पर ख़ास तौर से ज़ोर दिया जाना चाहिए कि सामाजिक संबंधों के गठन की सारी द्वंद्वात्मकता के बावजूद, पशुओं के यूथगत व्यवहार तथा प्राचीनतम लोगों के समुदायों में परस्पर संबंधों के बीच गुणात्मक भेद को स्पष्टत: समझते हुए भी हमें इस निष्कर्ष पर ही पहुंचना होगा, अन्यथा हम कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर पायेंगे। जीवपारिस्थितिकी से हमें यह कहने के लिए कोई आधार नहीं मिलता कि मानव के निकटतम पूर्वजों के समूहों में जैविक व्यष्टिकता विकसित थी, सो यदि हम जैविक व्यष्टिकता की प्राक्कल्पना को मानते हैं तो हमें यह अनुमान लगाना होगा कि मानव इतिहास की दहलीज़ पर, आदिम मानव यूथ के पहले रूपों की उत्पत्ति के साथ और इस यूथ में यह व्यष्टिकता उत्पन्न हुई। यदि ऐसा है तो इस विरोधाभासमय स्थिति की व्याख्या किन कारणों से की जा सकती है? हमें तो ऐसे कोई कारण नहीं दीख पड़ते। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जिन्हें यूथ के भीतर टकरावों का प्रमाण कहा जा सकता है उनकी व्याख्या सहज ही यूथों के बीच किन्हीं टकरावों से की जा सकती है, हालांकि ये टकराव भी विरले ही रहे होंगे। इसके अलावा यूथ में परस्पर सहायता के ऊपर चर्चित तथ्य भी मौजूद है।

यह सब देखते हुए जैविक व्यष्टिकता की प्राक्कल्पना, एक ओर तो, प्रत्यक्ष प्रेक्षणों के साथ मेल नहीं खाती है, दूसरी ओर, इसके आधार पर हम मानवोत्पत्ति की आरंभिक अवस्थाओं में सामाजिक संगठन के बनने के पहले चरणों के कारणों की व्याख्या नहीं कर सकते, उन्हें समझ नहीं सकते। अतः, यह प्राक्कल्पना, हमारे विचार में, अस्वीकार्य है।

सो, वानर यूथ में परस्पर संबंधों के अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण स्वरूप को, प्रत्यक्षतः, मानवोत्पत्ति के आरंभिक चरण में बहिर्वेशित किया जा सकता है। कपियों की और कौन-सी ऐसी व्यवहार संबंधी विशेषताएं हैं, जिनकी उर्वर धरती पर मानव के प्राचीनतम पूर्वजों के समूहगत व्यवहार में बन रहे सामाजिक संबंधों के पहले अंकुर फूट सकते थे? इस सिलसिले में जैव जगत में लिंगों के परस्पर संबंधों के आधारभूत जैविक गुणों की ओर ध्यान दिलाया जाना चाहिए, जिनका पता पिछले वर्षों में हुए शरीरक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन से चला है। उद्विकास में लैंगिक जनन की भूमिका तथा प्रत्येक पीढ़ी के जैविक लक्षणों के संप्रेषण में प्रत्येक लिंग के महत्व पर अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं, जिनमें बहुसंख्य तथ्यात्मक प्रेक्षण और सैद्धांतिक विवेचन दिये गये हैं। बहरहाल, पूर्ववर्ती ज्ञान की पृष्ठ-भूमि में विभिन्न पशुओं के दलों के नवीनतम अनुसंधानों से बहुत-से नये परिणाम प्राप्त हुए हैं, जिनका सामान्यीकरण लैंगिक जनन की प्रक्रिया में जैविक सूचना के संप्रेषण के सिद्धांत में किया गया है।

इन अनुसंधानों में यह दिखाया गया है कि किसी भी जाति के जनन की गति उसकी जैविक संभावनाओं की सीमाओं में सूचना-प्रवाहों द्वारा निर्धारित होती है। इन प्रवाहों की प्रकृति तो अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, हां, इतना निश्चित है कि ये प्रतिवर्ती क्षेत्र के ज़रिये पशुओं की यौन सक्रियता पर प्रभाव डालते हैं और परिवेश के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कारकों के अनुसार जाति की संख्या और उसमें नर-मादा का अनुपात बड़ी बारीकी से नियमित करते हैं। जातीय समस्थिति बनाये रखने में नर और मादा की अलग-अलग भूमिका का भी पता चला है। मादा उद्विकास में स्थिर तत्व का मूर्तरूप होती है और, प्रत्यक्षतः, स्थिरताकारी वरण उसी के ज़रिये काम करता है – जाति के विशिष्ट लक्षणों को अभिपुष्ट करता है और निश्चित परिवेश के प्रति जाति का अधिकतम अनुकूलन

सुनिश्चित करता है। नर चर तत्व के प्रकार्य का वाहक होता है, नरों के पहले से अभिपुष्ट लक्षणों को अगली पीढ़ी को प्रदान करते हुए यह तत्व, प्रत्यक्षतः, प्रतिक्रिया के मानक को अधिक व्यापक बनाता है और इस तरह वरण के चर रूप के कार्य और हस्तक्षेप के लिए क्षेत्र बनता है।

जीवविज्ञान की आधारभूत और सामान्य नियमसंगतियों को प्रतिबिंबित करनेवाले इन सभी प्रेक्षणों और निष्कर्षों का हमारे विषय से सीधा संबंध है, क्योंकि, यदि ये नियमसंगतियां पशुओं के और, शायद, वनस्पतियों के भी लैंगिक जनन की गहन विशेष-ताओं को व्यक्त करती हैं, तो फिर ऐसा तो हो नहीं सकता कि सामाजिक संबंधों के गठन के आरंभ में एकाएक इनका कार्य रुक गया हो। प्राकृतिक परिस्थितियों में मानवाभ वानरों के यूथगत व्यवहार के कुछ लक्षणों को इन सामान्य गहन विशेषताओं की ठोस अभिव्यक्ति माना जा सकता है। इन लक्षणों में प्रमुख हैं – मादाओं की तुलना में नर असाधारणतः गतिशील होते हैं, वे प्रायः एक यूथ से दूसरे में जाते हैं, इस गतिशीलता के अनुरूप ही यूथ की प्रधानता पद्धति में नरों की स्थिति अत्यंत परिवर्तनशील होती है। पारिस्थितिक दृष्टि से इतने भिन्न वानरों जैसे कि मार्मोसेट, बैबून, चिम्पांज़ी और गोरिला के प्रत्यक्ष प्रेक्षणों से इन परिघटनाओं का पता चला है। वैसे, गोरिला और चिम्पांज़ी के यूथ में इससे विपरीत बात भी देखने में आयी है: नर यूथ नहीं बदलते, मादाएं एक यूथ से दूसरे में जाती हैं। सो, उपरोक्त परिघटनाओं को प्राइमेट गण की एक सामान्य प्रवृत्ति तो नहीं कहा जा सकता, हां, इतना अवश्य कहना होगा कि ऐसी प्रवृत्ति का प्रचलन काफ़ी व्यापक है। बेशक, हम सीधे-सीधे यह नहीं कह सकते कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों या आरंभिक ओर्कैंथ्रोपसों के यूथों में ऐसी प्रवृत्ति मौजूद थी। परंतु, जैसा कि ऊपर हमने कहा है, ऐसी प्रवृत्ति में आधारभूत नियमसं-गति व्यक्त होती है तथा पदार्थ की सामाजिक गति के उच्चतर स्तर पर ऐसी नियमसंगतियां परिवर्तित रूप में द्वंद्वात्मकतः बनी रहती हैं – सो, यह सब देखते हुए क्या यह अनुमान लगाना तर्कसंगत नहीं होगा कि ऐसी प्रवृत्ति ही वह मूल अवस्था थी, जिससे कालांतर में अनेक सच्ची सामाजिक परिघटनाएं बनीं, जैसे कि यौन संबंधों

को समूह की सीमाओं से बाहर रखना, लंबे समय तक बच्चों का माताओं के साथ रहना, इत्यादि? ऐसी मूल अवस्था को अस्वीकार करने के लिए हमारे पास न सैद्धांतिक पूर्वाधार हैं और न ही तथ्यात्मक।

वानर यूथ में एक और लक्षण ध्यातव्य है। चर्चा अलग-अलग पीढ़ियों के बीच यौन संबंधों की विरलता की है। इसकी पुष्टि इन प्रत्यक्ष प्रेक्षणों से होती है कि चिम्पांज़ी, मैकाक, बैबून वानरों में शावक लंबे समय तक माता के साथ रहते हैं, तथा इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इनके पारिस्थितिक कोष्ठक सीमित होते हैं, जिसके कारण अस्तित्व के लिए प्रबल संघर्ष होता है और फलतः शावकों की मृत्यु-दर ऊंची होती है, जीवन-काल अल्प होता है। जन्म-दर ऊंची होते हुए भी, नियमतः, प्रत्येक मादा के ऐसे शावकों की संख्या बहुत कम होती है, जो वयस्क होने तक बचे रहते हैं, प्रायः मादा स्वयं तब तक मर जाती है या बहुत बूढ़ी हो चुकी होती है। किंतु संतान के साथ यौन संबंध संभव होने पर भी इनसे बचने की व्यवहारात्मक प्रवृत्ति पायी जाती है जो, शायद, निरोपाधिक प्रतिवर्त द्वारा ही निर्धारित होती है। प्राचीनतम होमिनिडों में ऐसे संबंधों से बचने की प्रवृत्ति के होने या न होने के बारे में कुछ कह पाना मुमकिन नहीं है, तो भी इतना याद रखना चाहिए कि आस्ट्रेलोपिथेसिनों और आर्कैंथ्रोपसों – दोनों का ही जीवन-काल अल्प था। सो, यह अनुमान लगाने का निश्चित आधार अवश्य है कि आरंभिक होमिनिडों के प्राचीनतम यूथों में भी विभिन्न पीढ़ियों के प्रतिनिधियों के बीच यौन संबंध की संभावना काफ़ी कम ही थी। ऐसे निष्कर्ष को देखते हुए हम एक बार फिर आदिम यूथों में स्वच्छंद यौन संबंध और रक्त संबंधी परिवार होने की उन विभिन्न प्राक्कल्पनाओं को तिलांजलि दे सकते हैं जिनका उपयोग आज भी कभी-कभी सामाजिक संगठन के पहले चरण के पुनर्कल्पन के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, हम यह पाते हैं कि होमिनिडों को जन्म देनेवाले कपियों के समूहों में परस्पर संबंध अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण थे, यौन संबंधों के क्षेत्र में समूहों का मादा अंश अपेक्षाकृत स्थिर होता था, जबकि नर अंश बदलता रहता था, अंततः, विभिन्न पीढ़ियों के

प्रतिनिधियों के बीच यौन संबंधों के मामले विरले थे। श्रम सक्रियता की ओर संक्रमण की प्रक्रिया में जब सामाजिक परस्पर संबंध बनने लगे तो मूल अवस्था की इन जैविक विशेषताओं को ग्रहण किया गया और इन्होंने उस ज़मीन का काम किया जिस पर कालांतर में कतिपय सामाजिक संस्थाएं गठित हुईं। हमारे विचार में, मानवोत्पत्ति की आरंभिक अवस्था में सामाजिक संबंधों के उद्भव में जैविक और सामाजिक की अन्योन्यक्रिया की द्वंद्वात्मकता ऐसी है। श्रम सक्रियता में परिष्कार के साथ-साथ वह सामाजिक संबंधों की अधिक लचीली और कारगर पद्धति तथा संप्रेषण-तंत्र के भी निर्माण का कार्यभार गठित हो रहे समाज के सम्मुख रखती गयी, इस सारी प्रक्रिया के दौरान यूथगत व्यवहार की मूल जैविक विशेषताएं अलग-अलग रास्तों से ग्रहण की जा सकती थीं। बहुत संभव है कि मुखिया नर द्वारा यूथ में से नरों को खदेड़ा जाना, मुखिया के नाते उसी यूथ में उनके लौटने की अल्प संभावना, अंततः, प्रधानता के लिए संघर्ष में अलग-अलग पीढ़ियों के नरों के टकराने की इतनी ही अल्प संभावना – इस सब की महत्वपूर्ण भूमिका रही हो। यहां इतना और जोड़ा जाना चाहिए कि बहिर्विवाह के ऐसे पूर्वाधार बन पाते, इसके लिए यह अपेक्षित था कि पहले शक्तिशाली नर की प्रधानता में यूथ अधिक समेकित होता। ऐसे अनुमान में कुछ भी असंभव नहीं है : इसके विपरीत, मानव के पूर्वजों द्वारा आखेट और मांसाहार आरंभ किये जाने के फलस्वरूप यूथ का समेकन हुए बिना, उसमें हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली मुखिया की स्थिति सुदृढ़ हुए बिना नहीं रह सकती थी। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम यूथ का हरमरूपी संगठन वास्तव में रहा होगा। लक्ष्यबद्ध और नियमित रूप से आखेट में प्रवृत्त होने पर एक नूतनाचार के तौर पर ऐसा रूप प्रकट हो सकता है, हालांकि वानर समूहों के संगठन का ऐसा रूप कपियों की अपेक्षा बंदरों में ही अधिक पाया जाता है।

यहां एक और बात का ज़िक्र करना आवश्यक है। ऊपर हमने जो कुछ लिखा है उससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि नरों के एक यूथ से दूसरे में जाते रहने तथा विभिन्न यूथों में लैंगिक जनन में भाग लेने के फलस्वरूप विभिन्न यूथों के बीच जीनों का विनिमय होता रहा होगा, किंतु सही-सही कहा जाये तो इसकी

भी एक सीमा है। कोई भी जाति किसी निश्चित पारिस्थितिक कोष्ठक से संबद्ध होती है, किंतु इसकी सीमाओं में भी उसका वास-क्षेत्र अनवरत नहीं होता। बहुसंख्य अनुसंधानों से यह पता चलता है कि यह वास-क्षेत्र विच्छिन्न होता है तथा इन या उन भूपारिस्थितितंत्रों से जुड़ा होता है। ऐसे विच्छिन्न वास में ही, प्रत्यक्षतः, जाति के समष्टियों में विभेदीकरण की (अर्थात तथाकथित भौगोलिक जाति-निर्धारण की, जो मुख्यतः सभी स्तनपायी जीवों के लिए लाक्षणिक है) सार्थकता निहित है। शरीर-आकृति के तुलनात्मक अध्ययनों और उद्विकास संबंधी अनुसंधानों से यह पता चला है कि किसी जाति का सबसे अधिक तीव्र गति से उद्विकास तभी होता है जबकि वह समष्टियों में विभाजित हो और साथ ही इन समष्टियों के बीच जीनों का आदान-प्रदान होता हो।

उद्विकासविज्ञान के इन नियमों को वानरों, सर्वप्रथम कपियों, के यूथगत व्यवहार की तथ्यात्मक सामग्री से मिलाते हुए हम मूल अवस्था के विशेष लक्षणों में एक लक्षण और जोड़ सकते हैं: नरों की चरता असीम नहीं थी, बल्कि समूहों के एक दल के भीतर ही सीमित थी, उन समूहों के जो निश्चित भूखंड से जुड़े हुए थे और उद्विकास की दृष्टि से एक समष्टि थे। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि दो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं – समूहों से बाहर यौन संबंधों की प्रवृत्ति, जिसके वाहक नर थे, तथा समूहों के दल के भीतर इनके सीमित होने की प्रवृत्ति, जो जाति के वास के परिवेश द्वारा, उसके विच्छिन्न वास-क्षेत्र द्वारा निर्धारित होती थी। मानव के प्राचीनतम पूर्वजों में ऐसी समष्टियां भी थीं जिनमें अंतर्विवाह की प्रवृत्ति थी। किंतु यह कल्पना करना कठिन है कि इन समष्टियों की पृथकता पूर्ण थी और यौन अथवा उत्पादनमूलक वर्जनाओं की किसी पद्धति द्वारा अभिपुष्ट थी (ऐसे कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि आदिम मानव यूथ के विकास के आरंभिक चरण में वर्जनाओं की विकसित व्यवस्था थी, इसके विपरीत, भांति-भांति की वर्जनाओं की उत्पत्ति अपक्षाकृत उत्तरवर्ती काल में हुई)। समष्टियों के बीच अनियमित संपर्क जीनों के विनिमय को, जो प्रगामी उद्विकास में सहायक था, निश्चित स्तर पर बनाये रख सकते थे। समष्टियों के भीतर अलग-

अलग यूथों मे उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप यूथ से बाहर यौन संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति, प्रत्यक्षतः, प्रबल हुई होगी। संबंधों की ऐसी व्यवस्था में बहिर्विवाही गोत्रोंवाले अंतर्विवाही क़बीलों का आद्यरूप देखे बिना नहीं रहा जा सकता। लेकिन पहले होमिनिडों के प्रकट होने से लेकर आधुनिक प्ररूप के मानव के गठन तक बीस लाख वर्ष बीते, जिनके दौरान सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में यह विराट प्रक्रिया संपन्न हुई।

आदिम यूथ की गत्यात्मकता

आदिम समाज के इतिहास पर अधिसंख्य रचनाओं में होमिनिडों के इतिहास के इस विराट काल को आदिम यूथ का काल कहा जाता है। खेदवश, एक सामाजिक संस्था के नाते इसका ठोस ज्ञान पाने की दिशा में हम अभी अधिक आगे नहीं बढ़ पाये हैं और इसके बारे में हमारी धारणाएं अत्यंत सामान्य ही हैं। तो भी, आस्ट्रेलोपिथेसिन से लेकर नियंडरथल तक आदिम यूथ में सामाजिक संबंधों के विकास की कल्पना करने के प्रयास से अपने आप को रोकना कठिन है। इसके लिए वस्तुतः कोई ठोस तथ्य उपलब्ध नहीं हैं और हम इस प्रक्रिया के पुनर्कल्पन का प्रयास केवल इसके आरंभिक एवं अंतिम चरणों के आधार पर ही कर सकते हैं। आरंभिक अवस्था हमने ऊपर रेखांकित की है, जबकि अंतिम अवस्था, सर्वाधिक प्रचलित सिद्धांत के अनुसार, गोत्र व्यवस्था है, जो उत्तर पुरापाषाण काल में गठित हुई। प्रत्यक्षतः, दूसरे यूथों में यौन संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति का प्रबल होना तथा फिर एक नियम बनना, अलग-अलग पीढ़ियों के व्यष्टियों के बीच विवाह का पूर्णतः वर्जित हो जाना, माता और उसकी सभी संतानों के बीच दीर्घकालीन और स्थायी संपर्कों का सुदृढ़ीकरण होना तथा उनके बीच जैविक संबंधों का रक्त संबंधों की चेतना के क्षेत्र में आ जाना – यही इस संक्रमण-काल का प्रमुख अंतर्य और इसकी मूल प्रवृत्तियां थीं। इस काल का पूर्ण विश्लेषण तो एक व्यापक विषय है, हम आदिम यूथ की कालगत गत्यात्मकता के पुनर्कल्पन के प्रयास के प्रसंग में ही इसे देखेंगे, क्योंकि इतना तो स्वतःस्पष्ट है कि आदिम

समाज में जीवन की सारी जड़ता और ऐतिहासिक परिवर्तनों की मंद गति के बावजूद बीस लाख वर्षों में कुछ न कुछ प्रगामी परिवर्तन तो संचित हुए ही होंगे।

इस स्वत:स्पष्ट विचार के आधार पर ही अपनी पुरानी कृतियों में इन पंक्तियों के लेखक ने आदिम यूथ के इतिहास में दो चरण इंगित किये थे। पहले चरण में आस्ट्रेलोपिथेसिन और पिथिकैंथ्रोपस आते थे, इसमें सामाजिक संबंधों का स्तर अत्यंत अपरिष्कृत था, जीवन-पद्धति अर्ध-यायावर थी, श्रम सक्रियता के रूप सरलतम थे। दूसरा चरण हमने नियंडरथल मानव के काल का माना था, जब श्रम सक्रियता में जटिलता आयी, स्थावर जीवन आरंभ हुआ, वैचारिक धारणाएं भ्रूण रूप में प्रकट हुईं। यह देखना कठिन नहीं है कि ये लक्षण बहुत ठोस नहीं हैं, परंतु इससे अधिक ठोस देना संभव भी नहीं है। अब इस कालानुक्रम में निश्चित परिवर्तन किये जा सकते हैं और आदिम यूथ के कालक्रमिक विकास में दो नहीं, तीन चरण इंगित करना संभव है। हमारे विचार में, ऐसा करने से होमो सेपियन्स के प्रकट होने तक के काल में प्राचीन होमिनिडों में सामाजिक संबंधों के उद्‌विकास का ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक स्पष्ट चित्रण होता है।

पहले चरण में आते हैं आस्ट्रेलोपिथेसिन। हमें याद है कि उनमें वाक् का विकास नहीं हुआ था, प्रत्यक्षत:, संकल्पनात्मक चिंतन भी विकसित नहीं था, पशुओं की ही भांति उनके बीच भी संप्रेषण मुख्यत: संप्रेषणात्मक ध्वनियों की मदद से होता था। वे पत्थर के और, शायद, लकड़ी और हड्डी के सरलतम औज़ार बनाते थे। वे कंद-मूल, फल, आदि बटोरते थे, आखेट के सरलतम रूपों का प्रचलन था। यह कल्पना करना कठिन है कि ऐसी स्थिति में समष्टियों में संबंध गोरिलों और चिम्पांज़ियों के यूथगत संबंधों से सिद्धांतत: भिन्न हो सकते थे। भेद यदि थे भी तो वे, शायद, परिमाणात्मक स्वरूप के ही थे। एकमात्र बात जो हम कह सकते हैं वह यह है कि विभिन्न पीढ़ियों के प्रतिनिधियों के बीच यौन संबंधों से बचने तथा आदिम यूथ के मादा अंश की अपेक्षाकृत स्थिरता एवं नर अंश की चरता की उपरोक्त प्रवृत्तियां इन संबंधों में प्रकट होती थीं।

दूसरा चरण पिथिकैंथ्रोपसों या आर्कैंथ्रोपसों का है। इस चरण में शब्दों-वाक्यों द्वारा संवाद के रूप में वाक् एवं भाषा की उत्पत्ति होती है, इनके समानांतर ही इंद्रियानुभव और उसके परिणामों के सामान्यीकरण के क्षेत्रों के साथ संकल्पनात्मक चिंतन का विकास होता है। यह सब जटिल हो गयी श्रम सक्रियता की आवश्यकताएं पूरी करता है – निश्चित रूप के औज़ार बनाना तथा बड़े जानवरों का हांका लगाकर शिकार करना संभव हो जाता है। जब तक कि आग जलाने के उपायों की खोज नहीं हो गयी तब तक आग को निरंतर जलता रखने का काम ही आर्थिक विशेषीकरण का पहला भ्रूण रहा होगा – यह काम तो शारीरिक दृष्टि से दुर्बल या वयोवृद्ध व्यक्ति भी कर सकते थे। मातृपक्ष में बननेवाले रक्त संबंधों की चेतना भी इसी चरण में आयी, यही बात इसे पूर्ववर्ती चरण से अलग करती है। दूसरे शब्दों में, वास्तव में अस्तित्वमान वे रक्त संबंध, जो वानरों और आस्ट्रेलोपिथेसिनों में मूर्तित थे और उनके व्यवहार के सोपाधिक प्रतिवर्तमूलक रूपों में प्रतिबिंबित होते थे (शायद, कुछ हद तक शुद्धतः शरीरक्रियात्मक निरोपाधिक प्रतिवर्त-मूलक संक्रियाओं के क्षेत्र से भी जुड़े हुए थे), पहली बार चेतना के क्षेत्र में उतरे और अब चेतना के ज़रिये यूथगत व्यवहार का संगठनकारी तत्त्व बने।

तीसरा चरण नियंडरथल मानव का है। नियंडरथल मानवों की भौतिक और आत्मिक संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है उसे देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस चरण में गोत्र व्यवस्था भ्रूण रूप में प्रकट हुई। इसकी ठोस अभिव्यक्ति इस बात में हो सकती थी कि अपने समूहों से बाहर ही पुरुषों के यौन संबंधों के व्यवहार ने एक नियम, एक संस्था का रूप लिया, जो अंततोगत्वा सामाजिक संबंधों के गोत्र रूप में संक्रमित होने में सहायक हुआ।

प्रत्यक्षतः, निश्चित विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि आदिम यूथ के विकास के ये तीन चरण ही सामाजिक संबंधों के निरंतर अधिक जटिल होते जाने का पथ हैं, जिसकी निष्पत्ति आधुनिक मानवजाति के आरंभिक प्रतिनिधियों के सभी नहीं, तो अधिकांश समुदायों में गोत्र के गठन में हुई।

अध्याय छः

मानवभूपरिस्थितितंत्रों की उत्पत्ति

आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के यथार्थ अस्तित्व, संरचना और उत्पत्ति की समस्या

मानवभूपरिस्थितितंत्रों की उत्पत्ति की समस्या पर आते हुए, संभवतः, सबसे पहले जिस प्रश्न की जांच की जानी चाहिए, वह आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की संकल्पना है। अपने सामान्य रूप में यह संकल्पना सोवियत नृजातिवर्णनात्मक साहित्य में पिछले पांच दशकों से प्रयोग की जा रही है। इसे स० तोलस्तोव (१६३२) ने अपनी एक ऐसी रचना में प्रतिपादित किया था, जिसमें सांस्कृतिक प्रारूपिकी के प्रश्नों की विशेष रूप से चर्चा नहीं की गयी थी और इसलिए इस संकल्पना का आधार अविवेचित ही छूट गया था। बाद में म० लेविन तथा न० चेबोक्सारोव (१६५५) ने इसे विकसित तथा सुस्पष्ट किया और दिखाया कि विभिन्न जातियों की संस्कृति के तत्त्वों के विश्लेषण तथा वर्गीकरण में इस संकल्पना को कैसे इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इस व्यापक संकल्पना में संस्कृति के वे सभी तत्त्व सम्मिलित किये जाते हैं, जो भौगोलिक परिवेश से लोगों के अनुकूलन की प्रक्रिया में, उसके उत्तरस्वरूप तथा उससे अन्योन्यसंबंध के तौर पर पैदा होते हैं। म० लेविन तथा न० चेबोक्सारोव की परिभाषा के अनुसार, आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप उन ऐतिहासिकतः विकसित अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति के समुच्चयों को कहते हैं, जो विभिन्न मूलों की, किंतु समान भौगोलिक परिस्थितियों में रहनेवाली और ऐतिहासिक विकास के लगभग एक जैसे स्तर पर स्थित जातियों के अभिलक्षक हैं। दूसरे शब्दों में, मिलती-जुलती प्राकृतिक परिस्थितियों में सामाजिक-आर्थिक विकास के एक जैसे स्तर पर स्थित जातियों में भौतिक संस्कृति के मिलते-जुलते समुच्चय पैदा हो जाते हैं, चाहे इन जातियों का

मूल एक दूसरे से कितना भी भिन्न क्यों न हो और चाहे उनके बीच हज़ारों किलोमीटर का भी फ़ासला क्यों न हो।

संस्कृति की परिघटनाओं में से सबसे अधिक मनुष्य की आर्थिक सक्रियता ही भौगोलिक परिवेश के साथ जुड़ी होती है। इसी कारण पर्यावरण से उसके संबंध को देखते हुए उसकी दिशाओं तथा उसकी सहगामी अन्य सांस्कृतिक परिघटनाओं को आर्थिक-संस्कृतिक प्ररूप का नाम दिया गया। आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की ठोस मिसालें आर्कटिक प्रदेश के समुद्री जीवों का शिकार करनेवाले, दक्षिणी अमरीका, अफ़्रीका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के उष्णकटिबंधीय वनों में शिकार तथा खाद्य-संग्रहण करनेवाले, बड़ी नदियों की घाटियों के शिकारी तथा मछलियां पकड़नेवाले, केंद्रीय एशिया की स्तेपियों तथा अर्ध-रेगिस्तानों के पशुचारक, आदि हैं। इनमें से प्रत्येक प्ररूप के अंतर्गत विभिन्न मूलों की जातियां आ जाती हैं। आर्कटिक प्रदेश में समुद्री जीवों का शिकार करनेवाले एस्कीमो, एल्यूत, चुक्चा तथा आंशिकतः कोर्याक हैं; उष्णकटिबंधीय वनों में शिकार तथा खाद्य-संग्रहण करनेवालों में मध्य अफ़्रीका की बंतुभाषी जातियां भी आती हैं और मलाका प्रायद्वीप के आस्ट्रेलोनेशियाई भाषाएं बोलनेवाले सेमांगा भी आते हैं; केंद्रीय एशिया की स्तेपियों तथा अर्ध-रेगिस्तानों के पशुचारकों में तुर्की तथा मंगोल, दोनों ही परिवारों की भाषाएं बोलनेवाली जातियां सम्मिलित हैं। इस प्रकार, विभिन्न जातियों में एकसमान अर्थव्यवस्था और उस पर निर्भर सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्माण, जैसा कि कहा जा चुका है, एकसमान प्राकृतिक परिस्थितियों में समानांतर विकास के परिणामस्वरूप हुआ।

ऐसे उपागम के आधार पर आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की विश्वव्यापी रूपरेखा और उनके वितरण का एक विश्वव्यापी मान-चित्र बनाया गया है और साथ ही उनके कालगत उद्‌विकास की प्राक्कल्पनाएं भी पेश की गयी हैं। कहा जा सकता है कि संस्कृतियों का आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों में वर्गीकरण करके अध्ययन करना सांस्कृतिक प्रारूपिकी के विकास का एक सर्वाधिक प्रचलित तरीक़ा है और सोवियत नृजातिवर्णनात्मक साहित्य में इसे एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसी कारण आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की प्राक्कल्पना

के प्रणालीतंत्रीय स्रोतों की खोज और समय के साथ उसमें जो परिवर्तन आये हैं, उनके क्रम का अध्ययन इतने महत्वपूर्ण बन जाते हैं। यद्यपि म० लेविन और न० चेबोक्सारोव ने उचित ही स० तोलस्तोव को आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की संकल्पना का प्रथम प्रतिपादक कहा है, न तोलस्तोव ने स्वयं और न उनके समानांतर काम करनेवाले अ० ज़ोलोतार्योव तथा अ० ओक्लाद्निकोव ने (लेविन एवं चेबोक्सारोव के लेख में उनका भी उल्लेख है), किसी ने भी इस पद का प्रयोग किया था। साहित्य में उसका प्रचलन, संभवतः, म० लेविन के १९४७ में प्रकाशित उस लेख के साथ शुरू हुआ, जिसका विषय साइबेरिया के आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के ऐतिहासिक विकासक्रम का पुनर्कल्पन था। इस लेख में लेविन ने आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के क्षेत्रीय वर्गीकरण का प्रथम प्रयोग किया था, यानी साइबेरिया के आर्थिक-सांस्कृतिक क्षेत्रानुसार विभाजन का एक ख़ाका प्रस्तुत किया था। बाद में म० लेविन तथा न० चेबोक्सारोव ने अपने १९५५ के लेख में उत्तरी अमरीका के उत्तरी इलाक़ों और यूरोप के मध्य तथा पूर्वी इलाक़ों से भी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की कई ठोस मिसालें पेश कीं। स्थानीय आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के निर्धारण की दिशा में अगला क़दम चीनी नृजातिवर्णन-विशेषज्ञ लिन याओ हुआ और न० चेबोक्सारोव का संयुक्त लेख (१९६०) था, जिसके निष्कर्ष बाद में न० चेबोक्सारोव द्वारा दो बार प्रकाशित किये गये – १९६५ में अंग्रेज़ी में और १९६६ में जर्मन में। इसमें चीन के आर्थिक-सांस्कृतिक क्षेत्रानुसार विभाजन का विशद ख़ाका दिया हुआ है। किंतु इस लेख का दत्त समस्या के अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र प्रणालीतंत्रीय महत्व भी है, क्योंकि उसमें पहली बार आर्थिक कार्यकलाप के स्वरूप से प्रत्यक्ष संबंध रखनेवाले आत्मिक संस्कृति के तत्त्वों, यानी कतिपय अनुष्ठानों, प्रथाओं, विश्वासों और लोकवार्ता पर ध्यान दिया गया था और कहा गया था कि आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के निर्धारण में इन्हें भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। लिन याओ हुआ और न० चेबोक्सारोव ने आर्थिक सक्रियता के उत्पत्ति-काल और जटिलता के स्तर के अनुसार आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों का एक त्रिचरणीय विभाजन प्रस्तावित किया। इसमें पहला चरण विनियोजी अर्थव्य-

वस्था का है, दूसरे में उत्पादक अर्थव्यवस्था के भ्रूण प्रकट हो जाते हैं और तीसरा उत्पादक अर्थव्यवस्था के विकसित रूपों का चरण है। मानव इतिहास में आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की गतिकी का अध्ययन करने के लिए इस काल-विभाजन को ही आगे विकसित किया जाता है। अंत में, आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की एक विश्व सूची बनायी गयी है और आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के प्रसार का १५वीं शताब्दी के अंत, अर्थात महान भौगोलिक खोजों तथा सघन यूरोपीय उपनिवेशीकरण के काल का ल० फ़देयेव तथा या० चेस्नोव द्वारा निर्मित (चेबोक्सारोव, चेबोक्सारोवा, १९७१) और १९वीं–२०वीं शताब्दियों के संधिकाल का ब० आंद्रियानोव द्वारा निर्मित (आंद्रियानोव, चेबोक्सारोव, १९७२) मानचित्र प्रकाशित किये गये हैं।

आधी शताब्दी के दौरान सोवियत नृजातिवर्णन-विशेषज्ञों द्वारा विकसित विचारों की इस समष्टि का सांस्कृतिक परिघटनाओं की स्थानिकता की समस्या से, जिसे विश्व नृजातिवर्णनात्मक साहित्य में पिछली और वर्तमान शताब्दियों के संधिकाल में सैद्धांतिक धरातल पर उठाया गया था, क्या संबंध है? "सांस्कृतिक वृत्तों" के पृथक्करण ने आरंभ में यूरोप के वैज्ञानिक हल्क़ों में बड़ा उत्साह पैदा किया, किंतु बाद में उसने अपनी सीमितता प्रकट कर दी, जो इन वृत्तों से संबंधित दृष्टिकोण की संकीर्णता में व्यक्त हुई, क्योंकि उसके अनुसार ये वृत्त सांस्कृतिक तत्त्वों के काल की दृष्टि से अल्प परिवर्तनशील, अविकासशील संयोजन थे। जहां तक सांस्कृतिक क्षेत्रों की प्राक्कल्पना का संबंध है, जिसे मुख्यतः अमरीकी नृजातिवर्णन-विशेषज्ञों ने प्रतिपादित किया था, तो वह, बेशक, सांस्कृतिक तत्वों की स्वतंत्रता पर आधारित थी। संस्कृति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्वों को पृथक करने का विचार इस प्राक्कल्पना के लिए विजातीय था, किंतु सांस्कृतिक तत्त्वों के प्ररूप में समांगी रूपभेदों का स्थानीय समूहन फिर भी कुछ रूपभेदों की समानता तथा संकेंद्रण के क्षेत्रों को पृथक करने और उनके आधार पर समग्रतः संस्कृति के स्थानीय रूपभेदों का मूल्यांकन करने की संभावना देता था। इस प्रकार के कतिपय शोधों में विभिन्न जातियों की संस्कृति की ऐसी बहुत-सी विशिष्टताओं को सीधे-सीधे इंगित किया गया,

जो मिलते-जुलते भौगोलिक परिवेश के अनुकूल बनने की प्रक्रिया की उपज थीं। ब० आंद्रियानोव और न० चेबोक्सारोव के लेखों में नृजातिवर्णनविज्ञान की इस प्रवृत्ति के समर्थकों की कई बातों में उचित और कई बातों में कुछ हद तक अनुचित आलोचना की गयी है, किंतु वह भी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की प्राक्कल्पना और सांस्कृतिक क्षेत्रों की प्राक्कल्पना के स्पष्ट सातत्य को अमान्य नहीं ठहराती है। इसके बावजूद इस बात से सांस्कृतिक तत्त्वों के भौगोलिकतः निर्धारित समुच्चयों के विचार की, जो पूर्णतः आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की प्राक्कल्पना से जुड़ा हुआ है, नूतनता में संदेह नहीं किया जाना चाहिए।

ऊपर जो कहा गया है, उसके बाद पुनः आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की संकल्पना पर आते हुए इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि आज इस संकल्पना से काम लेने के लिए पहले उसमें से उन प्राथमिक इकाइयों को अलग करना ज़रूरी है, जो उसका निर्माण करती हैं। किंतु इसके लिए पहले यह सिद्ध करना होगा कि वे, यानी प्राथमिक इकाइयां, वास्तव में विद्यमान हैं। और यह आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की स्वयं संकल्पना के गहन, प्रणालीबद्ध विश्लेषण को आवश्यक बना देता है। यह ज़रूरी है कि हम उससे संबंधित सभी विचारों को आलोचनात्मक ढंग से समझें, उनकी सीमाओं तथा राशि का स्पष्ट निर्धारण करें और सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर दें कि एक समष्टि के तौर पर आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप क्या चीज है। क्या वह खुली या बंद क़िस्म की कोई प्रणाली है, क्या उसमें कोई संरचनात्मक तत्त्व विशेष स्थान रखते हैं और क्या ये तत्त्व सोपानिक ढंग से गठित हैं अथवा उसके भीतर कोई तत्त्व विशेष स्थान नहीं रखते और वह एक निश्चित संरचना से रहित समष्टि है? खेद है कि सैद्धांतिक नृजातिविज्ञान में ये प्रश्न नहीं उठाये गये हैं या काफ़ी हद तक वे अनुत्तरित ही छूटे हुए हैं। जैसा कि मालूम है, किसी भी प्रणाली की मूलभूत विशेषता उसकी संरचना तथा प्रकार्यात्मक गठन की उसके किसी भी संघटक तत्त्व पर निर्भरता, अथवा, इसके विपरीत, प्रणाली का संघटक तत्त्व पर प्रभाव होता है। इस दृष्टि से आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप का मूल्यांकन उसके एक प्रणाली माने जाने में संशय उत्पन्न कर देता है। आर्थिक-

सांस्कृतिक प्ररूप के दायरे में कई जातियों अथवा नृजातीय सीमाओं का होना, जिसकी मिसालें ऊपर दी जा चुकी हैं, इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप का विभेदीकरण किसी न किसी प्रकार से नृजातीय स्तर पर किया जाता है। इसके साथ ही वह यह सोचने की संभावना भी देता है कि इस विभेदीकरण का एक प्रणाली जैसा रूप हो सकता है। किंतु ऐसा सोचना उसी स्थिति में उचित होगा, जब अलग-अलग जातियां अपने आर्थिक क्रियाकलाप में एक दूसरी पर निर्भर हों। किंतु वे प्रायः अपेक्षाकृत स्वायत्त होती हैं – विशेषतः मानव इतिहास के आरंभिक चरणों में, जब अंतर्क़बीलाई और अंतर्जातीय विनिमय बड़ा स्थान तो रखता था, पर मुख्य स्थान किसी भी प्रकार नहीं रखता था और न उस पर किसी जाति का जीवित रह पाना या न रह पाना ही निर्भर था। जो विपरीत मिसालें हैं, जैसे स्तेपियों तथा अर्ध-रेगिस्तानों के ख़ानाबदोशों और नख़लिस्तानों की एकस्थानजीवी खेतिहर आबादी के पारस्परिक आर्थिक-सांस्कृतिक संबंध, वे वास्तव में विभिन्न आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के वाहकों की आर्थिक-सांस्कृतिक निर्भरता की मिसालें हैं।

एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप में सम्मिलित अलग-अलग जातियों अथवा नृजाति समूहों की आपेक्षिक आर्थिक स्वायत्तता को देखते हुए यह स्वाभाविक और स्पष्ट ही है कि एक समष्टि के तौर पर इस प्ररूप की गति के लिए यह बात कम ही महत्व रखती है कि उसके भीतर कितनी जातियां और सामान्यतः स्वतंत्र नृजातीय इकाइयां हैं। केंद्रीय एशिया के ख़ानाबदोश समाजों का विशिष्ट रूप इससे तय नहीं होता कि हाल ही तक उनमें केवल मंगोल थे, या केवल बुर्यात, या दोनों। दूसरे शब्दों में, दत्त आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के संवाहकों का नृजातीय सीमाओं के अनुसार विभेदीकरण इस प्ररूप के भीतर किसी विशिष्ट संरचना का निर्माण नहीं करता और इसलिए आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप को एक प्रणाली, सोपानिक ढंग से आपस में जुड़े हुए नृजातीय तत्त्वों का एक नियमसंगत संयोजन नहीं माना जा सकता। आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के भीतर नृजातीय विभेदीकरण के अलावा और कोई विभेदीकरण नहीं दिखायी देता – कम से कम वह सतह पर नहीं होता है। यदि आर्थिक-सांस्कृतिक

प्ररूप एक प्रणाली नहीं है, तो क्या वह संरचनाहीन, आकारहीन समष्टि है? यहां आगे हम दिखायेंगे कि बात ऐसी नहीं है और आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के भीतर एक तरह की बुनियादी स्वायत्त इकाइयां अथवा कोशिकाएं लक्षित की जा सकती हैं, किंतु ये कोशिकाएं किसी जटिल सोपानक्रम का निर्माण नहीं करतीं और इस या उस प्ररूप में सादृश्य के कारण ही जुड़ी हुई होती हैं। अन्य शब्दों में, आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप इन बुनियादी इकाइयों की व्यवस्थित समष्टि अथवा प्रणाली नहीं, अपितु मात्र एक जमाव होता है, जिसमें हर इकाई अपने को दूसरों से काफ़ी हद तक स्वायत्त बनाये रखती है। ये इकाइयां कम भी हो सकती हैं और अधिक भी। इसका आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के केवल आकार पर प्रभाव पड़ता है, आंतरिक गुणात्मक विशेषताओं पर नहीं। हमारे सहयोगी ए० यूदिन (१९७५) ने आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की आंतरिक संरचना की आगे और विभेदित न होनेवाले त्रिविकल्पीय प्रतिस्थापन (प्रणाली, जमाव अथवा संरचनाहीन, आकारहीन समष्टि) के दायरे में जांच किये जाने की संभावना के बारे में आलोचनात्मक रवैया अपनाया था। प्रणालीवैज्ञानिक दृष्टि से वह निश्चय ही सही हैं, क्योंकि प्रणाली और जमाव की संकल्पनाएं प्रायः परस्परव्यापी होती हैं। किंतु इस मामले में यथातथ्य पारिभाषिक शब्दावली के अभाव की प्रतिपूर्ति तर्कों की प्रांजलता तथा निष्कर्ष की स्वतः-स्पष्टता से हो जाती है। बेशक, कहा जा सकता था कि आर्थिक प्ररूप एक ऐसी प्रणाली है, जो बहुत सारे समांगी तत्त्वों से बनी होती है, और यह पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से त्रुटिहीन होता, किंतु यह कुछ पेचीदा है और इसलिए इसकी शायद ही आवश्यकता है। जमाव, आपस में असंबद्ध तत्त्वों का साधारण जमाव– सारतः यह मसले के मर्म को बड़ी अच्छी तरह परिभाषित कर देता है।

अंत में हमारे सामने फिर – ऊपर कही गयी बातों के बाद काफ़ी कुछ अप्रत्याशित ढंग से – सवाल पैदा होता है: कोई आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप किस हद तक यथार्थ है और सांस्कृतिक-भौगोलिक अनुकूलन पर आधारित तथा जिन देखने में समान सांस्कृतिक विशेषताओं को आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की प्राक्कल्पना में एक अविभाज्य

समष्टि के रूप में कल्पित किया गया है, उनके निर्माण की ओर ले जानेवाला सांस्कृतिक अभिसरण कितना यथार्थ है? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना आसान नहीं है, क्योंकि आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों का अब तक जो वर्गीकरण तथा लक्षण-वर्णन किया गया है, वह अत्यंत सामान्य और, जैसा कि आजकल प्रणाली सिद्धांत, साइबरनेटिक्स तथा कतिपय अन्य संबद्ध विज्ञानों में कहा जाता है, अल्प कार्यसाधक है, यानी अस्पष्ट तथा ढुलमुल है। नृजातिवर्णन-विशेषज्ञों द्वारा किसी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के लक्षण-वर्णन में सामान्यतः जिन प्राचलों को शामिल किया जाता है, उनका परिमाणात्मक परिकलन कठिन होता है और जहां तक हमें मालूम है, ऐसा परिमाणात्मक परिकलन एक बार भी नहीं किया गया है।

सिद्धांत में किसी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के आधारभूत लक्षणों का परिमाणात्मक योग निकालने के तरीक़े की दिमाग़ी तौर पर यों कल्पना की जा सकती है: लोगों की कुल संख्या, जो दत्त प्ररूप की सीमाओं के भीतर कहीं भी काम कर रहे हैं, उनके श्रम की उत्पादिता, इस प्ररूप से संबद्ध कुल आबादी, संभवतः, कोई और भी चीज़ और परिणामस्वरूप सारे प्ररूप के लिए किन्हीं सामान्य ऊर्जा सूचकांकों की प्राप्ति और उनकी अन्य प्ररूपों के ऐसे ही सूचकांकों से तुलना करने का अवसर। किंतु तुरंत बता दिया जाना चाहिए कि ऐसी तुलना बहुत-से प्रश्नों को जन्म देती है, जिनका अभी कोई उत्तर नज़र नहीं आता। पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रति इकाई, अर्थात आर्थिक समुदाय के हर काम करनेवाले सदस्य के अनुसार पुनर्परिकलन किये जाने पर हम विनियोजी तथा उत्पादक चरणों के आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की तुलना करते हुए श्रम की उत्पादिता और समस्त अर्थतंत्र की दक्षता में वृद्धि पायेंगे। किंतु ऐसा निष्कर्ष सरासर महत्वहीन और बेकार है। समस्त मानवजाति के दायरे में किसी भी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के कुल ऊर्जा संतुलन का निर्धारण स्पष्टतः सारी पृथ्वी पर किसी निश्चित अर्थव्यवस्था में संलग्न लोगों की कुल संख्या से, अर्थात विचाराधीन परिघटना से बाहर स्थित ऐतिहासिक और जनांकिकीय कारकों से होता है।

इस प्रकार, उपरोक्त सामग्री के संकलन से संबंधित श्रमसाध्य

कार्य पहले से ही अल्प फलदायी लगता है। शायद, आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों का वास्तव में अस्तित्व है, यद्यपि मानवजाति का आर्थिक-सांस्कृतिक क्रियाकलाप जितना ही बढ़ता है, उतना ही वह भौगोलिक परिवेश से कटता जाता है: शिकारियों, मछलियां पकड़नेवालों और खाद्य-संग्राहकों के आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप पशुचारकों और विशेषत: कृषकों की अपेक्षा, शायद, कहीं ज़्यादा सुनिश्चित होते हैं। इसलिए हमें उन सभी को मानवजाति की आर्थिक-सांस्कृतिक सक्रियता की प्रवृत्तियों के रूप में देखना चाहिए, जिनके भौगोलिक निर्धारण के लिए हर पृथक मामले में विशेष और पर्याप्त कड़े प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इन प्रवृत्तियों को प्रारूपिक वर्गीकरण का एक उपकरण समझना उपयोगी है, किंतु उनके महत्व का यह जो मूल्यांकन किया जाता है कि वे मानवजाति के आर्थिक-सांस्कृतिक विभेदीकरण का एक सबसे बुनियादी प्राचल हैं, वह अतिरंजना ही प्रतीत होता है।

ऊपर कही गयी बातों के संदर्भ में हम समझते हैं कि आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की उत्पत्ति के प्रश्न की चर्चा करना असमीचीन न होगा। ब० आंद्रियानोव (१९८१), जिन्होंने आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की प्राक्कल्पना के विकास के लिए और साथ ही उसे भौगोलिक मानचित्र पर अंतरित करने के लिए बड़ा कार्य किया है, लिखते हैं: "आदिम मनुष्य ने विश्व के जितने भी भाग को आबाद किया था, उस पर सर्वत्र नवपाषाण क्रांति के काल तक (यह क्रांति १२-१० हज़ार वर्ष पहले आरंभ हुई थी) धीरे-धीरे एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप या, ठीक-ठीक कहें, तो आपस में मिलते-जुलते निम्न प्ररूपों का समूह विकास कर रहा था: १) आर्कटिक शिकारी; २) टुंड्रा और ताइगा के शिकारी; ३) पहाड़ी शिकारी; ४) स्तेपियाई शिकारी; ५) मैदानों, सवाना तथा जंगलों के शिकारी; ६) मैदानी तथा पठारी इलाक़ों के शिकारी; ७) रेगिस्तानी शिकारी तथा खाद्य-संग्राहक; और ८) उष्ण- तथा उपोष्णकटिबंधीय वनों एवं आर्द्र सवाना प्रदेशों के शिकारी तथा खाद्य-संग्राहक।" सच तो यह है कि इस उद्धरण में अर्थ-व्यवस्था के काफ़ी भिन्न-भिन्न प्ररूप गिनाये गये हैं, जिनके बीच एकमात्र सामान्य सूत्र यह है कि वे सभी शिकार के विभिन्न रूप

हैं। अन्यथा आर्कटिक क्षेत्र में समुद्री जीव का शिकार तकनीक की दृष्टि से, उदाहरणार्थ, अफ़्रीका के केंद्रीय भागों में बड़े जानवरों के शिकार से बहुत ही कम समानता रखता है। इसलिए, हमारे मत में, इस उद्धरण का दूसरा भाग पहले भाग का खंडन करता है। किंतु यदि इस पहले भाग से, जो विचाराधीन विषय से सबसे अधिक संबंध रखता है, अर्थात सारे पुरापाषाण काल के दौरान एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप होने के दावे से निदेशित हुआ जाये, हम पायेंगे कि आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की संकल्पना आरंभिक चरणों में मनुष्य की आर्थिक सक्रियता की संकल्पना से घुलमिल जाती है। तो ऐसी स्थिति में उसका अन्वेषणात्मक मूल्य क्या है? हमें लगता है कि आर्थिक-सांस्कृतिक प्रारूपिकी का उत्पत्ति-मूलक दृष्टिकोण भी उन प्रश्नों का समाधान नहीं प्रस्तुत कर सकता, जो एक वर्गीकरण के ख़ाके की भांति उसकी चर्चा होने पर उठते हैं।

आदिम अर्थव्यवस्था की एक बुनियादी कोशिका के रूप में मानवभूपरिस्थितितंत्र और उसकी संरचना

गत तीन-चार दशकों के अनुसंधानों के परिणाम मानवजाति की आबादी संरचना की जटिलता को अधिकाधिक उजागर कर रहे हैं। आबादी से आशय लोगों के ऐसे समूहों से है, जो अन्य वैसे ही समूहों से विवाह वर्जनाओं के कारण पृथक हैं। दूसरे शब्दों में, ऐसे समूहों के भीतर विवाह विभिन्न समूहों के व्यक्तियों के बीच विवाह की अपेक्षा कहीं अधिक होते हैं। यदि ऐसी स्थिति बहुत पीढ़ियों तक बनी रहती है, तो समूह में एक निश्चित आनुवंशिक एकरूपता पैदा हो जाती है, वह अधिक समजातीय बन जाता है। आबादियां ऐसे लोगों के यथार्थतः विद्यमान समूह हैं, जो आपस में रक्त संबंधों से जुड़े होते हैं। आबादियों में आकार, उनके सदस्यों के पारस्परिक गोत्रीय संबंधों की घनिष्ठता और अन्य आबादियों के साथ संबंधों के स्वरूप की दृष्टि से भी भेद पाये जाते हैं। मानवजाति का आबादी इतिहास नृजातीय इतिहास

से, स्पष्टतः, कम जटिल नहीं है और कई बातों में हम उसके अध्ययन की प्रारंभिक अवस्था में ही हैं।

स्वाभाविकतः, तुरंत ही प्रश्न पैदा होता है: आबादी का जाति से क्या संबंध है, क्या आबादियां उन समुदायों में शामिल हैं, जिन्हें हम जाति कहते हैं, क्या जातियों की भी आबादी संरचना होती है और क्या आबादियों की सीमाएं तथा नृजातीय सीमाएं आपस में मिलती हैं? प्रश्न की जटिलता के कारण उसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। एक ओर तो अलग-अलग आबादियां एक जाति अथवा नृजाति के भीतर उसके संघटक अंगों का स्थान रखती हैं। दूसरी ओर, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि दीर्घकाल से अस्तित्व और दीर्घकाल से अंतर्विवाह की प्रथा के पालन जैसी कुछ निश्चित परिस्थितियों में स्वयं जाति भी एक विशाल आबादी में परिवर्तित हो सकती है (ब्रोम्लेय, १९६९), अर्थात जैविकतः समांगी बन सकती है। सैद्धांतिकतः यह संभव तो है, किंतु व्यवहार में ऐसा कभी होता नहीं और न हो ही सकता है। एक ही जीन की दृष्टि से भी किसी आबादी के समांगी बनने में कितना समय लगता है, यदि हम एतद्विषयक आई० हॉल्डेन के परिकलनों को याद करें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि इसके लिए आवश्यक समय और जातियों के अस्तित्व के समय के बीच कोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि समांगिता दसियों हजार पीढ़ियों के बाद ही आ पाती है।

बेशक, अलग-अलग आबादियों के वास्तविक प्राचलों और सारी मानवजाति की आबादी संरचना का लगभग पूर्ण अनुमान लगाने के लिए हम समकालीन आबादी संबंधी तथ्यों को ही कतिपय शर्तों के साथ प्राचीन आबादियों पर लागू करते हुए इस्तेमाल कर सकते हैं। मानवजाति की आबादी संरचना के ऐतिहासिक विकास के बारे में कोई प्रत्यक्ष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि यह संरचना न तो प्राचीन समाजों की भौतिक संस्कृति के अवशेषों में प्रतिबिंबित होती है और न उनसे संबंधित अन्य सूचनाओं में ही। स्पष्ट है कि आज की या आज से कुछ ही पहले की आबादी संरचना से पुरापाषाणकालीन आबादी संरचना पर आते हुए बहिर्वेशन का पहलू विशेषतः महत्वपूर्ण है। आबादियों का प्रायः सुसंहत वितरण होता

है और वे अलग-अलग बस्तियों अथवा बस्ती-समूहों का रूप धारण करती हैं। यदि अंतर्विवाह की प्रथा विद्यमान है, यानी विवाह अधिकांशतः अथवा केवल समूह के भीतर ही किये जाते हैं, तो यह ख़ुद ही दिखायी दे जाता है, जैसे, उदाहरण के लिए, पामीर और दाग़िस्तान में हर बस्ती अंतर्विवाही थी, यानी आबादी संरचना की एक स्वतंत्र, स्वायत्त इकाई थी और विवाह इसके भीतर ही किये जा सकते थे। अंतर्विवाह की अत्यंत कठोर प्रथा से इक्के-दुक्के विचलनों से सार बदल नहीं जाता और इन विचलनों के बाद भी बस्ती अथवा बस्ती-समूह पृथक आबादी ही बने रहते हैं। किंतु जहां कोई निश्चित आबादी संरचना इतनी स्पष्टता के साथ सुरक्षित नहीं रहती है और जहां उसके अंतर्विवाह के रूप में विकसित होने के लिए ठोस पूर्वापेक्षाएं नहीं हैं तथा दुर्लंघ्य भौगोलिक बाधाएं भी नहीं हैं, वहां भी बस्ती के निवासी अथवा समीपवर्ती बस्तियों के समूह के निवासी अधिकतर संभावित रूप से एक आबादी की शक्ल अख़्तियार कर लेते हैं। पूर्व यूरोपीय मैदान के इलाक़े में आज भी ८० प्रतिशत से अधिक विवाह बस्ती के भीतर या पड़ोसी बस्तियों के निवासियों के बीच होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अतीत में यह प्रतिशत और भी ज़्यादा रहा होगा।

किंतु एक ही बस्ती अथवा समीप-समीप स्थित बस्तियों के समूह के निवासी पूरी तरह बन चुकी अथवा संभावित आबादी ही नहीं, अपितु एक ऐसा आर्थिक समुदाय भी होते हैं, जिसके सदस्य आपस में साझी श्रम क्रियाओं, काम के मौसमी स्वरूप, आदि से जुड़े होते हैं। अपने श्रमसक्षम सदस्यों की संख्या और अर्थव्यवस्था के स्वरूप के अनुसार इस आर्थिक समुदाय का एक निश्चित भूक्षेत्र होता है, जिस पर वह निरंतर रूपांतरणकारी प्रभाव डालता रहता है। एक ओर, कृषि के लिए वनों की सफ़ाई, सिंचाई के कारण वनस्पति, मृदा तथा जल व्यवस्था का बदलना, पशुचारण के कारण चरागाहों को नुक़सान पहुंचना और दलदलों का सुखाया जाना तथा परती ज़मीनों को कृषियोग्य बनाया जाना, और, दूसरी ओर, कृषि के सघन तरीक़ों के कारण प्राकृतिक जीवभूपरिस्थितितंत्रों का विनाश तथा मृदा-क्षरण उन सांस्कृतिक परिदृश्यों का निर्माण

करनेवाले कारकों की अधूरी ही सूची हैं, जिनका अध्ययन आज प्राकृतिक भूगोल का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। यदि आर्थिक समुदाय की अपने आप में नहीं, अपितु उसके द्वारा आबाद किये गये भूक्षेत्र और उसके द्वारा इस भूक्षेत्र पर डाले जा रहे प्रभावों की समष्टि के साथ जांच की जाये, तो जीवभूपरिस्थितितंत्र में उसका सादृश्य देखा जा सकता है। दोनों ही मामलों में प्रश्न आगे अपघटित न होनेवाली ऐसी संरचनात्मक इकाइयों का होता है, जिनकी जीवन-सक्रियता के आधार में सजीव समुदाय, सूक्ष्म परिवेश तथा उनके परस्पर संबंध निहित रहते हैं।

आर्थिक समुदाय का पशु समुदायों से बुनियादी अंतर यह है कि वह, यानी आर्थिक समुदाय, जीवन के परिवेश को सक्रिय रूप से प्रभावित तथा रूपांतरित करता है। मानव इतिहास के विभिन्न चरणों में आर्थिक समुदाय और उसके द्वारा आबाद किये गये भूक्षेत्र की ऐसी सहजीविता को और इसी प्रकार स्वयं समुदाय तथा उसके साथ प्रयुक्त भूक्षेत्र को मानवभूपरिस्थितितंत्र कहा जा सकता है (अलेक्सेयेव, १९७५)। जीवभूपरिस्थितितंत्र से तुल्यरूपता के कारण इस शब्द पर, शायद, आपत्ति नहीं की जा सकती। इसके साथ ही हमें लगता है कि वह उसमें सम्मिलित की जानेवाली परिघटनाओं के सारे समुच्चय को पूरी तरह प्रतिबिंबित भी करता है। बहुत संभव है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र वे आधारभूत घटक हैं, जिनसे मानवजाति के आर्थिक क्रियाकलाप का निर्माण होता है। वास्तव में, आर्थिक समुदाय अपनी उत्पादन सक्रियता में अन्य समुदायों से पृथक्कृत होता है, उसकी सदस्य-संख्या और उसकी श्रम उत्पादिता पर्यावरण को एक विशेष मात्रा में प्रभावित करती हैं और यह प्रभाव इस्तेमाल किये जा रहे भूक्षेत्र के भौगोलिक दायरे द्वारा परिसीमित होता है। इस तरह, हमारे सामने परस्पर-संबद्ध परिघटनाओं का एक ऐसा संरचनात्मक समुच्चय होता है, जो अन्य वैसे ही समुच्चयों से स्वतंत्र है और साथ ही आर्थिक तथा प्राकृतिक कारकों के सहसंबंधों के स्वरूप की दृष्टि से उनसे साम्य भी रखता है। लगता है कि आर्थिक सक्रियता तथा सूक्ष्म परिवेश के सहसंबंधों के स्वरूप की दृष्टि से मानवभूपरिस्थितितंत्र उसमें समाहित हो जाते हैं, जिसे आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के तौर पर

लिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हम समुद्री जीवों के शिकारियों के आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की बात कर रहे हैं, तो ऐसे शिकारियों के स्वतंत्र डेरों के निवासियों को पृथक मानवभू-परिस्थितितंत्रों की मिसालें माना जा सकता है। केंद्रीय एशिया के रेगिस्तानों तथा अर्ध-रेगिस्तानों के पशुचारक ख़ानाबदोश प्ररूप के प्रतिनिधि मंगोलिया के मध्ययुगीन निवासियों में अलग-अलग क़बीलाई समूह तथा उनके द्वारा प्रयुक्त ज़मीनें मानवभूपरिस्थितितंत्रों का निर्माण करते थे।

हो सकता है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र ही संघटक तत्त्वों के उस पेचीदे सोपान का निर्माण करते हों, जिसकी विद्यमानता फिर भी आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप को एक प्रणाली मानने की संभावना दे देगी? ऊपर हमने जो कहा है, उससे तो इसकी कम ही संभावना नज़र आती है। सोपान के विभिन्न स्तरों के मानवभूपरिस्थितितंत्रों की मौजूदगी का प्रमाण, एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के दायरे में आकार के अनुसार एक दूसरे से अत्यंत भिन्न समूहों में मानव-भूपरिस्थितितंत्रों के वर्गीकरण तथा कई छोटे मानवभूपरिस्थितितंत्रों के बड़े मानवभूपरिस्थितितंत्रों में सम्मिलन का प्रमाण देनेवाले कोई ठोस तथ्य नहीं हैं। छोटे आर्थिक समुदायों के किसी एक बड़े समुदाय में शामिल होने की ज्ञात घटनाएं ठेठ मिसालें नहीं हैं, क्योंकि अधिकांशत: उनका स्वरूप मौसमी होता है और वे आर्थिक सक्रियता की दिशा के अल्पकालिक परिवर्तनों से ही जुड़ी हुई होती हैं। अलास्का में प्वाइंट होप पर मिला एस्कीमो लोगों का ईस्वी संवत् की आरंभिक सदियों का विशाल इपीऊतक नामक डेरा इसका एक अच्छा सबूत है। उसमें कई सौ घर थे और आबादी ३००० से अधिक थी, संस्कृति का स्वरूप और घरों को थोड़े ही समय के लिए आबाद किये जाने से संबंधित पुरातात्विक प्रेक्षण दिखाते हैं कि ये कैरिबू हिरणों का शिकार करनेवाले एस्कीमो थे, जो अलास्का के भीतरी भागों में छोटे-छोटे समूहों में रहते थे और साल में एक निश्चित समय पर ही तटवर्ती क्षेत्र में आते थे तथा संयुक्त रूप से ह्वेलों का शिकार करते थे (ह्वेलों का बड़े पैमाने पर शिकार ही आर्कटिक प्रदेश की कठिन परिस्थितियों में इतनी बड़ी आबादी के लिए खाद्य की आपूर्ति कर सकता था)।

साहित्य में आस्ट्रेलिया के मूलवासियों के आर्थिक समुदायों के एकजुट होने के कुछ मामलों का उल्लेख मिलता है, किंतु ये भी अल्प-कालिक थे तथा किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों से बनाये गये थे। सामान्यतः पृथक आर्थिक समुदाय और उसके साथ मानवभूपरिस्थितितंत्र भी एक पर्याप्त स्थायी परिघटना हैं। मानवभूपरिस्थितितंत्र आपस में रैखिक ढंग से, भौगोलिक निकटता के सिद्धांत के आधार पर जुड़े होते हैं, न कि सोपानक्रमिक संबंधों के आधार पर।

इस अनुच्छेद के आरंभ में उठाये गये प्रश्न – मानवभूपरिस्थितितंत्रों तथा आबादियों के सहसंबंध के प्रश्न – पर वापस आते हुए और उसका विस्तृत उत्तर फिर भी बाद के लिए छोड़ते हुए हम यहां सिर्फ़ इतना कहेंगे कि यह उत्तर पूरी तरह आर्थिक समुदायों तथा आबादियों के सहसंबंध पर निर्भर है। यदि आबादी आर्थिक समुदाय है, तो वही मानवभूपरिस्थितितंत्र का संरचनात्मक घटक होती है, और यदि आर्थिक समुदाय आबादी से अधिक व्यापक अथवा संकीर्ण है, तो मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाएं आबादी की सीमाओं से मेल नहीं खा पातीं। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि अधिकांश मामलों में मानवभूपरिस्थितितंत्र आर्थिक समुदाय से बनता है। आबादी उसका, अर्थात आर्थिक समुदाय का स्थान तभी लेती है तथा मानवभूपरिस्थितितंत्र की संरचना का अंग तभी बनती है, जब वह स्वयं एक स्वतंत्र आर्थिक समुदाय होती है। ऐसा विरले ही होता है, फिर भी इसकी मिसालों के तौर पर हम दाग़िस्तान के मानवभूपरिस्थितितंत्रों का उल्लेख कर सकते हैं। यहां अंतर्विवाह की प्रथा के प्राधान्य के कारण प्रायः बस्तियां आबा-दियों का रूप धारण कर लेती थीं और साथ ही स्वतंत्र आर्थिक समुदाय भी होती थीं।

ऊपर हम मानवभूपरिस्थितितंत्र के मुख्य संरचनात्मक घटकों का ज़िक्र कर चुके हैं। ये हैं एक जनांकिकीय समष्टि के रूप में आर्थिक समुदाय, उसकी उत्पादन सक्रियता और उसके द्वारा प्रयुक्त भूक्षेत्र। किंतु इनमें से हर घटक एक सोपानिक संरचना का निर्माण करता है, जो अपनी बारी में कई गौण इकाइयों में विभाजित होती है। मानवभूपरिस्थितितंत्र के सामान्य ढांचे में और एक समष्टि के तौर पर उसके कार्य में ये इकाइयां एक निश्चित भूमिका निभाती

हैं। अतः, मानवभूपरिस्थितितंत्र के सभी घटक संरचनात्मक रूप से अपने आप में काफ़ी जटिल हैं। हर आर्थिक समुदाय का एक निश्चित संख्यात्मक आकार होता है। कृषिजीवियों के समुदायों में उनकी उत्पादिता के अपेक्षाकृत ऊंचे स्तर के कारण वह कई हज़ार तक पहुंच सकता है, जबकि पशुचारक तथा विशेषतः शिकारी समुदायों में सदस्यों की संख्या कुछ ही दर्जन होती है। मानवभू-परिस्थितितंत्र की प्रणाली में संख्यात्मक आकार के दोनों सूचकांक काफ़ी बड़ी भूमिका निभाते हैं : सारे समुदाय का संख्यात्मक आकार, यानी श्रम के उत्पादों के उपभोग में भाग लेनेवाले लोगों की संख्या भी और श्रम प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष भाग लेनेवाली स्वस्थ वयस्क आबादी की संख्या भी। बुज़ुर्ग पीढ़ी के प्रतिनिधि श्रम अनुभव के संवाहक होते हैं, किंतु, सामान्यतः, वे स्वयं श्रम की प्रक्रियाओं में कोई बड़ा भाग नहीं लेते। दत्त मामले के लिए लाक्षणिक आयु संभाविता के स्तर को देखते हुए आयु पिरामिड का इष्टतम रूप, यानी विभिन्न अवस्थाओं के लोगों का इष्टतम अनुपात आर्थिक समुदाय में अच्छी, उसकी समृद्धि में सहायक जनांकिकीय स्थिति का सूचक होता है।

विश्व में आबादियों के बहुसंख्य आकृतिक-शरीरक्रियात्मक, आनुवंशिक तथा पारिस्थितिक प्रेक्षणों ने दिखाया है कि उनमें आनुवंशिकतः निर्धारित आहार की आवश्यकताओं के मामले में विशेष भेद नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, उदाहरणार्थ, उष्णकटिबंधीय तथा आर्कटिक प्रदेशों की आबादियों की भोजन की आदतों में आहार की संरचना की दृष्टि से भी तथा उसके कैलोरीमान की दृष्टि से भी जो बहुत बड़े अंतर हैं, उन्हें लगभग पूरी तरह (स्थानीय विशिष्टता का कुछ भाग सदा परंपरा के हिस्से में आता है) विभिन्न परिवेशों के कारण आवश्यकताओं में अंतर की, कुछ खास परिस्थितियों, उदाहरणार्थ, भूख की परिस्थितियों में ऊर्जा चयापचय एक निश्चित स्तर पर बनाये रखने की आवश्यकता की उपज कहा जा सकता है, न कि आनुवंशिक कारकों की उपज। खाद्य आवश्यकताओं के मामले में असंदिग्धतः विद्यमान व्यष्टिक अंतरों का पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया है, किंतु बहुत संभव है कि वे आनुवंशिक कारकों के बजाय आदतों पर अधिक निर्भर हों। यह सब

बताता है कि वैसी ही परिस्थितियों में रहनेवाले अन्य आर्थिक समुदायों से तुलना करने पर हर आर्थिक समुदाय की आवश्यकताओं का कुल प्रभाव लगभग पूर्णतः उसके संख्यात्मक आकार तथा जनांकिकीय संरचना से निर्धारित होता है (खाद्य आवश्यकताओं में आयुगत अंतरों का होना स्वाभाविक ही है) और परिणामस्वरूप वह उन दो कारकों की उपज बन जाता है, जिनका हमने अभी-अभी ऊपर उल्लेख किया था – समुदाय का संख्यात्मक आकार तथा उसके कार्यसक्षम सदस्यों की संख्या। अन्य परिस्थितियां समान होने पर पृथक व्यक्ति की जैव प्रकृति मानवभूपरिस्थितितंत्र में आर्थिक समुदाय की भूमिका को प्रभावित नहीं करती।

सामाजिक उत्पादन में उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता की प्रस्थापना, निस्संदेह, मानवभूपरिस्थितितंत्र के लिए भी सही है। किंतु एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के मानवभूपरिस्थितितंत्र सामान्यतः उत्पादक शक्तियों के विकास के उसी अथवा मिलते-जुलते स्तर पर होते हैं। इस उत्पादन सक्रियता में दो संरचनात्मक घटक पहचाने जा सकते हैं: क) दत्त समुदाय की उत्पादन क्रियाओं, अर्थात श्रम कौशलों एवं परंपराओं का, पूर्ववर्ती पीढ़ियों के समेकित अनुभव का कुल योग और ख) श्रम उत्पादिता, अर्थात श्रम क्रियाओं के निष्पादन की तीव्रता (यह भी समुदाय के सदस्यों की व्यक्तिगत आकृतिक-शरीररचनात्मक विशेषताओं की अपेक्षा समुदाय की परंपराओं पर अधिक निर्भर होती है)। दूसरे घटक की बात श्रम सक्रियता के आरंभिक, अपेक्षतया कम विभेदीकृत रूपों के संबंध में विशेषतः सही है। मुख्यतः ये दो संरचनात्मक घटक ही अर्थव्यवस्था के विशिष्ट स्वरूप को, उसकी दिशा, विशेषतः खेतिहर मानवभूपरिस्थितितंत्रों में तथा उसके विशेषीकरण को निर्धारित करते हैं।

हमें लगता है कि इतिहास की दृष्टि से मुश्किल से समझायी जानेवाली उन स्थितियों के पीछे कि जब प्राचीन काल में कोई आर्थिक समुदाय अपने विकास में अन्य समुदायों से आगे निकल जाता था और मुख्य भूमिका अदा करने लगता था, असल कारण नयी उत्पादन क्रियाओं के आविष्कार की तीव्रता में और श्रम की उत्पादिता में अंतर था। मानवभूपरिस्थितितंत्र के एक संरचनात्मक

घटक के रूप में आर्थिक सक्रियता की भूमिका की चर्चा करते हुए यह मत प्रकट किया गया था कि आर्थिक अथवा उत्पादन सक्रियता मानव-भूपरिस्थितितंत्र के भीतर कार्यात्मक संबंधों को व्यक्त करती है, कि वह उसके भीतर एक ऐसे माध्यम का कार्य करती है, जिसके ज़रिये भौगोलिक परिवेश, अर्थात इस्तेमाल किये जा रहे भूक्षेत्र और सामाजिक इकाई, अर्थात आर्थिक समुदाय के बीच कार्यात्मक संबंध क़ायम होते हैं। औपचारिकतः यह हो सकता है कि सही हो, किंतु उत्पादन सक्रियता अत्यंत ही जटिल होती है और उसके रूप भी विविध होते हैं। इसके अलावा, उत्पादन सक्रियता के दौरान ही बेशी उत्पाद पैदा होता है। ऊपर जब हम श्रम सक्रियता की संरचना पर विचार कर रहे थे, तो कार्ल मार्क्स का अनुगमन करते हुए हमने श्रम की वस्तु, अर्थात जिस सामग्री या वस्तु पर श्रम लक्षित था, श्रम के साधन, अर्थात जिन औज़ारों की मदद से श्रम किया जाता है, और स्वयं श्रम की संकल्पनाओं की अलग-अलग तौर पर विवेचना की थी। श्रम अथवा श्रम की क्रिया श्रम सक्रियता के तीन मुख्य घटकों में से एक है, यद्यपि कुछ निश्चित परिस्थितियों में उसे भी श्रम के साधनों से श्रम की वस्तु को ऊर्जा आवेगों का प्रेषण चैनल कहा जा सकता है; यह दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। हम सोचते हैं कि मानवभूपरिस्थितितंत्र की संरचना के जिस पहलू की यहां चर्चा चल रही है, उसके भीतर उत्पादन सक्रियता का अतिशय महत्व उसे एक स्वतंत्र संरचनात्मक घटक के तौर पर पेश किया जाना उचित ठहरा देता है।

प्रयुक्त भूक्षेत्र प्राकृतिक-भौगोलिक परिस्थितियों से घनिष्ठतः संबद्ध होता है। इसलिए बेहतर होगा कि हम आर्थिक समुदाय द्वारा अधिकृत अथवा प्रयुक्त सूक्ष्म परिवेश की बात करें। ये आपस में मिलती-जुलती संकल्पनाएं हैं, पर एक दूसरी की पर्याय क़तई नहीं हैं, क्योंकि प्राकृतिक परिवेश में स्वयं भूक्षेत्र के अतिरिक्त कई अन्य महत्वपूर्ण भौगोलिक घटक भी शामिल रहते हैं, जो, बेशक, भूक्षेत्र से प्रत्यक्षतः संबद्ध हैं और उसमें प्रतिबिंबित होते हैं। ये घटक हैं मृदा का स्वरूप, ताप तथा नमी की मात्रा, प्राकृतिक वनस्पतियां तथा खाद्य के तौर पर उनकी उपयोगिता, पशु जगत, इत्यादि। कृषिकर्म तथा पशुचारण में प्राकृतिक जीवभूपरिस्थितितंत्र

गड़बड़ा जाते हैं, किंतु उनका एक भाग सुरक्षित रहता है और दत्त भूभाग के लिए उपरोक्त कारकों का संयोग इस भाग में ही प्रतिबिंबित होता है। जहां तक स्वयं भूक्षेत्र का संबंध है, तो मानव-भूपरिस्थितितंत्र में उसकी विशिष्ट भूमिका उच्चावच से और काफ़ी हद तक इस उच्चावच द्वारा निर्धारित जलीय प्रणाली की विशेष-ताओं से जुड़ी हुई होती है। सभी प्राकृतिक-भौगोलिक घटक पर्याप्त सामान्यीकृत हैं और मानवभूपरिस्थितितंत्र की संरचना के सूक्ष्म विश्लेषण में उन्हें, संभवतः, उनके अधिक विशिष्ट कारकों में विभाजित किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, मृदा में किन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों की स्थानीय अपर्याप्तता अथवा, इसके विपरीत, आधिक्य उसकी उर्वरता से कम महत्वपूर्ण नहीं है, किंतु मानवभूपरिस्थितितंत्र की संरचना के सामान्य सर्वेक्षण में प्राकृतिक-भौगोलिक परिस्थितियों के ऐसे विस्तृत विभेदीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

किसी भी प्रणाली का सामान्य कार्य उसके संरचनात्मक घटकों के अतिरिक्त कार्यात्मक संबंधों द्वारा सुनिश्चित किया जाता है और ये संबंध ही प्रणाली को गत्यात्मकता प्रदान करते हैं। अभी बताया गया था कि मानवभूपरिस्थितितंत्र में उत्पादन सक्रियता उस कार्यात्मक संबंध की सबसे सामान्य मिसाल है, जिसकी बदौलत क्रियाओं के परिणामों का आर्थिक समुदाय से परिवेश को और परिवेश से आर्थिक समुदाय को संप्रेषण संपन्न होता है। समुदाय प्रयुक्त भूक्षेत्र से क्या पाता है? सबसे पहले आहार। किसी मानव-भूपरिस्थितितंत्र के लिए आहार की जो संरचना, मौसमी विशिष्टता तथा परिमाण लाक्षणिक होते हैं, उन्हें "आहार शृंखला" की संज्ञा दी जा सकती है। स्पष्टतः, आहार शृंखला सूक्ष्म परिवेश तथा आर्थिक समुदाय का एक कार्यात्मक संबंध है। हर आहार शृंखला किसी न किसी सीमा तक समुदाय के संख्यात्मक आकार, श्रम उत्पादिता, अर्थव्यवस्था की सघनता तथा परिवेश की भौगोलिक विशेषताओं पर ही नहीं, संबंधित आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के दायरे में विद्यमान अन्य आहार शृंखलाओं की अवस्था पर भी निर्भर होती है। एक साथ लिये जाने पर वे दत्त आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की विशिष्ट आहार प्रणाली का निर्माण करती हैं।

आर्थिक समुदाय और परिवेश के बीच संबंध समुदाय द्वारा

आर्थिक तथा आवासीय निर्माणों तथा वस्त्रों के लिए सामग्रियां और श्रम के औज़ारों के निर्माण के लिए कच्चा माल पाने के ज़रिये भी स्थापित होता है। अंतोक्त मामले में अपने और अन्य आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के दूसरे मानवभूपरिस्थितितंत्रों के साथ विनिमय एवं व्यापार के संबंधों की बात भी की जा सकती है, क्योंकि किसी भी मानवभूपरिस्थितितंत्र का सूक्ष्म परिवेश आर्थिक समुदाय को उसकी आवश्यकता का कच्चा माल हमेशा उपलब्ध नहीं करवा सकता है। ऐसे विनिमय संबंध बहुत पहले के युगों में ही स्थापित हो गये थे। उदाहरण के लिए, सारे पश्चिमी यूरोप की नवपाषाण-कालीन स्थलियों पर कहरुबा पत्थर की बनी हुई कलात्मक वस्तुएं ही नहीं, उपयोगितामूलक वस्तुएं भी व्यापक पैमाने पर पायी गयी हैं, यद्यपि इस पत्थर के प्राकृतिक निक्षेप बाल्टिक प्रदेश में ही स्थित हैं। ऐसा ही अधिक उत्तरवर्ती काल के लिए तांबे और लोहे के अयस्कों के बारे में भी कहा जा सकता है। उत्पादन की प्रक्रिया में सूक्ष्म परिवेश से लिये जानेवाले मनुष्य के लिए उपयोगी कच्चे माल के सारे योग को मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर उत्पादन संबंधी आर्थिक शृंखला का नाम दिया जा सकता है।

अंत में, आर्थिक समुदाय के भीतर उसकी उत्पादन सक्रियता के विकास के लिए खोजों तथा आविष्कारों का महत्व स्वतःस्पष्ट है। इस मामले में एक समुदाय द्वारा दूसरे समुदाय को अपने श्रम अनुभव का अंतरण भी एक निश्चित भूमिका निभाता है, यद्यपि यह अंतरण विरले ही केवल वैसा रूप लेता है और अधिकांशतः व्यापार तथा अन्य सामाजिक संबंधों का सहभागी होता है। चाहे स्वतंत्र तकनीकी उपलब्धियां हों या पड़ोसियों से सीखी हुई बातें, वे सभी मिलकर एक ऐसी ज्ञान-राशि का निर्माण करती हैं, जो कुछ हद तक अद्वितीय और दत्त आर्थिक समुदाय को अन्य समुदायों से भिन्न बनानेवाली होती है। इसे हम आर्थिक समुदाय का "सूचना क्षेत्र" कह सकते हैं। इसके ज़रिये मानवभूपरिस्थितितंत्र के दो संरचनात्मक घटकों – आर्थिक समुदाय तथा उत्पादन सक्रियता – के बीच कार्यात्मक संबंध स्थापित होता है। विभिन्न आरंभिक मानव समुदायों के सूचना क्षेत्रों, उनके आकार तथा संरचना और उनके निर्माण के नियमों का अध्ययन समकालीन तुलनात्मक संस्कृतिविज्ञान

का एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथा रोचक कार्य है।

मानवभूपरिस्थितितंत्र के आंतरिक कार्यात्मक संबंधों के विवेचन के सिलसिले में जिस एक और बात की चर्चा की जानी चाहिए, वह है सूक्ष्म परिवेश का उत्पादन प्रक्रिया से प्रत्यक्ष संबंध और उनका एक दूसरे पर प्रभाव। परिवेश उत्पादन प्रक्रिया को सीधे प्रभावित नहीं करता – आर्थिक समुदाय द्वारा परिवेश के विशिष्ट रूप को ध्यान में रखा जाना समुदाय के सूचना क्षेत्र को रूपांतरित कर देता है और फिर इसके ज़रिये उत्पादन प्रक्रिया में समुचित परिवर्तन लाये जाते हैं। जहां तक स्वयं उत्पादन सक्रियता का संबंध है, तो वह क्रमानुसारी यांत्रिक तथा ऊर्जा आवेग उत्पन्न करती है, जो उसके द्वारा फिर प्रयुक्त भूक्षेत्र में सन्निविष्ट किये जाते हैं। शिकार और खाद्य-संग्रहण में, अर्थात विनियोजनमूलक अर्थव्यवस्था में अधिकांशतः प्रश्न प्राकृतिक जीवपरिस्थितितंत्रों के तत्त्व तथा ऊर्जा के मामले में दरिद्र बनने का ही होता है। किंतु उत्पादक अर्थ-व्यवस्था में, अर्थात कृषि तथा पशुचारण में प्राकृतिक जीवपरिस्थिति-तंत्रों का विनाश ही नहीं, सोद्देश्य रूपांतरण भी होता है। इन ऊर्जा आवेगों की समष्टि ही सूक्ष्म परिवेश की दत्त मानवभूपरिस्थिति-तंत्र के लिए लाक्षणिक उत्पादन सक्रियता पर कार्यात्मक निर्भरता के विशिष्ट रूप को व्यक्त करती है।

अब यह बताना शेष रह गया है कि हमने मानवभूपरिस्थितितंत्र के प्रश्न की जांच आधुनिक प्ररूप के मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के आरंभ की ओर संक्रमण के काल से ही, अर्थात उत्तर पुरापाषाण काल से ही क्यों शुरू की। मानवभूपरिस्थितितंत्र का हम जो अर्थ लगाते हैं, उस अर्थ में उसकी उत्पत्ति कहा जा सकता है कि श्रम सक्रियता के उषाकाल में ही हो गयी थी, क्योंकि उसके तीनों घटक – आर्थिक समुदाय, उत्पादन सक्रियता तथा प्रयुक्त भूक्षेत्र – भ्रूणरूप में आस्ट्रेलोपिथेकसों के जीवन-चक्र के दायरे में भी विद्यमान थे। किंतु जहां तक कि पूर्व पुरापाषाण काल का और यहां तक कि मध्य पुरापाषाण काल का भी संबंध है, तो अध्ययन का ऐसा स्तर व्याव-हारिकतः हमारी पहुंच के भीतर नहीं है, क्योंकि उन कालों की ज्ञात पुरातात्विक स्थलियां बहुत ही चुनी हुई तथा इनी-गिनी हैं और इसके अलावा उन कालों के भौगोलिक परिवेश, उसके स्थानीय

क्षेत्र-विभाजन तथा कालगत परिवर्तनों से संबंधित जानकारियां अत्यंत संक्षिप्त तथा सामान्यीकृत हैं। मानवभूपरिस्थितितंत्रों का विचार मानवजाति के सांस्कृतिक विकास के अपेक्षाकृत बाद के चरणों से संबंधित सूचनाओं के एक निश्चित सामान्यीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ था। उपलब्ध जानकारी के आधार पर मानवभूपरिस्थितितंत्रों के इतिहास को न्यूनाधिक ठोस रूपों में उत्तर पुरापाषाण काल तक ले जाया जा सकता है। यदि हम इससे भी पीछे जाने की कोशिश करेंगे, तो पायेंगे कि वह हमारे अज्ञान के अंधकार में खो जाता है।

किंतु मानवभूपरिस्थितितंत्रों की चर्चा आधुनिक प्ररूप के मनुष्य की उत्पत्ति की समस्या के विश्लेषण के बाद ही किये जाने का एक अन्य कारण भी है। उत्तर पुरापाषाण काल में आदिम लोगों द्वारा आबाद-क्षेत्र का दायरा इतना बढ़ गया था कि मानव समुदायों का पहली बार ऐसे वस्तुतः बहुविध परिवेश से साक्षात्कार हुआ, जो दीर्घकाल तक उन्हें प्रभावित करता रहा। पुरातत्व से संबंधित सैकड़ों रचनाओं में चर्चित इस समस्या की गहराई में न जाकर हम इतना ही याद दिलायेंगे कि आदिम मनुष्य का यह अत्यधिक फैला हुआ, विविध प्राकृतिक भौगोलिक क्षेत्रों से युक्त विश्व विभिन्न प्रागैतिहासिक स्थलियों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री में प्रतिबिंबित हुआ है। इन स्थलियों से न केवल स्थानीय विशेषताएं लिये हुए चक़मक़ के औज़ार और तरह-तरह के जानवरों की, जिनका शिकार किया जाता था, हड्डियां मिली हैं, बल्कि इन स्थलियों की भूआकृतिक परिस्थितियों के बीच अत्यधिक अंतर भी पाया गया है। विभिन्न स्मारकों में प्रकट हुए क्षेत्रीय अंतर किस हद तक भौगोलिक परिवेश से अनुकूलन के परिणाम, यानी ऐसी चीज़ थे कि जो आर्थिक-सांस्कृतिक प्रारूपिकी के दायरे में आती है, और किस हद तक उनमें नृजातीय परंपराएं व्यक्त हुई थीं तथा वे शब्द के संकीर्ण अर्थ में पुरातात्विक संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते थे, यह प्रश्न बहुत-से अलग-अलग मामलों में देखने में न्यूनाधिक विश्वसनीय तर्कों की मदद से हल किया जाता है, किंतु सामान्य उपागम अभी विरोधपूर्ण और प्रायः एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत मतों के विनिमय तक ही सीमित रहा है। कब हमारे सामने कोई पुरातात्विक संस्कृति है

और कब भौगोलिक परिस्थितियों से अनुकूलन का परिणाम—पुरातत्व-विद अंतहीन बहसों में उलझ जाते हैं। किंतु इतना सर्वथा स्पष्ट है कि पुरानी दुनिया में विभिन्न प्राकृतिक भौगोलिक क्षेत्रों से अनुकूलन के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर पहली बार विभिन्न आर्थिक विशिष्टीकरणोंवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों का निर्माण हुआ और, जैसा कि हम बता चुके हैं, इन विशिष्टीकरणों का कुछ हद तक पुनर्कल्पन किया जा सकता है। नृजातिवर्णनात्मक सामग्री भी शिकारियों तथा खाद्य-संग्राहकों की अल्पविकसित संस्कृति के दायरे में आर्थिक सक्रियता के विविध विशिष्टीकरणों की बहुसंख्य मिसालें पेश करती है। इससे मानवभूपरिस्थितितंत्रों की उस कालानुक्रमिक सीमा पर जांच करने की, जो उत्तर पुरापाषाण काल की संपाती है, हमारे द्वारा ऊपर प्रस्तुत और इस अध्याय में चर्चित प्रस्थापना का औचित्य सिद्ध हो जाता है।

सामाजिक संबंधों की प्रणाली में मानवभूपरिस्थितितंत्र और उसकी भौगोलिक अनुकूलनशीलता

आदिम समाज में आर्थिक समुदाय का सामान्य आकार खाद्य संसाधनों से और उत्पादन प्रक्रिया के दौरान प्रयुक्त भूक्षेत्र के इस्तेमाल की पूर्णता से नियमित होता था। आर्थिक समुदाय के श्रमसक्षम सदस्यों की संख्या, यानी उसके भीतर अनुकूल जनांकिकीय स्थिति और उसकी उत्पादन क्षमता का रिज़र्व भी अन्य परिस्थितियां समान होने पर, अंततः, आहार श्रृंखलाओं की अवस्था, सूचना क्षेत्र के आकार और श्रम उत्पादिता पर निर्भर होते थे। आहार श्रृंखलाओं की अवस्था पर कुछ हद तक दत्त आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप की सीमाओं में समस्त आहार प्रणाली की अवस्था का प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, यहां प्रश्न भौगोलिक परिवेश के संबंध में ही नहीं, अन्य आर्थिक समुदायों के तथा अधिक व्यापक अर्थ में अन्य मानवभूपरिस्थितितंत्रों के संबंध में भी सामाजिक अनुकूलनशीलता का है। कुछ हद तक यह बात उत्पादन संबंधी आर्थिक श्रृंखलाओं पर भी लागू होती है, यद्यपि कतिपय मानवभूपरिस्थिति-

तंत्रों में वे आहार शृंखलाओं की अपेक्षा अधिक स्वायत्त हैं। उत्पादन सक्रियता मानवभूपरिस्थितितंत्र के दो घटकों में से परिवेश पर, शायद, सबसे स्पष्ट रूप से प्रतिक्रिया दिखाता है। तकनीकी कौशलों और उत्पादन तथा तकनीक संबंधी क्रियाओं की समष्टि का हर हालत में अनुकूलनमूलक स्वरूप होता है; वह प्रयुक्त सामग्री के स्वरूप पर प्रतिक्रिया दिखाती है और उसके गुणों का ज्ञान बढ़ने के साथ स्वयं बदलती जाती है। इस संबंध में, उदाहरण के लिए, सिनेंथ्रोपस के विलक्षण आकृतिवाले पत्थर के औज़ार याद आते हैं, जिनमें उचित ही उनकी विशेष सामग्री – स्फटिक पत्थर – से अनुकूलन देखा गया है (औज़ार बनाने के लिए चक़मक़ के अभाव में स्फटिक को इस्तेमाल किया जाने लगा था)। हम कह सकते हैं कि उत्पादन तकनीक में अनुकूलनमूलक परिवर्तन मानवजाति के इतिहास के आरंभिकतम युगों से ही आने लग गये थे। प्राकृतिक-भौगोलिक परिस्थितियों के बदलने पर श्रम की उत्पादिता भी अप्रभावित नहीं रहती। उदाहरणार्थ, मृदा की उर्वरता कम होते जाने पर आर्थिक समुदाय क लिए कृषि के सघनीकरण का मार्ग अपनाना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इसके ज़रिये ही वह अपने को जीवित रख सकता है।

परिवेश पर मनुष्य के सोद्देश्य प्रभाव के बारे में बहुत लिखा जा चुका है। गत दशक में इस संबंध में भी कम नहीं लिखा गया है कि यह प्रभाव प्रायः विनाशकारी होता है। फिर भी इस अंतिम मामले में भी प्राकृतिक परिस्थितियां कुछ हद तक ही बदलती हैं, और यह हद सामाजिक आवश्यकताओं की अधिकतम – चाहे अल्पकालिक ही सही – तुष्टि के स्तर द्वारा निर्धारित होती है। इसका अर्थ है कि अन्य परिस्थितियां समान होने पर मानवभूपरिस्थितितंत्रों में प्राकृतिक परिवेश के "सुधार" की अनवरत प्रक्रिया चलती रही थी। बेशक, यहां "सुधार" से हमारा आशय मात्र समाज की आवश्यकताओं से और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राकृतिक प्रक्रियाओं पर उत्तरोत्तर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने से है। इस प्रकार, सामाजिक अनुकूलनशीलता के दायरे में मानवभूपरिस्थितितंत्र के सभी संरचनात्मक घटक आ जाते हैं और वह उन्हें मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर अधिकतम संतुलन की स्थापना

की दिशा में परिवर्तित करती है। कार्यात्मक संबंधों की गतिकी ऐसे संतुलन की शीघ्रतम स्थापना सुनिश्चित कर देती है। मानव-भूपरिस्थितितंत्र की सारी संरचना सामाजिक अनुकूलनशीलता की अभिव्यक्ति है और उसे सारे पूर्ववर्ती काल के दौरान सक्रिय अनुकूलनमूलक प्रक्रियाओं का परिणाम ही समझा जा सकता है।

जब पिछले दो दशकों में साहित्य में "सामाजिक अवयवी" शब्द प्रयोग किया जाने लगा, तो इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि जीववैज्ञानिक साहित्य में "अवयवी" शब्द का क्या अर्थ होता है। वहां यह जीवन की एक विविक्त इकाई है, जिससे नीचे जीवन का एक आगे अविभाज्य समष्टि के रूप में कोई अस्तित्व नहीं होता और जिससे ऊपर हमें उन्हीं अवयवियों से बनी हुई विभिन्न जैव समष्टियां मिलती हैं। अवयवी के पुनरुत्पादन की विधि सदा वंशवृद्धि है। इस दृष्टि से हमें "सामाजिक अवयवी" एक सफल प्रयोग नहीं लगता, क्योंकि वह समाजविज्ञान तथा इतिहास के क्षेत्र में एक सर्वथा निश्चित अर्थवाला जीववैज्ञानिक शब्द ले आता है और उसे ऐसी परिघटनाओं के संबंध में प्रयोग करता है, जो वंशवृद्धि की जैविक प्रक्रिया द्वारा नहीं, अपितु ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक अनुभव के शिक्षण तथा संप्रेषण की प्रक्रिया में पीढ़ी दर पीढ़ी अंतरित होती हैं। बेशक, अब "सामाजिक विरासत" शब्द का भी प्रयोग होने लगा है, किंतु उस पर भी लगभग वही आपत्तियां की जा सकती हैं, जो अभी-अभी "सामाजिक अवयवी" के संबंध में की गयी थीं।

फिर भी, शब्द चाहे कैसा भी क्यों न हो, उसका प्रयोग तथा व्यापक प्रचलन बहुत बातों में लाक्षणिक होते हैं। वे संस्कृति की परिघटनाओं तथा सामाजिक संगठन के संरचनात्मक स्वरूप को पहचानने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को, उनके निम्नतर श्रेणी के अलग-अलग तत्त्वों से बने होने की चेतना को और इन तत्त्वों के कार्यतः पूर्ण तथा सही-सही अन्योन्यप्रभाव की चेतना को व्यक्त करते थे। सामाजिक परिघटनाओं का कम अथवा अधिक जटिल संरचनाओं के रूप में जो विश्लेषण किया जाने लगा, वह इन परिघटनाओं के सार में अधिक गहरे पैठने और मानव ज्ञान के बहुत-से क्षेत्रों में अत्यंत सफल सिद्ध हुए वैज्ञानिक प्रणालीमूलक उपागम की अन्वे-

षणात्मक शक्ति पर आधारित था। ऐसा विश्लेषण सैद्धांतिक आधारिकाओं की दृष्टि से ही नहीं, अपितु ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों के संग्रहण एवं कतिपय सामाजिक परिघटनाओं के वर्णन में भी अधिकाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है।

मानव संस्कृति के, उदाहरणार्थ, भौतिक संस्कृति जैसे पर्याप्त सुस्पष्ट घटक की संरचना कैसी है? भौतिक संस्कृति के घटकों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण तथा उनके परस्पर संबंधों का विभिन्न प्रकार से मूल्यांकन किया जा सकता है, किंतु इतना स्पष्ट है कि आहार, आवास, काम-धंधे से संबंधित इमारतें और औज़ार पर्याप्त स्वतंत्र घटक हैं और उनमें से प्रत्येक को अलग से लिया जा सकता है। अलग से लेने पर उनमें से प्रत्येक के भीतर हम उनकी रचना करनेवाले तथा आपस में सोपानक्रमिक ढंग से जुड़े हुए तत्वों की एक प्रणाली पायेंगे। इसके अलावा सोपानिकी का स्वरूप बहुस्तरीय है और इस कारण हम यह भी कह सकते हैं कि यहां हमारा अलग-अलग तत्त्वों की सोपानिकी से नहीं, अपितु इन तत्त्वों की प्रणालियों की सोपानिकी से साक्षात्कार होता है।

कुछ शब्द उदाहरण के रूप में आहार के बारे में। यदि आहार को हम उसकी दृष्टि से न देखें, जो वह मनुष्य के शरीर को देता है, दैनिक भोजन की दृष्टि से न देखें, बल्कि नृजातिवर्णनात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से, दत्त समाज अथवा जाति की संस्कृति में उसके स्थान के मूल्यांकन की दृष्टि से देखें, तो उसमें हमारा ध्यान सबसे पहले उसमें सम्मिलित खाद्य वस्तुओं पर नहीं, जो बहुत सारी जातियों के मामले में, चाहे वे खेतिहर हों या पशुचारक, न्यूनाधिक समान होती हैं, बल्कि उसके बनाने की विधि पर जायेगा। मुख्य रूप से आग के उपयोग के विभिन्न तरीक़े (खुला चूल्हा, खुली अंगीठी, अन्य तरह-तरह की अंगीठियां), जो तय करते हैं कि आहार को मुख्यतः भुने हुए अथवा उबले हुए रूप में खाया जायेगा, या अगर ठंडा हो गया है, तो फिर से गरमाया जायेगा, भोजन को सुरक्षित रखने के विभिन्न तरीक़े और, अंत में, कच्ची, असंसाधित खाद्य वस्तुओं के उपयोग की सीमाएं – ये सब काफ़ी पेचीदे सांस्कृतिक कौशल हैं, जिनके विभिन्न संयोजन हर जाति के आहार समुच्चय को अनुपम, विशिष्ट बना देते हैं। खाने के

समय की आवर्तिता आर्थिक पद्धति से (तथा उसके जरिये जीवन के भौगोलिक परिवेश से) जुड़ी होती है और उसका धार्मिक अवसरों तथा तीज-त्यौहारों पर उपभोग धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं से नियमित होता है। संस्कृति की सामान्य संरचना में आहार के जो प्रकार्य हैं, उनकी दृष्टि से इस क्षेत्र पर विचार करते समय हमें मानना होगा कि आहार समुच्चय की तुलना में यह क्षेत्र गौण है, क्योंकि आहार को जातीय अद्वितीयता सबसे पहले उसके द्वारा नहीं, अपितु आहार समुच्चय द्वारा प्रदान की जाती है। दूसरी ओर, अभी-अभी उल्लिखित आहार संबंधी कौशल, जो मिलकर आहार समुच्चय का निर्माण करते हैं, खाना खाने की परंपराओं की भांति अपने आप में काफ़ी पेचीदी परिघटनाएं हैं, जिनमें बहुत-से संघटक तत्त्व – एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं, अपितु जटिल सोपानिक प्रणालियों का निर्माण करनेवाले तत्त्व – होते हैं।

यह बात आवास तथा काम-धंधे से संबंधित इमारतों के बारे में और कामकाज के औज़ारों के बारे में भी कही जा सकती है। चूल्हे की आवास के भीतर या आवास के बाहर स्थिति, स्वयं आवास की भूमि की सतह के संबंध में स्थिति (गर्त आवास अथवा भूमि के ऊपर स्थित आवास) जैसे कि मुख्य लक्षण हैं। यदि हम भूमि के ऊपर स्थित आवास की ही बात करें, तो उसके इस लक्षण (भूमि के ऊपर होना) की तुलना में उसकी कोणाकार आकृति (छत का अभाव) अथवा उसके ढांचे में कोनों की विद्यमानता (एक संरचनात्मक घटक के तौर पर छत का प्रकट होना), उसका तुड़वां, यानी एक जगह से उठाकर दूसरी जगह ले जाने योग्य होना अथवा उसका स्थायी तौर पर बना होना, – ये सब लक्षण गौण हैं। यदि चूल्हा भूमि पर स्थित तथा छतयुक्त आवास के भीतर बना है, तो वर्गीकरणविज्ञान की दृष्टि से आवास को दो प्ररूपों में बांटना शायद अधिक महत्वपूर्ण होगा – खुले चूल्हेवाला आवास और बंद चूल्हेवाला आवास। बाद में आवास के अन्य संरचनात्मक घटकों के संबंध में चूल्हे की स्थलाकृतिक स्थिति के अनुसार उपप्ररूपों का निर्धारण किया जा सकता है। काम-धंधे से संबंधित इमारतों से आवास के संबंध जैसे नये लक्षण के निरूपण के साथ भूमि पर स्थित छतयुक्त आवास के वर्गीकरणवैज्ञानिक मूल्यांकन में एक और

लक्षण को शामिल कर लिया जाता है। संक्षेप में, हम आवास के संबंध में भी सोपानक्रमिक ढंग से आपस में जुड़े हुए तत्वों की वैसी ही प्रणाली पाते हैं, जैसी हमने आहार के संबंध में देखी थी।

यदि हम कहें कि अध्येता का आत्मिक संस्कृति के क्षेत्र में भी संघटक अंगों तथा संरचनात्मक तत्वों की वैसी ही सोपानिकी से साक्षात्कार होता है, तो, संभवतः, अतिरंजना न होगी। इस क्षेत्र के एक प्रमुख विशेषज्ञ के० लेवी-स्ट्रॉस ने मिथक में और आंशिकतः जादू-टोने से संबंधित तथा आंशिकतः शुद्ध धार्मिक कर्मकांड में एक संरचनात्मक व्यवस्था देखी थी (तथा उसकी विद्यमानता का औचित्य सिद्ध किया था)। बाद में उन्होंने अपने प्रेक्षणों को भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में लागू किया। इन प्रेक्षणों की उन्होंने जो व्याख्याएं कीं, वे, जैसा कि बाद के आलोचनात्मक अनुसंधानों, विशेषतः सोवियत वैज्ञानिकों के अनुसंधानों ने दिखाया, कई बातों में विवाद्य हैं। किंतु इससे स्वयं उन प्रेक्षणों का महत्व खत्म नहीं हो जाता, बल्कि, उल्टे, इसने उनकी युक्तियुक्तता को रेखांकित ही किया और उस दिशा में खोजें जारी रखे जाने को प्रोत्साहन ही दिया।

ऊपर कही गयी बातों का सारांश यह है कि एक समष्टि के रूप में संस्कृति की संरचना सोपानिक है और उसका हर क्षेत्र, चाहे वह शब्द के व्यापक अर्थों में सामाजिक संगठन हो या आर्थिक सक्रियता, भौतिक संस्कृति हो या विचारधारा, आपस में सोपानक्रमिक संबंधों से जुड़े हुए विभिन्न तत्त्वों से बना होता है। इस दृष्टिकोण से मानवभूपरिस्थितितंत्र का अध्ययन सबसे पहले सामाजिक संपर्कों की प्रणाली में उसके स्थान की खोज और उससे मिलती-जुलती अथवा भिन्न अन्य परिघटनाओं के संबंध में उसकी स्थिति की परिभाषा किया जाना आवश्यक बनाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, मानवभूपरिस्थितितंत्र स्वयं एक काफ़ी पेचीदी संरचना है, जिसमें बहुत सारे तत्त्व शामिल रहते हैं। सबसे पहले यह एक आर्थिक समुदाय है, जो तीन रूपों में काम करता है – उत्पादन के संदर्भ में अपने उस भाग के रूप में, जिसका प्रतिनिधित्व कामगर करते हैं; पुनरुत्पादन के संदर्भ में दत्त समुदाय के कारगर पुनरुत्पादक भाग के रूप में; और खाद्य

के उपभोग के संदर्भ में एक समष्टि के रूप में। इसके बाद प्रयुक्त भूक्षेत्र की बारी आती है और उसे भी कई लक्षणों के अनुसार परिभाषित किया जाता है, जैसे कुल क्षेत्रफल (यह शिकारी तथा खाद्य-संग्राहक और पशुचारक मानवभूपरिस्थितितंत्रों के लिए विशेष रूप से महत्व रखता है), काश्त की जा रही भूमि का क्षेत्रफल (यह मुख्य रूप से खेतिहर मानवभूपरिस्थितितंत्रों के लिए महत्वपूर्ण है), भूमि की उर्वरता तथा चरागाहों की गुणता और स्थलाकृति का स्वरूप। मानवभूपरिस्थितितंत्र का तीसरा संरचनात्मक घटक उत्पादन सक्रियता है। वह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है और संरचनात्मक दृष्टि से अपने आप में बड़ी पेचीदी है।

अभी हमारे पास इसके लिए पर्याप्त विस्तृत तथ्य नहीं हैं कि हम आदिम विश्व की उत्पादन सक्रियता की वास्तविक जटिलता का पूरा-पूरा अनुमान लगा सकें। बहसें इस क्षेत्र में हमारे ज्ञान की अत्यधिक सापेक्षता का प्रदर्शन करती हैं और विभिन्न प्रकार के मानवभूपरिस्थितितंत्रों में उत्पादन सक्रियता के कई ठोस पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए आगे और भी ज़्यादा सर्वतोमुखी अनुसंधान करने होंगे। जब हम मानवभूपरिस्थितितंत्र की आंतरिक प्रकार्यात्मक विशेषताओं, उदाहरणतः, सूचना क्षेत्र की जांच करते हैं, तो उसकी संरचना को और भी अधिक पेचीदा पाते हैं। ए० यूदिन (१९७५) ने ठीक ही लिखा है कि यह घटक सबसे ज़्यादा अनियत है और अभी भी उसका वस्तुपरक मात्रात्मक अभिलक्षणन बड़ा कठिन है। ऐसे अभिलक्षणन का तनिक भी दावा न करते हुए (वास्तव में हम अभी सूचना की, जब उसकी गुणता ध्यान में रखी जाती है, मात्रात्मक अभिव्यक्ति दे पाना बहुत कम जानते हैं और समकालीन साइबरनेटिक्स के सामने एक सबसे बड़ी कठिनाई यही है) हम यहां सूचना क्षेत्र की संरचना की कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

हम नृजाति समुदायों के बारे में इस धारणा से पूरी तरह सहमत हैं कि वे "सूचना संहतियों" के वाहक होते हैं। इस धारणा के पक्ष में साहित्य में पर्याप्त दलीलें दी जा चुकी हैं। किंतु क्या मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर आर्थिक समुदाय भी ऐसी सूचना संहति का वाहक होता है? इस प्रश्न का उत्तर, संभवतः, सकारात्मक

है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि आर्थिक समुदाय और नृजाति समुदाय एक ही चीज़ हैं। चूंकि हम मान चुके हैं कि संस्कृति का – और इसमें आत्मिक संस्कृति भी शामिल है – गठन सोपानिक है, तो हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि सूचना भी – और मानव समाज के भीतर तथा उसकी सीमाओं में संचरणशील सूचना तो और भी – सोपानिकता के सिद्धांत के अनुसार गठित है और उसकी संहतियों के विभिन्न स्तर होते हैं।

मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर संचरणशील सूचना को कई स्तरों में बांटा जा सकता है। उनमें से पहला नृजातीय स्तर है, यानी उन सांस्कृतिक मूल्यों, परंपराओं और धार्मिक तथा जादू-टोना संबंधी धारणाओं का निचय है, जो नृजातीय आत्मचेतना के अंग होते हैं और जो अपने को किसी और जाति की नहीं, अपितु दत्त जाति की संरचना में ही शामिल किया जाना पूर्वनिर्धारित कर देते हैं। दूसरे स्तर में, संभवतः, वे जानकारियां और धारणाएं आती हैं, जो किसी मानवभूपरिस्थितितंत्र के अन्य समान अथवा विपरीत क़िस्म के मानवभूपरिस्थितितंत्रों के साथ संबंधों से जुड़ी होती हैं। दूसरे शब्दों में, इस स्तर में वह सब कुछ आ जाता है, जो विनिमय तथा संपर्कों के क्षेत्र से ताल्लुक़ रखता है। अंत में, तीसरे स्तर के रूप में उन ठोस जानकारियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हें समुदाय में एकत्र किया गया है और जो उसकी संकीर्ण स्थानीय विशिष्टता हैं, जैसे किन्हीं ख़ास मिट्टियोंवाले खेतों की काश्त का कृषि-तकनीकी कौशल तथा अनुभव, किन्हीं ख़ास स्थलाकृतिक परिस्थितियों में पशुचारण तथा बेहतर चरागाहों के चयन का अनुभव, शिकारगाहों का घनिष्ठ ज्ञान, इत्यादि। दूसरे शब्दों में, इस स्तर में अपने लघु प्रदेश के यथासंभव पूर्ण ज्ञान को शामिल किया जाता है।

हर सूचना क्षेत्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है (जिसके नियमों का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है)। बेशक, किसी समुदाय की आर्थिक सक्रियता का उसकी समग्रता में परिचय उसके श्रमसक्षम सदस्यों की संख्या मात्र कुछ ऐसे छोटे परिवर्तनों के साथ बताकर दिया जा सकता है, जो उनकी (यानी सदस्यों की) आर्थिक योग्यता के स्तर से संबंध रखते हैं, मगर

सूचना क्षेत्र का दायरा किसी भी प्रकार इस परिमाण से निर्धारित नहीं हो सकता और उसमें उत्पादन के परंपरागत अनुभव का निचय अन्य परिस्थितियां समान होने पर लोगों की उस संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है, जो ऐसा अनुभव रखती है। समान योग्यता होने पर ज़्यादा लोग सदा ज़्यादा काम पूरा करेंगे। दूसरी ओर, अधिक व्यापक सूचना क्षेत्र श्रम की उच्च उत्पादिता तथा प्रयुक्त भूक्षेत्र का अधिक कारगर इस्तेमाल सुनिश्चित करके समुदाय के अल्पसंख्यक होने पर भी उसकी आर्थिक समृद्धि में सहायक बनेगा। अंत में, आर्थिक सक्रियता का सघनीकरण उसके ज़रिये ही संपन्न होता है, जिसे सूचना क्षेत्र बाहर से अपने में समाहित करता है।

इस प्रकार, जैसा कि हम देखते हैं, मानवभूपरिस्थितितंत्र प्रकार्यात्मक संबंधों के मामले में समृद्ध एक काफ़ी जटिल संरचना है। किंतु फिर भी उसे समग्रतः समाज की सामाजिक संरचनाओं की एक बुनियादी प्रणाली समझना, शायद, अनुचित न होगा। इस दावे के पक्ष में क्या तर्क दिये जा सकते हैं? जैसा कि हमने ऊपर सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, हर मानवभूपरिस्थितितंत्र आदिम अर्थव्यवस्था की बुनियादी इकाई है। उसके भीतर सूचनाओं का जटिल संचरण और, जो सबसे महत्वपूर्ण है, दत्त मानवभूपरिस्थितितंत्र के लिए ही लाक्षणिक सूचनाओं का सांद्रण होता है। निम्नतम स्तर पर मानवभूपरिस्थितितंत्र संस्कृति के भौगोलिक अनुकूलनों के क्षेत्र में और आर्थिक क्षेत्र में भी, जब कुछ आर्थिक समुदाय अन्य समुदायों के साथ विनिमय तथा व्यापार के संबंध क़ायम करते हैं, एक स्वतंत्र इकाई के तौर पर काम करता है। इस प्रकार, अपने में एक जटिल परिघटना होने पर भी वह बहुत-सी अन्य अधिक व्यापक सामाजिक परिघटनाओं के संबंध में बुनियादी होता है और उनमें एक संघटक कोशिका के तौर पर शामिल होता है। यह गुण ही सामाजिक संपर्कों की प्रणाली में उसके महत्व को निर्धारित करता है और इस कारण उसके इस गुण पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

इतिहास ऐसे कम ही समाजों को जानता है, जो लंबे समय तक अपने आप में बंद रहे थे और जिनके अन्य समाजों के साथ कोई संपर्क नहीं थे। मानवभूपरिस्थितितंत्र के लिए भी अन्य मानव-

भूपरिस्थितितंत्रों के साथ संपर्क अपवाद होने के बजाय उसके जीवन का एक स्थायी पहलू ही होता है। इस संपर्क के ज़रिये वह इस या उस समाज की सामान्य प्रणाली में प्रवेश करता है। इन संपर्कों के ठोस रूप क्या हैं? जहां तक नियमित तथा प्रकार्यात्मकतः आवश्यक संपर्कों का सवाल है, तो ये सबसे पहले विनिमय और व्यापार के संपर्क हैं। उन्हें सीधे भी और, जैसा कि विकसित वर्गीय समाज के मानवभूपरिस्थितितंत्रों के मामले में देखने में आता है, मंडी के ज़रिये भी स्थापित किया जा सकता है। अंतोक्त अवस्था में मानवभूपरिस्थितितंत्र तुरंत ही एक निश्चित प्रदेश के बहुत सारे मानवभूपरिस्थितितंत्रों से आर्थिक संबंधों की जटिल प्रणाली में खिंच आता है। व्यापार संतुलन में हर मानवभूपरिस्थितितंत्र का ठोस योगदान बहुत-से आर्थिक कारकों पर निर्भर रहता है। स्पष्ट है कि सीधे विनिमय में इन कारकों की क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं होती। ऐसा विनिमय आदिम समुदायों के बीच प्रथम संपर्कों की स्थापना के साथ ही शुरू हो गया होगा। पुरापाषाण काल में कुछ निश्चित इलाक़ों में ही उपलब्ध चक़मक़ से निर्मित औज़ारों का भौगोलिक दृष्टि से अत्यंत व्यापक इलाक़ों में पाया जाना और मध्य तथा नवपाषाण कालों में कहरुबा पत्थर के प्रसार का बहुत ही व्यापक क्षेत्र इसके प्रथम पुरातात्विक साक्ष्य हैं। उस काल में किसी प्रकार के आदिम मेले-मंडियों की कल्पना करना कठिन है और इसमें संदेह नहीं कि तब विनिमय सीधे हुआ करता था। फिर बहुत पीढ़ियों के दौरान उत्तरोत्तर अधिक समुदायों को अपने दायरे में खींचते हुए उसने अंततोगत्वा श्रम के औजारों तथा आभूषणों के निर्माण में इस्तेमाल होनेवाली कुछ निश्चित सामग्रियों के काफ़ी बड़े प्रसार-क्षेत्र को जन्म दे दिया।

हमें पहले इस बात का उल्लेख करने का मौक़ा मिला था कि मानवभूपरिस्थितितंत्रों के बीच आपस में, संभवतः, सोपानिक संबंध नहीं थे और वे सब तो नहीं, किंतु उनमें से बहुत सारे एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के अंतर्गत आते थे। सामान्य रूप में यह बात, शायद, सही है, किंतु सहजीवी मानवभूपरिस्थितितंत्र, जिनकी मिसालों की कमी नहीं है, हमारे विश्लेषण से बाहर ही रह गये थे। सहजीवी मानवभूपरिस्थितितंत्र किन्हें कहते हैं? ये

वे भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न मानव-भूपरिस्थितितंत्र हैं, जो अपने पारस्परिक संबंधों की घोर आर्थिक आवश्यकता को प्रतिबिंबित करते हैं। एक मानवभूपरिस्थितितंत्र वे उत्पाद तथा वस्तुएं तैयार करता है, जिनकी दूसरे को आवश्यकता है, और दूसरा उन उत्पादों तथा वस्तुओं को पैदा करता है, जिनकी पहले को ज़रूरत है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सदा युग्म संयोजन ही नहीं होते, क्योंकि उनमें कभी-कभी बहुत सारे मानव-भूपरिस्थितितंत्र भी सम्मिलित रहते हैं। इसी तरह, कभी-कभी वे विभिन्न आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों से ताल्लुक़ रखनेवाले समाजों के परस्पर संबंधों में परिणत हो जाते हैं। ये संबंध अलग-अलग मानवभूपरिस्थितितंत्रों के सहजीवी – किंतु हमेशा ही स्थायी नहीं – संपर्कों के रूप में अपने को ठोस ढंग से व्यक्त करते हैं। उदाहरण के तौर पर बारहसिंगापालक (ख़ानाबदोश) और तटवासी (एक-स्थानजीवी) चुक्चाओं को ही लें। प्रसिद्ध रूसी अन्वेषक व० बोगोराज़ (१९०४, १९१०) ने अकाट्य रूप से दिखाया था कि इन दो समूहों के बीच कितने घनिष्ठ आर्थिक संपर्क विद्यमान हैं और कैसे एक दूसरे से अपने लिए बहुत सारी आवश्यक वस्तुएं तथा खाद्य पाते हुए वे एक दूसरे के लिए आवश्यक बन गये हैं। ऐसी घनिष्ठ सहजीविता, जिसमें, प्रसंगतः, एस्कीमो भी शामिल हैं, यानी जिसकी सीमाएं नृजातीय सीमाओं को भी लांघ जाती हैं, शायद बहुत पहले ही पैदा हो गयी थी, अन्यथा हम बारहसिंगा-पालन पर आधारित अर्थव्यवस्था और समुद्री जीवों के शिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था के विशिष्टीकरण की कल्पना नहीं कर सकते। जैसा कि पुरातात्विक सामग्रियों से पता चलता है, बेरिंग जलडमरूमध्य के एशियाई तट पर समुद्री जीवों के शिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था का अस्तित्व आज से कम से कम दो हज़ार वर्ष पहले भी था। परस्परलाभदायक विनिमय के ऐसे संबंध और नियमित व्यापारिक संपर्क कमचात्का के तटवासी कोर्याकों तथा बारहसिंगा-पालक कोर्याकों के बीच भी विद्यमान थे। साइबेरियाई तथा उत्तर अमरीकी नृजाति समूहों के वर्णनों से भी ऐसे संबंधों तथा संपर्कों के व्यापक प्रमाण मिलते हैं। इतनी ही सुस्पष्ट मिसालें उष्णकटिबंधीय प्रदेशों के नृजातिवर्णन से भी दी जा सकती हैं।

इस प्रकार, सहजीवी मानवभूपरिस्थितितंत्र एक वास्तविक तथ्य हैं, काफ़ी व्यापक रूप से फैले हुए हैं और विभिन्न आर्थिक विशिष्टीकरणोंवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों के संगठन में सोपानिकी के एक निश्चित तत्त्व का समावेश करते हैं। पुरातात्विक सामग्रियों से शिकारी तथा खाद्य-संग्राहक और घुमंतू अर्थव्यवस्थाओंवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों की खेतिहर मानवभूपरिस्थितितंत्रों पर निर्भरता की अनेक मिसालों का पता चला है। अधिकांशतः इनसे अलग-अलग आर्थिक विशिष्टीकरणोंवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों के परस्पर संबंधों का ही सबूत मिलता है। किंतु एक जैसे आर्थिक विशिष्टीकरणवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों के सहजीवी समुदाय की मिसालें खोज पाना कहीं अधिक कठिन है।

आदिम अर्थव्यवस्था की प्रणाली के संबंध में इस बात का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए कि विनिमय स्पष्टतः मानव इतिहास के काफ़ी पहले के चरणों में ही स्वतंत्र मानवभूपरिस्थितितंत्रों का निर्माण करनेवाले अलग-अलग आर्थिक समूहों के बीच पैदा हो गया था और वह हर युग में हर समाज की आर्थिक प्रणाली का एक महत्वपूर्ण भाग रहा है। किसी, संभवतः, बहुत पहले के चरण में विनिमय के क्षेत्र के अंतर्गत सहजीवी मानवभूपरिस्थितितंत्र आते थे, जिनमें से अधिकांश के अलग-अलग आर्थिक विशिष्टीकरण थे। पहले मामले में भी और दूसरे मामले में भी विनिमय का स्वरूप पूर्णतः इससे निर्धारित होता था कि कोई आर्थिक समुदाय क्या पैदा करता है। अपनी बारी में यह उस समुदाय द्वारा प्रयुक्त भूक्षेत्र के संसाधनों तथा अर्थव्यवस्था की दिशा द्वारा निर्धारित होता था (अर्थव्यवस्था की दिशा काफ़ी हद तक प्रयुक्त भूक्षेत्र पर निर्भर होती थी)। इसलिए आदिम विनिमय में बुनियादी स्थान आर्थिक समुदाय नहीं, अपितु मानवभूपरिस्थितितंत्र रखता था और इससे ही आदिम समाज के भीतर विद्यमान आर्थिक संबंधों में उसकी भूमिका निर्धारित होती है।

भौगोलिक अनुकूलन की प्रक्रिया अपने को विभिन्न मानवभूपरि-स्थितितंत्रों में कैसे प्रकट करती है और उसकी ठोस अभिव्यक्ति क्या है? मनुष्य के बसने के दृष्टिकोण से, शायद, सबसे पहले प्रयुक्त भूक्षेत्र की स्थलाकृति महत्व रखती है: कृषिजीवी समुदाय

वनों से अत्यधिक आच्छादित इलाक़ों में या तो बसते नहीं थे, या फिर उनका सामान्य ढंग से इस्तेमाल आरंभ करने से पहले उनमें उन्हें भारी परिवर्तन लाने पड़ते थे। इसके विपरीत किसी वन प्रदेश में कोई शिकारजीवी समुदाय ज्यों ही बसता था, त्यों ही वह पूरी तरह प्रयुक्त भूक्षेत्र बन जाता था। अन्य परिस्थितियां यदि समान हों, तो ऐसे समुदाय का संख्यात्मक आकार पहली पीढ़ी में भी और दूसरी पीढ़ी में तो अवश्य ही शिकार के क्षेत्र के भीतर, बल्कि अगर ठीक-ठीक कहें, तो दत्त वन प्रदेश की सीमाओं में जीवों की प्रचुरता से निर्धारित होता था। आर्थिक समूह का सामान्य आकार संभावित शिकार के निचय पर निर्भर होता था। अपनी बारी में कारगर पुनरुत्पादक आकार पुनरुत्पादन के पैमाने को और इसलिए भावी पीढ़ी की कुल आबादी तथा उसके कारगर पुनरुत्पादक आकार को पूर्वनिर्धारित करता था। कतिपय विद्वानों का मत है कि जनांकिकीय प्राचल आबादियों के आनुवंशिक अनुकूलनों की प्रणाली में भी शामिल रहते हैं। अलग-अलग व्यक्तियों के प्रयासों की समष्टि के रूप में आर्थिक सक्रियता और समुदाय की अधिकतम आर्थिक दक्षता भी, यदि अन्य बातें समान हों, तो जनांकिकीय लक्षणों से पूर्वनिर्धारित होती हैं। सभी इलाक़ों में जानवरों की संख्या, जैसा कि हम उनकी पारिस्थितिकी से जानते हैं, काफ़ी व्यापक सीमाओं के भीतर घटती-बढ़ती रहती है। यदि उसमें संकटसूचक परिघटनाएं न हों, तो समुदाय के लिए आवश्यक खाद्य के निचय को शिकार के क्षेत्र की अधिकतम नहीं, अपितु न्यूनतम पुनरुत्पादकता के वर्षों के बराबर होना चाहिए। किंतु यदि हमारा प्राणिजगत में संकट की स्थिति से सामना होता है (महामारी, हिंस्र जानवरों का आव्रजन, आदि), तो आर्थिक समुदाय के लिए भी संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है: वह या तो मरने लगता है (खाद्य-संग्रहण आहार की कमी को बहुत कम मात्रा में ही और थोड़े-से समय के लिए ही पूरा कर सकता है), या उसके लिए अर्थव्यवस्था तथा जीवन-निर्वाह की किसी अन्य प्रणाली को अपना लेना आवश्यक बन जाता है, या फिर उसे यह स्थान छोड़कर अन्यत्र बस जाना होगा।

अब एक भिन्न मिसाल – एक खेतिहर आर्थिक समुदाय द्वारा किसी भूक्षेत्र के इस्तेमाल की मिसाल – लें और उसकी जांच करें।

हम भूमि को इस्तेमाल के योग्य बनाने, यानी वनों की कटाई-सफ़ाई की स्थिति की चर्चा नहीं करेंगे। पूर्व यूरोपीय मैदान की सीमाओं के भीतर कर्तन-दहन (झूम) कृषि के इतिहास का पुरातत्व की दृष्टि से काफ़ी अधिक अध्ययन हो चुका है, किंतु पुरातात्विक सामग्री संक्रांतिक कालों पर कोई प्रकाश नहीं डालती है, यानी जब कोई समुदाय अथवा समुदाय समूह एक व्यापक क्षेत्र की सीमाओं के भीतर भूमि के सभी संसाधनों को पूरी तरह इस्तेमाल कर लेता था और आगे उसके लिए किसी और भूखंड को आबाद करना आवश्यक हो जाता था। शायद, यह शनैः-शनैः होता था। हम इन संक्रांतिक स्थितियों को भी छोड़ देंगे, ताकि मुख्य चित्र की ओर से ध्यान न हट जाये। यदि भूखंड काश्त के लिए तैयार है और अन्य परिस्थितियां भी समान हैं (हमारा आशय, मुख्यतः, दत्त आर्थिक समुदाय में कृषिकर्म के परंपरागत तरीक़ों के स्तर से है), तो कृषि की कारगरता कई कारकों से निर्धारित होगी, जैसे भूमि की आरंभिक उर्वरता, ढोरों की पर्याप्त तादाद, जिनसे खेतों के लिए आवश्यक खाद मिलती है, और सूखे इलाक़ों में पानी की पर्याप्त मात्रा में (बल्कि अधिक ही) उपलभ्यता। विश्व के विशाल भागों में कृषि सिंचाई के बिना, सिंचाई संबंधी कार्यों की एक पूरी की पूरी प्रणाली के बिना असंभव है। ये सब ऐसे सूचक हैं, जिनका मात्रात्मक परिकलन किया जा सकता है। ठोस नृजातिवर्णनात्मक अध्ययन की परिस्थितियों में उनसे वह इष्टतम संतुलन निकाला जा सकता है, जो दत्त आर्थिक समुदाय के कार्य करने के लिए आवश्यक है। तर्कों का आगे का क्रम वैसा ही है, जैसा पूर्ववर्ती प्रकरण में था। यह संतुलन पैदावार की न्यूनतम मात्रा को निर्धारित करता है और उसके जरिये दत्त मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाओं के भीतर आर्थिक समुदाय के जनांकिकीय सूचकांकों को भी तय कर देता है।

किंतु किसी भी मानवभूपरिस्थितितंत्र के सामाजिक क्षेत्र में घटनेवाली अनुकूलन की प्रक्रियाएं उपरोक्त परिघटनाओं तक ही सीमित नहीं हैं। काम-धंधे से संबंधित इमारतें तथा आवास काफ़ी हद तक किसी निश्चित स्थलाकृतिक कटिबंध की दृश्यभूमि तथा जलवायु के विशिष्ट स्वरूप को ही नहीं, अपितु ठीक किसी निश्चित

लघु दृश्यभूमि तथा लघु प्रदेश की विशेषताओं को भी प्रतिबिंबित करते हैं। व्यापक क्षेत्रफल में फैली हुई जाति के लोगों के आवासों की संरचना के स्थानीय अंतर परंपराओं का ही परिणाम नहीं होते हैं। यही बात पोशाक के बारे में भी कही जा सकती है, जिसका स्थानीय विशिष्ट स्वरूप परंपरा को ही नहीं, अपितु आर्द्रता, ताप तथा शीत का ध्यान रखनेवाली प्रकार्यात्मक तर्कसंगति, मुख्य आर्थिक धंधों के स्वरूप, आदि को भी प्रतिबिंबित करता है। शिकार के औजार पूरी तरह उन अपेक्षाओं के अनुरूप होते हैं, जो किन्हीं निश्चित प्रकार के जीवों के शिकार द्वारा पैदा की जाती हैं। शिकार के सर्वोपयोगी साधन केवल बंदूक और बारूद के आविष्कार के बाद ही, यानी मानवजाति के विकास के काफ़ी बाद के चरण में ही प्रकट हुए। किसी भूक्षेत्र का जीवजगत उसमें रहनेवाले मानव समुदाय के संबंध में भौगोलिक परिवेश का अंग नहीं, तो और क्या है? शिकार के साधनों की भांति कृषि के साधन, विशेषतः आदिम क़िस्म के साधन, भी अपने ऊपर भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन की छप लिये हुए होते हैं। चूंकि हर मानवभूपरिस्थिति-तंत्र का सूचना क्षेत्र अन्य मानवभूपरिस्थितितंत्रों द्वारा भेद्य होता है (और पूरी तरह अलग-थलग रहनेवाले मानवभूपरिस्थितितंत्रों का इतिहास में यदि कभी अस्तित्व था, तो मात्र विरले अपवाद के रूप में ही था), इसलिए ऐसा हर आविष्कार, जो भौगोलिक परिवेश को जीवन के लिए अधिक पूरी तरह उपयुक्त बनाने में सहायक होता है, पड़ोसी मानवभूपरिस्थितितंत्रों में भी और फिर पड़ोसी इलाक़ों की सीमाओं के बाहर भी फैल जाता है।

हमें यह बहुत संभव लगता है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर सामाजिक-भौगोलिक अनुकूलनों का जो समुच्चय है, वह आत्मिक जीवन के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है। जीवन और रहन-सहन के जो अंतरंग पहलू लोक-कला में प्रतिबिंबित होनेवाली सौंदर्यात्मक धारणाओं तथा क्रियाओं के निर्माण के लिए उत्तर-दायी होते हैं, वे किसी निश्चित आर्थिक समुदाय की ही ठोस वि-शेषता होते हैं, अन्य समुदायों की नहीं। एस्कीमो आदमी हड्डी से वालरस की आकृति बनाता है, किंतु इस बिंब में उसके लिए उन सभी वालरसों की आकृतियां समाहित होती हैं, जिन्हें उसने कभी

देखा होगा या शिकार के दौरान मारा होगा। यही बात लोक-वार्ता पर भी लागू होती है। वह आश्चर्यजनक पूर्णता के साथ दत्त समुदाय के ही ठोस जीवन के बिंबों की रचना कर देता है और फिर उसके ज़रिये ये बिंब सारी जाति के लोक-वार्ता की निधि का अंग बन जाते हैं। इन सब बातों के आधार पर सोचा जा सकता है कि आत्मिक संस्कृति की जो परिघटनाएं भौतिक संस्कृति की परिघटनाओं की भांति सादृश्यों का योग हैं, संस्कृति के भौगोलिक अनुकूलन के प्रभावस्वरूप पैदा हुई थीं और किन्हीं आर्थिक-सांस्कृतिक विशिष्टीकरणों की परिचायक हैं, वे पहले मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर बनती तथा पनपती हैं और सिर्फ़ बाद में मानवभूपरि-स्थितितंत्रों के बीच संपर्कों के कारण अपने मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाओं से बाहर निकलकर बड़े-बड़े भौगोलिक प्रदेशों में फैल जाती हैं।

इस तरह हमने देखा कि मानवभूपरिस्थितितंत्र अर्थव्यवस्था के क्षेत्र की भांति संस्कृति के भौगोलिक अनुकूलन के क्षेत्र में भी बुनि-यादी सामाजिक-भौगोलिक कोशिका का स्थान रखता है, और इस कोशिका में अनुकूलनमूलक विशेषताओं के वे सांस्कृतिक समुच्चय बनने लगते हैं, जो समेकन के अधिक ऊंचे स्तर पर आर्थिक-सांस्कृ-तिक प्ररूपों में एकजुट होते हैं। उल्लेखनीय है कि किसी निश्चित प्ररूप के भीतर विद्यमान मानवभूपरिस्थितितंत्रों की संख्या भी कुछ हद तक आर्थिक जीवन के दौरान भौगोलिक परिवेश पर क़ाबू पाने की दत्त प्रणाली की अन्य प्रणालियों की तुलना में प्रगतिशीलता के सूचक का काम करती है।

मानवभूपरिस्थितितंत्र और मानवजाति का जैविक विभेदीकरण

ऊपर हमने इस विषय का चलते-चलते उल्लेख मात्र किया था, किंतु वह पूर्ववर्ती अनुच्छेदों में विवेचित विषयों की अपेक्षा कहीं सरल है। इसका कारण वह उत्तर है, जो हम आकृतिक तथा शरीर-क्रियात्मक लक्षणों के अनुसार मानवजाति के विभेदीकरण की बुनि-

यादी जैव संरचनाओं के नाते आबादियों और मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाओं के भीतर आर्थिक सक्रियता के वाहक के नाते आर्थिक समुदायों के सहसंबंध के प्रश्न के सिलसिले में देंगे। यदि मानव-भूपरिस्थितितंत्र की सीमाओं के भीतर आर्थिक समुदाय एक आबादी है, तो, स्वाभाविकतः, इस आबादी से आकृतिक विशेषताओं के किसी निश्चित समुच्चय के निर्माण की प्रक्रिया और इसके साथ ही इस आबादी के अन्य आबादियों से जैविक पृथक्करण की प्रक्रिया आरंभ होती है। यदि, इसके विपरीत, आर्थिक समुदाय आबादी की तुलना में संकीर्णतर अथवा व्यापकतर है, तो स्वाभाविक ही है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र का मानवजाति के जैविक विभेदीकरण की प्रक्रिया से कोई संबंध नहीं होगा और वह इस प्रक्रिया से बिल्कुल स्वतंत्र रूप से विकास करेगा। जैसा कि बताया भी जा चुका है, हमें लगता है कि यदि हम यथार्थ स्थितियों को थोड़ा-बहुत भी पूरी तरह ध्यान में रखना चाहते हैं, तो इस प्रश्न का उत्तर विकल्पमूलक नहीं हो सकता। बहुत-से पर्वतीय इलाक़ों, उदाहरणार्थ, दाग़िस्तान, पामीर और नूरिस्तान में वैवाहिक संबंधों का दायरा सीमित था (अधिकांश मामलों में तो उसमें एक ही बस्ती आती थी) और वहां अंतर्विवाह की प्रथा का कड़ाई से पालन किया जाता था। इसका अर्थ है कि आर्थिक समुदाय अंतर्विवाही होता है, विवाह उसके भीतर ही किये जाते हैं और इसलिए मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाएं आबादी की सीमाओं की संपाती होती हैं। मानवभूपरि-स्थितितंत्रों के पर्याप्त लंबे काल तक काम करने पर संभावित आबादी यथार्थतः विद्यमान आबादी में परिणत हो जाती है और उसमें एक निश्चित आनुवंशिक तथा आकृतिक अनुपमता दिखायी देने लगती है। कुछ भी हो, उपरोक्त प्रदेशों से संबंधित अनुसंधान में, जिसके लिए सामग्री अलग-अलग बस्तियों से एकत्र की गयी थी, यह अनुपमता बड़ी स्पष्टता के साथ दिखायी गयी है (गाजीयेव, १९७१)। इस प्रकार, ऐसी स्थिति में मानवभूपरिस्थितितंत्र जैविक विभेदीकरण की एक यथार्थ तथा बुनियादी इकाई के रूप में काम करता है, उसके भीतर उसके लिए ही लाक्षणिक आनुवंशिक विशेष-ताओं के संयोजन और कभी-कभी आकृतिक अनुपमता भी संकेंद्रित होते हैं, जो अन्य मानवभूपरिस्थितितंत्रों के भीतर नहीं पाये जाते।

किंतु आर्थिक समुदाय के दायरे में ऐसे समूह भी आ सकते हैं, जो अंतर्विवाही नहीं हैं। गोत्रीय समूहों से निर्मित समाजों में उन मामलों में स्थिति कहीं अधिक जटिल होती है, जब ये समूह द्वैध सिद्धांत के अनुसार संगठित होते हैं अथवा त्रिगोत्रीय संघ बनाते हैं। तब संभावित आबादी और, यदि मानवभूपरिस्थितितंत्रों का अस्तित्व दीर्घकाल से है, तो यथार्थ आबादी में दो या तीन समूह होते हैं। मानवभूपरिस्थितितंत्र तब जैविक विभेदीकरण की इकाई नहीं रह जाता। यदि हम अधिक विकसित समाजों पर आयें, जिनमें गोत्रीय संरचना के अवशेष भी नहीं रह गये हैं, तो पायेंगे कि प्रचलित विवाह नियमों के अनुसार विवाह संबंधों के दायरे किन्हीं निश्चित आर्थिक समुदायों तक ही सीमित नहीं रह गये हैं और मानवभूपरिस्थितितंत्र की सीमाओं के बाहर कहीं तक भी जा सकते हैं।

आर्थिक समुदायों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या को देखते हुए यह आवश्यक ही है कि संभावित आबादी के यथार्थ आबादी बनने में बहुत पीढ़ियां लग जायें। स्पष्टतः, इसी कारण यह रूपांतरण इतनी अधिक प्रायिकता के साथ नहीं होता। किंतु ऐसी कोई बाधाएं भी नहीं हैं कि वह बिल्कुल ही न हो पाये। दूरियों को लांघने के मामले में आलस्य एक काफ़ी आम और निरंतर सक्रिय मनोवैज्ञानिक कारक है। इसलिए सोचा जा सकता है कि वह बहिर्विवाही-गोत्रीय समाजों के चरण में भी अपने को किसी न किसी प्रकार से प्रकट करता होगा। अतः, अभी-अभी गिनायी गयी सभी स्थितियों में जैविक विभेदीकरण में मानवभूपरिस्थितितंत्र की भूमिका आर्थिक समुदाय के आबादी के साथ संपात की स्थिति की तुलना में कहीं कम स्पष्ट है। फिर भी उसकी संभावना और पर्याप्त महत्वपूर्ण होने से इंकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मानवभूपरिस्थितितंत्र जैसे मानवजाति के आदिकाल में अर्थव्यवस्था की प्रणाली तथा संस्कृति के भौगोलिक अनुकूलन की प्रक्रिया में एक बुनियादी इकाई का स्थान रखता है, वैसे मानवजाति के जैविक विभेदीकरण की प्रक्रिया में भी उसे एक मुख्य स्थान प्राप्त है। आबादी का संपाती बनकर वह एक ऐसी बुनियादी कोशिका की भूमिका अदा करता है, जिससे इस विभेदीकरण की प्रक्रिया आरंभ होती है।

जब वह आबादी का संपाती नहीं होता, तब भी वह अपने भीतर जैविक समांगीकरण की प्रवृत्तियों को संकेंद्रित करना जारी रखता है और इसलिए अपने आर्थिक समुदाय को संभावित आबादी में रूपांतरित करने के लिए प्रयत्न करता रहता है।

मानवभूपरिस्थितितंत्रों की ऐतिहासिक गति

हमने ऊपर देखा कि मानवभूपरिस्थितितंत्र संरचनात्मकतः एक अविभाज्य और साथ ही अत्यंत जटिल परिघटना है। हमने यह भी देखा कि मानवभूपरिस्थितितंत्र समाज की अर्थव्यवस्था की प्रणाली में, सांस्कृतिक घटकों के भौगोलिक परिवेश से अनुकूलन की प्रक्रिया और मानवजाति के जैविक विभेदीकरण के आरंभिक चरणों की प्रक्रिया में एक बुनियादी संरचनात्मक इकाई का स्थान रखता है। स्पष्ट है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र के संरचनात्मक गठन की जटिलता और उसके भीतर के कार्यात्मक संबंधों की विविधता इतने ही तक सीमित नहीं हैं। किंतु, हमारे मत में, सामाजिक प्रणाली में मानवभूपरिस्थितितंत्र की स्थिति को रेखांकित करने और यह दिखाने के लिए कि एक अविभाज्य समष्टि के नाते, सामाजिक प्रणाली के एक संरचनात्मक तत्व के नाते उस पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए, ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह पर्याप्त है।

बिल्कुल स्पष्ट है कि विभिन्न आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों में सम्मिलित मानवभूपरिस्थितितंत्र कुछ महत्वपूर्ण बातों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं, जबकि एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के मानवभूपरिस्थितितंत्र आपस में मिलते-जुलते होते हैं। यह आर्थिक विशेषीकरण का परिणाम है। किंतु उनका इस आधार पर वर्गीकरण करने से ऐसी कोई नयी बात मालूम नहीं होगी, जो कि पहले आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों के वर्गीकरण से मालूम नहीं हो चुकी है। मानवभूपरिस्थितितंत्रों के बीच प्रयुक्त भूक्षेत्र के आकार के अनुसार अथवा आर्थिक समुदायों की सदस्य-संख्या के अनुसार भी अंतर किया जा सकता है, किंतु यह वर्गीकरण भी काफ़ी हद तक आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूपों की ही पुनरावृत्ति करेगा और औपचारिक होगा।

अनौपचारिक और इसलिए प्रणालीविज्ञान की दृष्टि से सही मानव-भूपरिस्थितितंत्रों का प्ररूपों में वह विभाजन होगा, जो उनकी अपनी आंतरिक संरचना पर आधारित है।

ऐसे एक प्ररूप की विशेषता मानवभूपरिस्थितितंत्र की गति में उस संरचनात्मक घटक द्वारा मुख्य भूमिका अदा किया जाना है, जिसे सूक्ष्म परिवेश कहा जाता है। ये प्रथम चरण के मानवभूपरि-स्थितितंत्र हैं। उनमें आर्थिक सक्रियता की तीव्रता, आर्थिक समुदायों के संख्यात्मक आकार, मानवभूपरिस्थितितंत्र की गति की दिशा तथा स्थायित्व को काफ़ी हद तक भौगोलिक परिस्थितियां निर्धारित करती हैं। प्राकृतिक जीवपरिस्थितितंत्र को नुक़सान पहुंचने से एक समष्टि के रूप में मानवभूपरिस्थितितंत्र का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यह खाद्य-संग्राहकों, शिकारियों और मछलियां पकड़ने-वालों की अर्थव्यवस्था होती है। किंतु पहले चरण के मानवभू-परिस्थितितंत्र विनियोजी अर्थव्यवस्था के रूपों तक ही सीमित नहीं होते, जैसा प्रथम दृष्टि में लगता है। विस्तृत घुमंतू पशुचारण में अच्छे चरागाहों की विद्यमानता और उनके इस्तेमाल की संभावना, दूसरे शब्दों में, स्वतंत्र चरागाहों की उपलभ्यता और इसलिए अन्य मानवभूपरिस्थितितंत्रों का दबाव पाले जानेवाले पशुओं की संख्या को और फिर उसके पीछे-पीछे आर्थिक समुदाय की सदस्य-संख्या को भी सीमित कर देते हैं।

किंतु जब पशुओं को शालाओं में रखकर पाला जाता है और विकसित कृषि होती है, तब ऐसा नहीं होता। पशुओं का शालाओं में पालन और अर्ध-घुमंतू पशुपालन आपवादिक मामलों में ही अर्थव्यवस्था की स्वतंत्र शाखाएं होते हैं, उनका कृषि के साथ संयोजन किया जाता है। ऐसा संयोजन और कृषि के विकसित रूप आर्थिक समुदायों को उत्पादिता की वृद्धि तथा श्रम के तीव्रीकरण के रूप में विकास, भौगोलिक परिवेश के सोद्देश्य परिवर्तन, खाद्य संचयों के निर्माण और फलस्वरूप प्रयुक्त भूक्षेत्र पर प्रत्यक्ष तथा दैनिक निर्भरता से मुक्ति की कहीं बड़ी संभावनाएं प्रस्तुत करते हैं। ये दूसरे चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्र हैं, जिनमें स्वयं आर्थिक समुदाय और उसकी उत्पादन सक्रियता सूक्ष्म परिवेश को बदलते हैं, उसकी गति को वांछित दिशा देते हैं और उससे शासित नहीं होते।

कोई भी मानवभूपरिस्थितितंत्र तब तक रहता है, जब तक उसके मुख्य संरचनात्मक घटक विद्यमान रहते हैं। उनमें से एक का भी विलोप अथवा विनाश होने पर सारे ही मानवभूपरिस्थितितंत्र का विलोप हो जाता है। इसलिए आर्थिक समुदायों के नये प्रदेशों में जाकर बस जाने और नये प्राकृतिक परिवेश को जीतने के मामलों को नये मानवभूपरिस्थितितंत्रों के निर्माण और पुराने मानवभूपरिस्थितितंत्रों के जीवन की समाप्ति का परिचायक ही कहा जा सकता है। अंतोक्त कर्तन तथा दहन कृषि (भूम कृषि) में विशेषतः दिखायी देता है। पुराने भूखंड की मिट्टी की उर्वरता घट जाने और नये भूखंड पर वन साफ़ कर लेने के बाद समुदाय इस नये भूखंड का इस्तेमाल आरंभ कर देता है, जिसकी मिट्टी की अपनी विशिष्ट सूक्ष्म परिस्थितियां होती हैं। यह विशिष्टता इतनी नगण्य हो सकती है कि व्यवहार में लग सकता है कि दत्त मानवभूपरिस्थितितंत्र के विकास का सामान्य चक्र जारी है। किंतु कभी-कभी पड़ोसी भूखंडों में भी मिट्टी की विशिष्टता इतनी अधिक स्पष्ट होती है कि पुरानी फ़सलों के लिए नयी कृषि तकनीक की और बहुत बार नयी फ़सलें उगाने की भी ज़रूरत पड़ जाती है। इस तरह पुराने, विनष्ट मानवभूपरिस्थितितंत्र के स्थान पर नये मानवभूपरिस्थितितंत्र का निर्माण होता है। इस बात पर विशेषतः बल दिया जाना चाहिए कि ऐसे मामलों में नये मानवभूपरिस्थितितंत्रों का प्रादुर्भाव कभी भौगोलिक परिस्थितियों के परिवर्तन तक ही सीमित नहीं रहता और, चाहे आंशिकतः ही सही, हमेशा उत्पादन सक्रियता के क्षेत्र को प्रभावित करता है, सूचना क्षेत्र के आकार एवं संरचना में तथा उनके साथ पारंपरिक तकनीकी युक्तियों में भी परिवर्तन लाता है। इस प्रकार, हमारा जिस चीज़ से साक्षात्कार होता है, वह मानवभूपरिस्थितितंत्र के संरचनात्मक घटकों में ही नहीं, अपितु उसके भीतर विद्यमान कार्यात्मक संबंधों में भी स्पष्ट परिवर्तन है।

जो अंधगली में पहुंच गये थे, उन्हें छोड़कर अन्य मानवभूपरिस्थितितंत्रों के उद्‌विकास की मुख्य दिशा क्या थी? हर आर्थिक समुदाय अपनी आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ण तथा व्यापक तुष्टि के लिए प्रयत्नरत रहता है और इसका मतलब है कि उसकी अपनी उत्पादन सक्रियता के तीव्रीकरण में दिलचस्पी होती है।

संभवतः, अनुकूल ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों में यह पहले चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों के दूसरे चरण के मानव-भूपरिस्थितितंत्रों में संक्रमण में व्यक्त होता है। इस संक्रमण की प्रक्रिया में भौगोलिक पर्यावरण पर मनुष्य का वर्चस्व बढ़ जाता है, ऊर्जा के नये स्रोत प्रकट होते हैं, मानवभूपरिस्थितितंत्रों के भीतर ऊर्जा तथा द्रव्य के चयापचय में वृद्धि हो जाती है और वह प्रक्रिया तीव्र बन जाती है, जिसे सोवियतं विद्वान अ० फ़ेर्समान ने इतिहास के उत्तरवर्ती कालों के लिए सर्वथा उचित ही "टेक्नोजेने-सिस" की संज्ञा दी थी, मगर जो मानवजाति के इतिहास के बिल्कुल आरंभ के युगों में भी विद्यमान थी। समग्ररूपेण आर्थिक सक्रियता के संदर्भ में इसका अर्थ है कृषि के आदिम रूपों से विकसित रूपों में, शालाओं में पशुओं के पालन में संक्रमण। पश्चिमी एशिया से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर अब फ़सलों की काश्त तथा पशुओं को पालतू बनाये जाने के आरंभिक चरणों का स्थूल अनुमान लगाया जा चुका है।

जहां तक कृषि के विकसित रूपों के आविर्भाव का प्रश्न है, तो उनमें संक्रमण, अंततः, ऐसी हर जगह होता है, जहां इसके लिए थोड़ा-बहुत भी उपयुक्त परिस्थितियां हैं। कृषि की उत्पत्ति का न० ववीलोव द्वारा प्रतिपादित बहुकेंद्रिक सिद्धांत इस क्षेत्र में ऐतिहासिक प्रगति की अनुत्क्रमणीयता की ही पुष्टि करता है। संभवतः, मानवभूपरिस्थितितंत्र ही वह सबसे छोटी संरचनात्मक इकाई है, जिसकी सीमाओं में आदिम कृषि से विकसित कृषि में संक्रमण होता है, दूसरे शब्दों में, पहले चरण के मानवभूपरिस्थि-तितंत्रों का दूसरे चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों में विकास तथा रूपांतरण होता है। यह भूमिका न आबादी अदा कर सकती है, जो अधिकांशतः एक स्वतंत्र आर्थिक इकाई नहीं होती, और न यह आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के ही बस की बात है, जिसमें, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रायः आपस में असंबद्ध या अल्प संबद्ध जातियां समूहित होती हैं। इसलिए मानवजाति का अग्रमुखी विकास, उत्पादक शक्तियों का विकास, तकनीकी प्रगति और मानवजाति के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण विनियोजी अर्थव्यवस्था से उत्पादक अर्थव्यवस्था में संक्रांति पहले चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों से

दूसरे चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों में संक्रमण में प्रतिबिंबित हुए।

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है, उसका निष्कर्ष यह है कि मानवभूपरिस्थितितंत्र आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप के अंतर्गत एक यथार्थतः विद्यमान परिघटना है। आर्थिक समुदाय, उसकी उत्पादन सक्रियता और उसके द्वारा प्रयुक्त भौगोलिक सूक्ष्म परिवेश मानव-भूपरिस्थितितंत्र के आपस में कार्यात्मक संबंधों से जुड़े हुए संरचना-त्मक घटक हैं। मानवभूपरिस्थितितंत्र के भीतर भौगोलिक सूक्ष्म परिवेश की भूमिका की प्रधानता पहले चरण के मानवभूपरि-स्थितितंत्रों को जन्म देती है और प्रकृति का रूपांतरण करनेवाली सोद्देश्य मानव सक्रियता की भूमिका की प्रधानता दुसरे चरण के मानव-भूपरिस्थितितंत्रों को। पहले चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों का उद्विकास प्रायः अंधगली में ले जाता है, जबकि विकासमूलक गति की मुख्य दिशा पहले चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों से दूसरे चरण के मानवभूपरिस्थितितंत्रों में संक्रमण है।

उपसंहार के स्थान पर :
आदिम मानवजाति के इतिहास के कुछ प्रश्न

मानव बुद्धि उत्तर क्यों खोजती है ?

मानव के पूर्वजों के शारीरिक प्ररूप का उद्‌विकास तथा पुरा-पाषाण काल के दौरान भौतिक संस्कृति का विकास साथ ही साथ मस्तिष्क और मानस का, चेतना के विभिन्न क्षेत्रों का अनुपम विकास तथा चेतना की तार्किक संरचनाओं का परिष्कार भी थे। इन सब प्रश्नों पर अनेक विशद ग्रंथों में विचार किया गया है और ये हमारी पुस्तक की परिधि में नहीं आते, तथापि मानव बुद्धि का एक गुण ऐसा है जिस पर हमें यहां विचार करना चाहिए क्योंकि यह गुण ही बहुत हद तक मानव व्यवहार के विकास का प्रमुख पथ निर्धारित करता है और चेतना के उस रूप के आधार में निहित है, जिसने भौतिक उत्पादन के विकास से प्रेरित होकर अंततोगत्वा पहले ज्ञान का व्यवस्थापन किया।

चर्चा प्रकृति की अलग-अलग परिघटनाओं की व्याख्या करने की मानव बुद्धि की क्षमता और अंततोगत्वा विश्व के अर्थ को समझने की उसकी चेष्टा, वस्तुओं और प्रक्रियाओं की सतह तक सीमित न रहकर उनके सार में पैठने, दृश्य की सीमाओं से आगे निकलने की बुद्धि की अपेक्षा की ही है। मानव बुद्धि की यह प्रबल अपेक्षा और उसकी यह अनबुझ ज्ञान-पिपासा ही है कि मानवजाति यथार्थ के संज्ञान में प्राप्त उपलब्धियों से ही संतुष्ट न होकर सदा नये-नये अनजाने मार्गों की खोज करती आयी है।

मानवजाति के इतिहास के सभी कालों में इस या उस हद तक प्रकट होती आयी चिंतन के क्षेत्र की इस परिघटना की व्याख्या सामाजिक उत्पादन और सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के स्थायी कार्य में ही पायी जा सकती है। ये आवश्यकताएं ही मानस

के क्षेत्र में अपवर्तित होकर ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक चरण में वैज्ञानिक और दार्शनिक खोज की प्रेरणा देती आयी हैं। उत्पादक शक्तियों, उत्पादनमूलक तथा सामान्यतः सामाजिक संबंधों के विकास में प्रगामी प्रवृत्तियां ऐसे निरंतर सक्रिय कारक रही हैं।

मानव चेतना के मानव मस्तिष्क की मानसिक संरचनाओं के कार्य में वह क्या था, जो इन प्रवृत्तियों को ग्रहण करता था, सामाजिक उत्पादन और भौतिक संस्कृति के विकास के जीवनदायी संवेगों पर जिसकी प्रतिक्रिया होती थी, जो अज्ञान के अनजान विस्तार की ओर बढ़ता और उसे पार करता था? यह मानव बुद्धि की व्याख्या की वही अपेक्षा थी जिसका ऊपर हमने उल्लेख किया है। यह अपेक्षा, यह आवश्यकता क्या है और विभिन्न चिंतन प्रकार्य किस प्रकार संचित होकर इस आवश्यकता को जन्म देते हैं–यह बात आकृतिकशरीरक्रियात्मक या फिर शुद्धतः मनोवैज्ञानिक शब्दावली में नहीं समझायी जा सकती। मस्तिष्क की, उसके विभिन्न खंडों और भीतरी भागों की सूक्ष्म संरचना का अब काफ़ी अच्छी तरह अध्ययन हो चुका है, शायद, उसकी स्थूल संरचना से कम अच्छी तरह नहीं, किंतु इसकी कोई प्रकार्यात्मक व्याख्या नहीं की जा सकी है तथा मानसिक और प्रत्ययात्मक की व्याख्या में इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। मस्तिष्क की सूक्ष्म संरचना का उसके मानसिक प्रकार्यों के साथ संबंध परोक्ष तथा बहुस्तरीय है।

मानव मस्तिष्क दसियों अरब कोशिकाओं से बना हुआ है। इस विराट राशि के भीतर स्थानीय साहचर्यों और सोपानक्रम में गठित उपसंरचनाओं का पता चला है, उनके भीतर प्रकार्यात्मक अनुकल्प की जटिल पद्धतियां काम करती हैं। मस्तिष्क दसियों अरब कोशिकाओं का योगफल मात्र नहीं है, वह तो उनसे बनी और उनके द्वारा संगठित एक व्यवस्था है, जो बाह्य जगत से मस्तिष्क में आनेवाली सूचना को ग्रहण, संसाधित और व्यवस्थापित करती है। मानव मस्तिष्क पदार्थ के विकास का उच्चतम उत्पाद है, क्योंकि यह पदार्थ द्वारा स्वयं अपने संज्ञान का भौतिक सार है। उसकी प्रमुखतम अभिव्यक्तियों में उसकी व्याख्या अमूर्तन के उच्चस्तरीय दार्शनिक उपागम की शब्दावली में ही की जा सकती है। ये सब बातें प्राक्कल्पनाओं के क्षेत्र की हैं, और यहां हमें अभी

मस्तिष्क के कार्य के बारे में ठोस ज्ञान के बजाय प्रणालीवैज्ञानिक सिद्धांतों का ही अधिक सहारा लेना होगा। अतः, ऊपर पूछे गये प्रश्न का प्राक्कल्पनात्मक उत्तर निरूपित करते हुए हम मस्तिष्क के कार्य को नहीं, बल्कि अत्यधिक जटिल व्यवस्थाओं के व्यवहार की कल्पना को ही प्रस्थान-बिंदु बना रहे हैं।

इस उत्तर का मर्म यह अनुमान है कि जटिलता के निश्चित स्तर से अधिक ऊंचा उठ जाने पर किसी व्यवस्था को परिवेश के अनुरूप कार्य करने के लिए भावी घटनाओं का "पूर्वानुमान लगाना" आरंभ कर देना चाहिए; अन्यथा, परिस्थितियां बदलने पर वह अपनी जटिलता के कारण तथा द्रुत पुनर्गठन असंभव होने के कारण समुचित प्रतिक्रिया दिखाने में निरंतर पीछे छूटती जायेगी। मानव मस्तिष्क ऐसी ही जटिल व्यवस्था है, अगर उसके कार्य पर भी उपरोक्त बात लागू होती है। यही नहीं, मस्तिष्क के कार्य के संगठन की जटिलता चूंकि ऐसे स्तर पर पहुंच चुकी है, जो मानव के गिर्द प्रकृति और समाज में हो रही परिघटनाओं एवं प्रक्रियाओं की वस्तुपरक व्याख्या और पूर्वानुमान संभव बनाता है, तो इससे मस्तिष्क के लिए अनुकूलन संभावनाओं का निरंतर बढ़ता परिसर भी सुनिश्चित हुआ है।

काल-निर्धारण

मार्गन की पुस्तक 'प्राचीन समाज' का मार्क्स द्वारा तैयार किया गया सारांश, एंगेल्स की रचना 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' तथा लेनिन की सैद्धांतिक प्रस्थापनाएं – यही उन प्रणालीवैज्ञानिक सिद्धांतों का मूल आधार हैं, जिन्हें मानते हुए हम मानवजाति के इतिहास के आरंभिक काल में ऐतिहासिक प्रगति के चरण और अवस्थाएं निर्धारित करते हैं। पहला सिद्धांत यह है कि ये चरण उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुरूप तथा उत्पादन संबंधों में परिवर्तन के निर्णायक क्षणों को निर्धारित करते हुए तय किये जाने चाहिए। दूसरा सिद्धांत यह कहता है कि इन निर्णायक क्षणों का पता लगाने के लिए चहुंमुखी उपागम अपनाना

चाहिए, न केवल उत्पादन संबंधों को, बल्कि व्यापकतम अर्थ में सामाजिक संबंधों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इन सामान्य नियमों को मानते हुए मार्क्स और विशेषत: एंगेल्स ने इस बात पर ज़ोर दिया कि आदिम समाज में रक्त संबंधों की भूमिका असाधारण थी, जबकि सभ्य, वर्गाधारित समाजों में यह कम हो गयी। आदिम समुदायों में रक्त संबंध बुनियादी तौर पर उत्पादन संबंधों के संपाती थे, किंतु अपने कुछ रूपों में वे इनकी सीमाओं से बाहर निकल जाते थे और उत्पादन संबंधों के एक अनुपूरक क्षेत्र – सामाजिक संबंधों के क्षेत्र – का निर्माण करते थे।

उपरोक्त नियम आदिम समाज के अध्ययन के क्षेत्र में संचित अपार तथ्यात्मक सामग्री के समूहन में काफ़ी स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, जबकि सुस्पष्ट काल-निर्धारण की समस्या अत्यंत जटिल, चहुंमुखी समस्या है। सदियों से ऐसा कालानुक्रम निर्धारित करने के अनेक प्रयास हुए हैं जो वैज्ञानिक होने के साथ-साथ सर्वमान्य और आश्वस्तकारी भी हो, किंतु अभी तक इनमें कोई सफलता नहीं मिली है। सोवियत वैज्ञानिक भी इस विषय पर एकमत नहीं हैं। पुस्तक का आकार न बढ़ाने के लिए सभी प्रस्तावित आरेखों की गहराई में न जाकर हम यहां बुनियादी बात पर ही ज़ोर देंगे: सभी प्रचुर तथ्यात्मक सामग्री पर आधारित हैं और सभी से काल-निर्धारण की समस्या पर आगे काम करने के लिए उत्तम आधार बना है – ऐसे काल-निर्धारण के लिए, जो आदिम समाज के विकास के सभी पहलुओं को समेटे और उन्हें नियमसंगत रूप से उसके इतिहास के निर्णायक क्षणों के साथ जोड़े।

इस समस्या के प्रसंग में यहां यह भी कहना होगा कि मानवजाति के इतिहास के आरंभिक और उत्तरवर्ती चरणों को एक दूसरे के मुक़ाबले में रखना, सामान्य ऐतिहासिक काल-निर्धारण में आदिम समाज के इतिहास को प्रागैतिहास कहना, यह मानना कि सच्चा इतिहास सभ्य, वर्गाधारित समाज के प्रकट होने के साथ आरंभ होता है जबकि आदिम समाज का इतिहास उसकी तैयारी मात्र था – यह सब, हमारे विचार में, अनुचित है। वास्तव में मानवजाति का इतिहास मानवजाति के प्रकट होने के साथ ही आरंभ हो जाता है और मानवजाति होमिनिड कुल के गठन तथा प्रकृति का कायाकल्प

करनेवाली सामाजिक श्रम सक्रियता के साथ प्रकट होती है – उन घटनाओं के साथ जिनसे आदिम समाज का इतिहास आरंभ होता है। इस पुस्तक के सभी पूर्ववर्ती पृष्ठों पर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया अपनी परिघटनाओं के विकास की परस्पर निर्भरता को लिये हुए एक धारा के रूप में चलती है। सारी मानवजाति के इतिहास पर ग़ौर करते हुए उसे आदिम समाज के इतिहास तथा सभ्य, वर्गाधारित समाज के इतिहास में बांटा जा सकता है: आदिम समाज के इतिहास में मानव समाज का गठन तथा उसकी घटक संस्थाओं का आरंभिक इतिहास आते हैं। आदिम समाज के इतिहास के भीतर दो युग इंगित किये जा सकते हैं: आदिम यूथ का युग, जिस पर हमने पूर्ववर्ती पृष्ठों पर विस्तार से ग़ौर किया है, तथा आदिम समुदाय का युग, जिसका वर्णन एक विशेष विषय है और जिसको हमने संक्षेप में ही लेते हुए उत्पादक अर्थव्यवस्था के कुछ आरंभिक रूपों पर ग़ौर किया है, जबकि उत्तर पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाण कालों में सामाजिक संगठन और उदीयमान वैचारिक अधिरचना के जटिल रूपों पर विचार नहीं किया है। एक बार फिर हम स्पष्ट करना चाहेंगे कि इन क्षेत्रों में संचित विपुल तथ्यात्मक सामग्री और बहुसंख्य सैद्धांतिक कार्यों पर विशेष ग्रंथ में प्रकाश डाला जाना चाहिए, किंतु हमारी पुस्तक के केंद्रीय विषय – मानवजाति की उत्पत्ति – के लिए इस सबका विशेष महत्व नहीं है।

पांचवें अध्याय में हमने इस बात के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये हैं कि आदिम यूथ के युग को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। पहले चरण – प्राग्यूथ के चरण – में बीस-तीस लाख साल पहले के सभी होमिनिड आ जाते हैं, जो आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल में शामिल हैं। इस चरण में यूथगत परस्पर संबंधों का स्तर यूथचारी पशुओं के समूहों में विद्यमान संबंधों के स्तर से अधिक ऊंचा नहीं था। पशु जगत से अलग होने का पहला अंकुर फूट पड़ा था, किंतु अभी वह बहुत छोटा ही था – आस्ट्रेलोपिथेसिन सीधे होकर चलते थे और सरलतम श्रम संक्रियाओं में सक्षम थे, किंतु ऊपर हमने इनमें वाक् और भाषा के न होने के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनसे यही पता चलता है कि इनका जीवन-चक्र बहुत ही एकरस रहा होगा, बहुत

हद तक पशुओं के जीवन जैसी अभिव्यक्तियों तक ही सीमित रहा होगा। दूसरा चरण आरंभिक आदिम यूथ का चरण है, यह पिथिकैंथ्रोपस वंश का काल था, जो आज से लगभग बीस लाख वर्ष पहले से लेकर दो-डेढ़ लाख वर्ष पहले तक चला। यहां सरलतम वाक् और भाषा प्रकट हो गयीं, औज़ारनिर्माण और आखेट की विधियां अधिक जटिल हुईं, जो इस बात की साक्षी हैं कि इनका कौशल और ज्ञान बढ़ा, आखेटक समुदायों के अलग-अलग सदस्यों के बीच परस्पर संबंध अधिक जटिल हुए। वानर यूथों में विद्यमान संरचना से जो प्रवृत्तियां विकसित हो सकती थीं उन्हें देखते हुए तथा यह ध्यान में रखते हुए कि इन होमिनिडों का जीवन-काल अल्प ही होता था, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आरंभिक आदिम यूथ में अलग-अलग पीढ़ियों के प्रतिनिधियों के बीच यौन संबंधों की वर्जना एक नियम बन गयी होगी। अंततः, तीसरा चरण – विकसित आदिम यूथ का चरण – नियंडरथल जाति से जुड़ा हुआ है और यह उत्तर पुरापाषाण काल तक, आधुनिक मानव के प्रकट होने तक चला। गोत्र व्यवस्था के गठन के पथों की बहुविधता को लेकर जो व्यापक वाद-विवाद चल रहा है, बहुत संभव है कि उसका संबंध उन परिघटनाओं से ही माना जाये, जो विकसित आदिम यूथ में ही हुईं। इसके अलावा, विकसित आदिम यूथ में अनेक आरंभिक वैचारिक परिघटनाओं की उत्पत्ति हुई, जिनका पूर्ण मुकुलन उत्तर पुरापाषाण काल में हुआ।

आदिम समुदाय का युग मध्य और उत्तर पुरापाषाण कालों की सीमा से आरंभ हुआ और सभ्यताओं तथा पहली वर्गाधारित सामाजिक-ऐतिहासिक विरचना के प्रकट होने तक जारी रहा। इस युग के पहले चरण को उपभोक्ताओं के आरंभिक समुदाय का चरण कहना उपयुक्त होगा। कालक्रम की दृष्टि से यह उत्तर पुरापाषाण और मध्यपाषाण कालों का समय है। जीवन-यापन की विधि की दृष्टि से ये आखेटकों, खाद्य-संग्राहकों और मछली पकड़नेवालों के विनियोजी अवस्था के मानवभूपरिस्थितितंत्र हैं। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ये मुख्यतः गोत्र समुदाय हैं। दूसरे चरण को उत्पादकों के विकसित समुदाय का चरण कहना उचित रहेगा। यह नवपाषाण और कांस्य काल का समय है, आरंभिक कृषकों और पशुपालकों

का समाज है; यहां विकसित गोत्र समुदाय हैं, जिनमें गोत्र मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक – दोनों रूपों में पाया जाता है। आदिम समुदाय के विकास में ये दो चरण तथा आदिम यूथ के विकास के तीन चरण – ये हैं वे पांच चरण जो सभ्यता, वर्गाधारित समाज और पहले राज्यों के गठन के पथ पर इतिहास ने तय किये।

नियम अथवा संयोग?

आदिम इतिहास के बीहड़ मार्ग पर हमारी यात्रा समाप्त होने को है। हमने धीरे-धीरे, संभल-संभलकर आगे बढ़ने की, अपने रास्ते से बहुत दूर न हटने और साथ ही अज्ञात की गहराई में पैठने तथा वहां जो कुछ दिखा, उसमें से कुछ बातों को समझने और कुछ को भावी मंज्ञान के लिए दर्ज भर करने की चेष्टा की है। आदिम इतिहास हमारे सम्मुख मानवजाति के आरंभिक इतिहास के रूप में, जीवन के विकास के एक नियमसंगत चरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जो अपनी बारी में जड़ प्रकृति के विकास का अगला नियमसंगत चरण था। इस प्रकार, शीर्षक में निहित इस प्रश्न का कि मानवजाति का गठन नियम संचालित था अथवा संयोग द्वारा, यह उत्तर दिया जा सकता है कि मानवजाति की उत्पत्ति और विकास के लिए नियम और केवल नियम उत्तरदायी है, कि नियम और केवल नियम ने ही मानवभूमंडल की उत्पत्ति और विकास पूर्वनिर्धारित किये। यह उत्तर सही होगा, किंतु केवल पहली नज़र में ही। ऐसा उत्तर संयोग को नज़रंदाज़ करता है, जबकि निर्जीव और सजीव प्रकृति के उद्‌विकास में उसकी भूमिका अपार है और मानवजाति की उत्पत्ति में भी वह अपनी भूमिका अदा किये बिना नहीं रह सकता था। इस भूमिका को आंककर और उसकी सीमाओं को समझकर ही हम यह मान सकते हैं कि हमने अपना कार्यभार निभा लिया और प्रश्न का पर्याप्त पूर्ण उत्तर दे दिया है।

इतिहासविज्ञान के मार्क्सवादी सिद्धांत ने ऐतिहासिक प्रक्रिया में जनसामान्य की निर्णायक भूमिका तथा व्यक्तियों की भूमिका की अभिधारणा आश्वस्तकारी ढंग से प्रमाणित की है। जैसा कि पाठकगण

समझ सकते हैं, इस बात का हमारे विषय से महत्वपूर्ण संबंध है। ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्ति, जिन्होंने इतिहास में स्थान पाया है, राजनीतिक जीवन और उत्पादन के कर्णधार और मानव संस्कृति की विलक्षण हस्तियां रहे हैं। वे ही अद्‌भुत आविष्कार करते और अडिग संकल्प से निश्चय लेते आये हैं, मानवजाति को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाते या ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के नियमसंगत स्वरूप में परिवर्तन करते आये हैं। कोई भी व्यक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अद्वितीय होता है, विलक्षण व्यक्ति पर तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। व्यक्ति के निर्णय और ऐतिहासिक प्रक्रिया में उसका योगदान न केवल ऐतिहासिक काल की अपेक्षाओं द्वारा ही निर्धारित नहीं होते, इन्हें तो उसके चरित्र की विशेषताएं, उसका स्वभाव और व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियां, जो जीवन अनुभव में व्यक्त होती हैं, भी निर्धारित करती हैं। एक वर्ग की सीमाओं में लोगों के कार्यों और उनके व्यवहार पर उनके व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप होती है। साइबरनेटिक्स की भाषा में कहें तो यह एक प्रकार से इतिहास का "शोर" है, जो उसकी नियमसंगत गति में हस्तक्षेप करता है।

इन पंक्तियों के लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि वर्गाधारित समाजों के इतिहास की तुलना में आदिम समाज का इतिहास इस "शोर" से कहीं अधिक हद तक मुक्त होता है। किंतु आज भी प्रचलित यह मत सरलीकृत है कि आदिम समाज में व्यक्ति समुदाय द्वारा पूर्णतः शासित होता था, कि उसका हर क़दम पूरी तरह से, बिना किसी अपवाद के नियमों की, मर्यादा की सीमाओं में बंधा होता था। क़बीलों के मुखिया और ओझा ही नहीं, बल्कि कुशल शिकारी या विवेकी बड़े-बूढ़े क़बीलों के सभी लोगों का सम्मान पाते थे और सामुदायिक मामलों पर उनका बहुत प्रभाव होता था। किंतु ऐसा प्रभाव बहुधा किसी एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि इस व्यक्ति के सामाजिक समूह या सामाजिक संस्तर का होता था: यह कुशल आखेटकों या अनुभव के धनी वयोवृद्धों का प्रभाव होता था। आदिम समुदाय नियमतः अल्पसंख्यक होता था, इससे भी वैयक्तिक साख की अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित होता था। इसलिए आदिम मानवजाति में सिद्धांततः ऐसे "नायक" नहीं थे जो

वर्गाधारित समाज के इतिहास के लिए लाक्षणिक बने, या फिर ऐसे "नायकों" के कार्यों के परिणाम सीमित होते थे और मानवजाति के उत्सों के जितने समीप हम जायेंगे, उतना ही उनका महत्व कम पायेंगे। वर्गों के इतिहास की तुलना में आदिम मानवजाति के इतिहास में ऐतिहासिक प्रक्रिया का नियमसंगत स्वरूप अधिक शुद्ध रूप में प्रकट होता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि मानवजाति के गठन में संयोग के विपरीत नियम ने अपरिहार्यतः कार्य किया? वैज्ञानिक साहित्य में यह दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है कि सजीव द्रव्य के उच्चतर रूपों का उद्‌विकास तथा उसका मानव के उद्‌विकास में संक्रमण पूर्णतः नियमसंगत है। किंतु इसे केवल बुनियादी तौर पर ही स्वीकार किया जा सकता है। अलग-अलग आदिम समुदायों पर सांयोगिक कारकों का प्रभाव, विशेषतः मानवजाति के गठन के बिल्कुल आरंभिक चरणों में यह प्रभाव दो कारणों से प्रबल होता था: आधुनिक मानव के प्रकट होने तक के इतिहास के काल-खंड में ऐतिहासिक प्रक्रिया पर जैविक नियमों के प्रभाव द्वारा तथा उपभोगमूलक जीवन-यापन पद्धति की सीमाओं में प्राकृतिक परिघटनाओं और प्रक्रियाओं पर प्रायः पूर्ण निर्भरता द्वारा। पहले मामले में आदिम मानवजाति के अलग-अलग दलों के ऐतिहासिक भाग्य में प्राकृतिक वरण सक्रिय हस्तक्षेप करता था, दूसरे में प्रकृति की नैसर्गिक, अंधी शक्तियां। मानवजाति का नियमसंगत विकास नैसर्गिक, अंधी शक्तियों के "शोर" पर क़ाबू पाते हुए हुआ। सो, इस अंतिम अनुच्छेद के शीर्षक में व्यक्त विकल्प पर लौटते हुए हमें प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिए कहना होगा: नियम तथा नियम द्वारा शासित संयोग।

* * *

पुस्तक के आरंभ में हमने इस विचार के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये थे कि ब्रह्मांड में जीवन विरला है तथा बुद्धिसंपन्न जीवन और भी अधिक विरला है। इस धारणा की पुष्टि, एक ओर, इस बात से होती है कि ब्रह्मांड से ऐसे कोई संकेत प्राप्त नहीं हैं, जो इतर-सभ्यताओं के अस्तित्व के साक्षी हों, तथा पृथ्वी के निकटवर्ती

अंतरिक्ष में जीवन के कोई चिह्न नहीं मिले हैं, दूसरी ओर, इस बात से भी कि सैद्धांतिक विश्लेषणों द्वारा उन परिस्थितियों का परिसर बहुत संकीर्ण पाया गया है, जिनमें जीवन प्रकट हो सकता है। सभी दृष्टियों से जीवन की उत्पत्ति एक संभाव्य प्रक्रिया है, किंतु यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि यह संभावना प्रायः मूर्तित होती है।

ऐसा है वस्तुपरक वैज्ञानिक निष्कर्ष।

इसे देखते हुए हमारी अत्यंत विस्फोटक २०वीं शती में मानवजाति के कंधों पर अपार, विकल्पहीन अखिलग्रहीय और अखिलब्रह्मांडीय उत्तरदायित्व है।
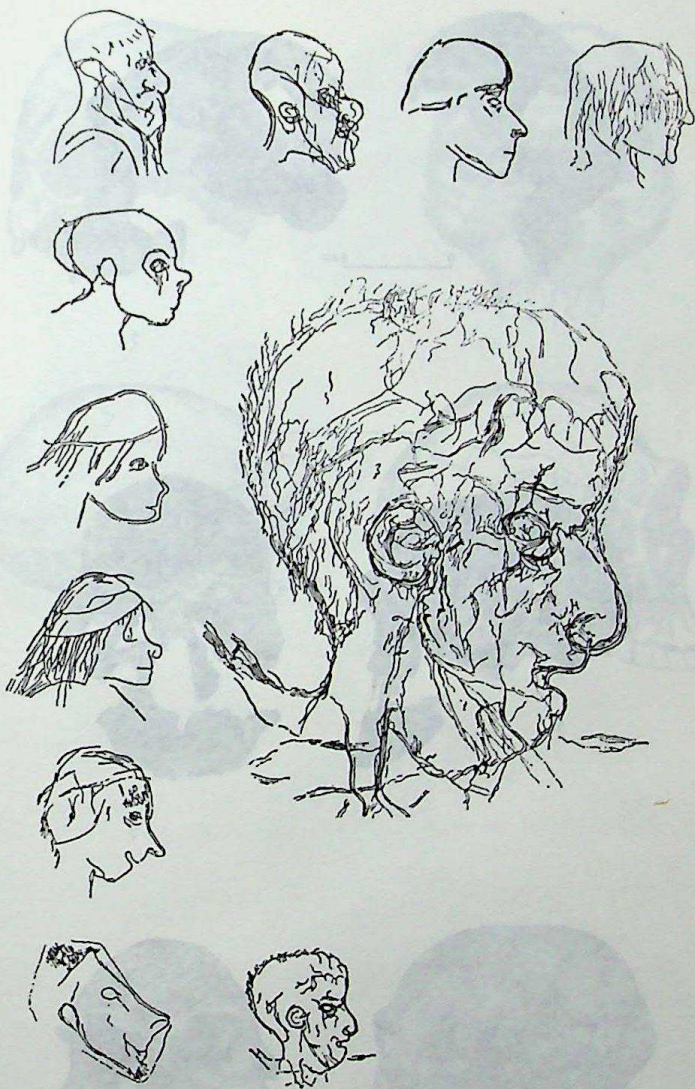
१. मानव चेहरों के पार्श्विक रेखाचित्र। ला मार्श (फ़्रांस) की पुरा-पाषाणकालीन स्थली।

0
5 cm
१
0
5 cm
२
३
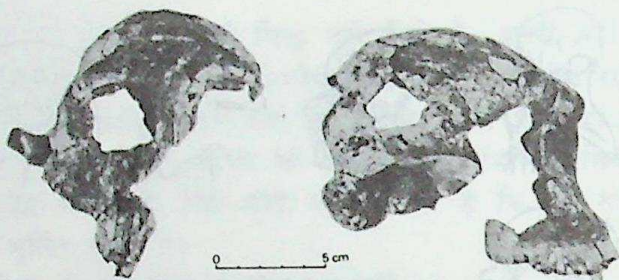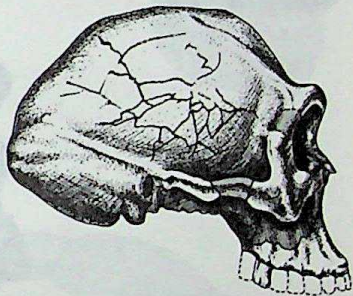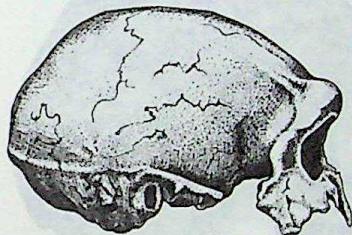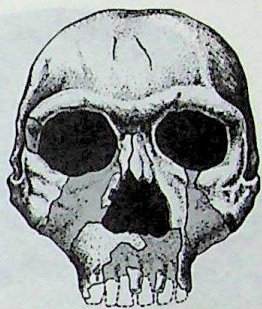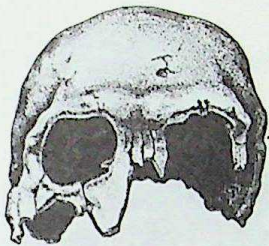
२. आस्ट्रेलोपिथेकसों और आरंभिक आर्कैंथ्रोपसों के कपाल। १–कपाल ७३२, २–कपाल १४७०, ३–कपाल १८१३, ४–कपाल ३७३३, ५–कपाल ३८८३।
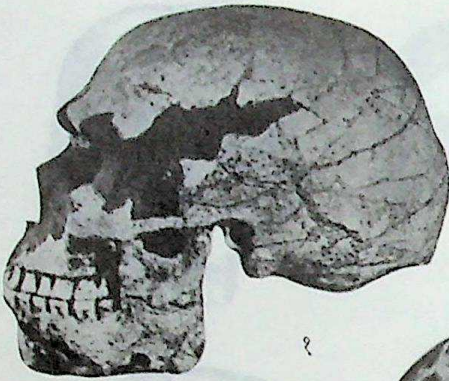
१
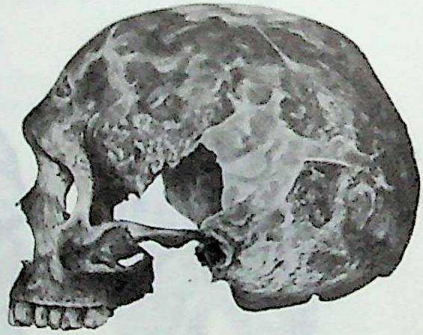
२

३. स्खूल दल। १– स्खूल V कपाल , २– कफ़ज़ेह ६ कपाल।

४. अफ़्रीकी पैलियोऐंथ्रोपस। सल्दान्या कपाल का पुनर्कल्पन।
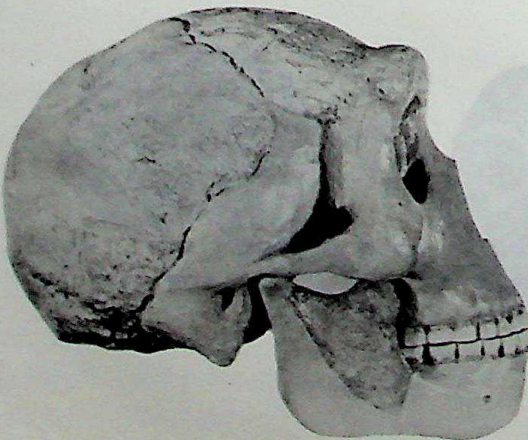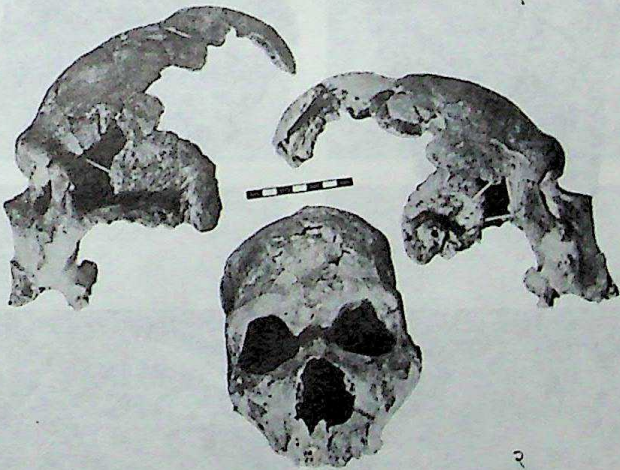
५. शनिदर गुफा (इराक़) के पैलियोऐंथ्रोपस। १–शनिदर १, २–शनिदर ५।

६.७. ओल्डुवाई युग के औज़ार।

८.९.१०.११.१२.१३. मोस्तारी युग के औज़ार। ला किना (फ़्रांस) की स्थली।

१२

१३

%
280
260
240
220
200
180
160
140
120
100

1
2

25 mil A
1.5 mil P
200 000 N
20 000 S

१४. कपाल के आयतन में उद्‌विकासमूलक वृद्धि (प्रतिशत में)। १–पुरुष, २–स्त्रियां, **A** – आस्ट्रेलोपिथेकस, **P** – आर्कैंथ्रोपस, **N**–पैलियोऐंथ्रोपस, **S** – आधुनिक मानव।
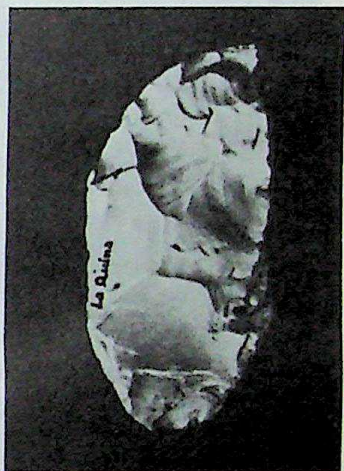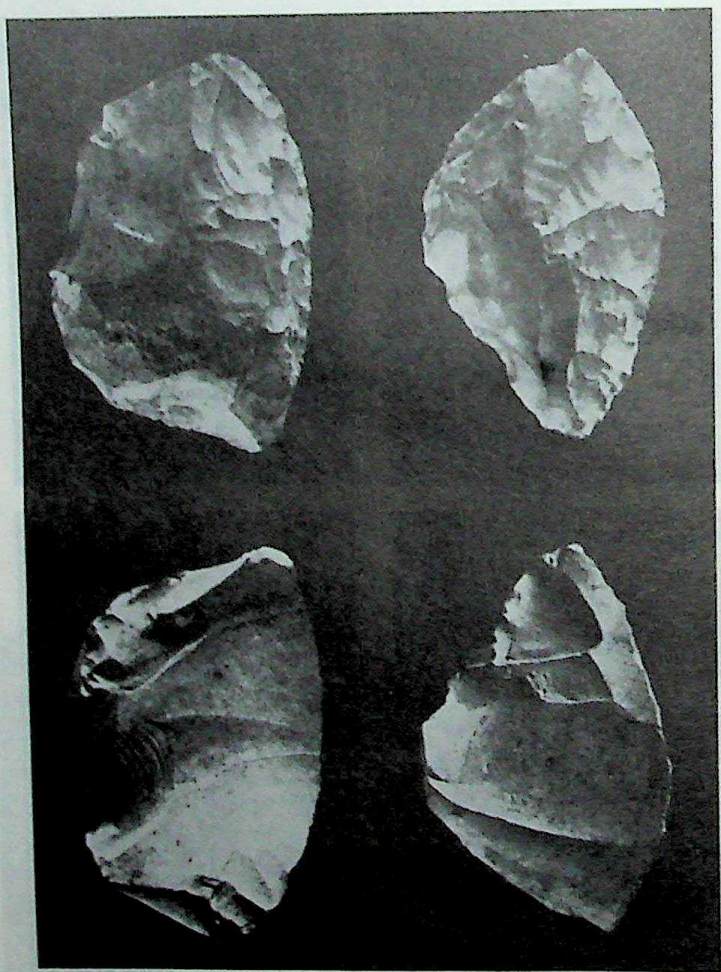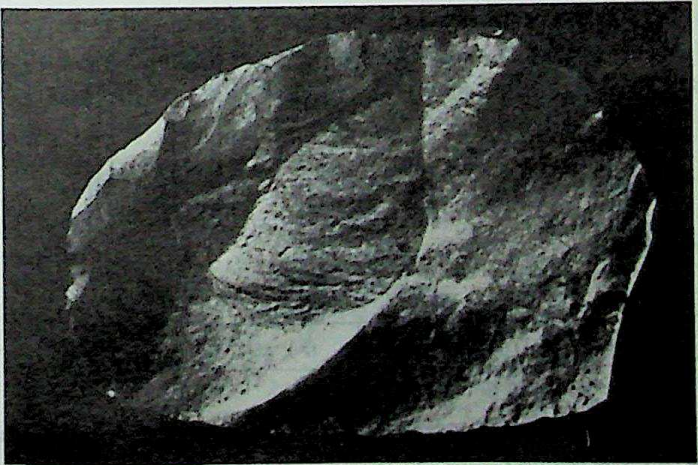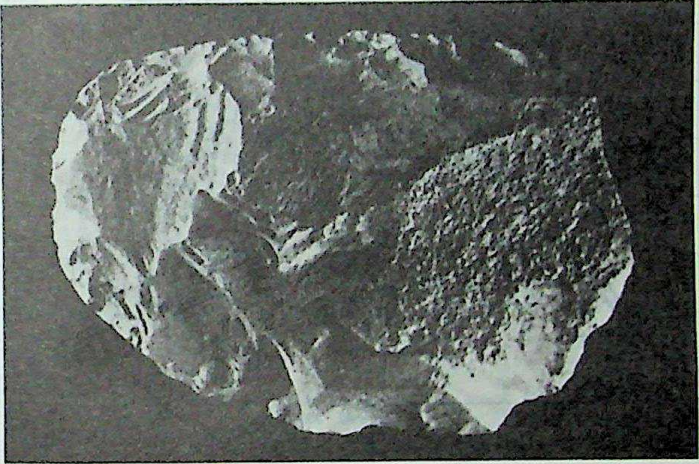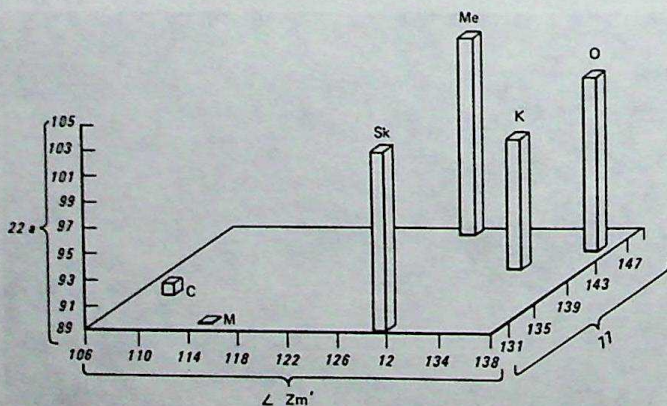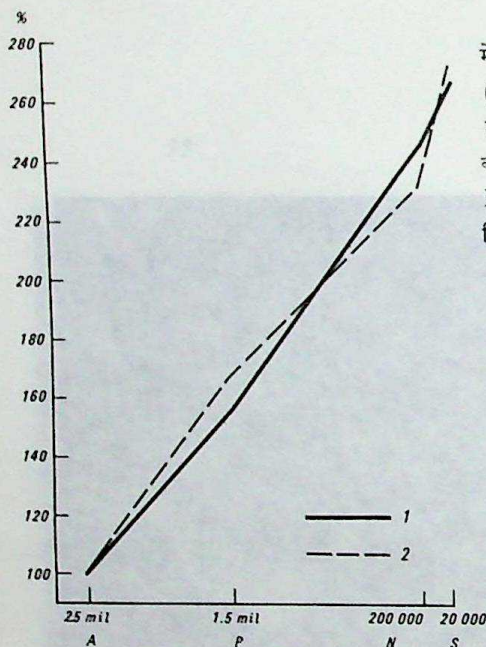
१५. पैलियोऐंथ्रोपस के यूरोपीय रूपों, उत्तर पुरापाषाणकालीन मानवों और स्खूल मानव के अनुपात।

छोटे स्तंभ – पैलियोऐंथ्रोपस, बड़े स्तंभ – उत्तर पुरापाषाण काल के मानव। **C** – शपेल-ओ-सेन, **M** – मोंते-गेर्गेओ, **Sk** – स्खूल, **Me** – म्लादेच, **K** – क्रोमेगनोन, **O** – ओबरकास्सेल, **Zm'** – जीगोमैक्सीलर कोण, **22a** – ऊंचाई-लंबाई सूचकांक, **77** – नैसोमोलर कोण।
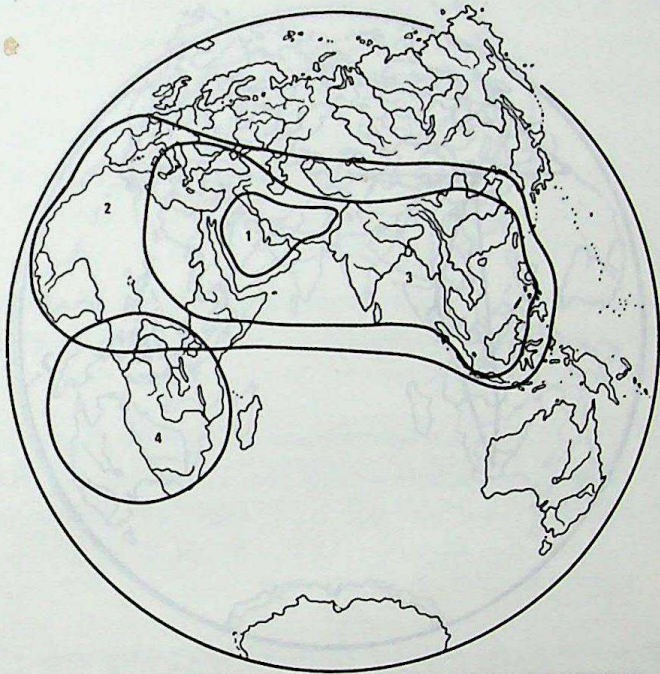
१६. विभिन्न विद्वानों के मतानुसार मानवजाति का उत्पत्तिस्थल। 1 – आ० वलुआ के मतानुसार (१९४६) ; 2 – इ० पादोप्लिच्को के मतानुसार (१९५८) ; 3 – म० नेस्तुर्ख के मतानुसार (१९६४) ; 4 – व० अलेक्सेयेव के मतानुसार (१९७४)।
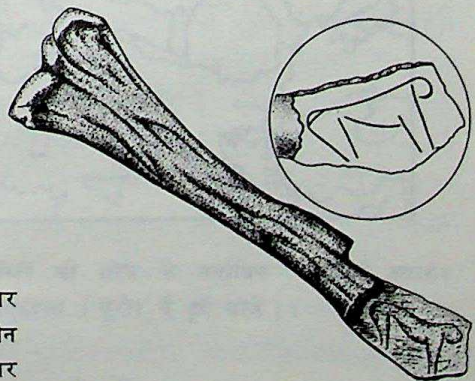
१७. तेर्नोपोल नगर के समीप पुरापाषाणकालीन स्थली के मोस्तारी संस्तर में मिली अस्थि पर बना पशु चित्र।
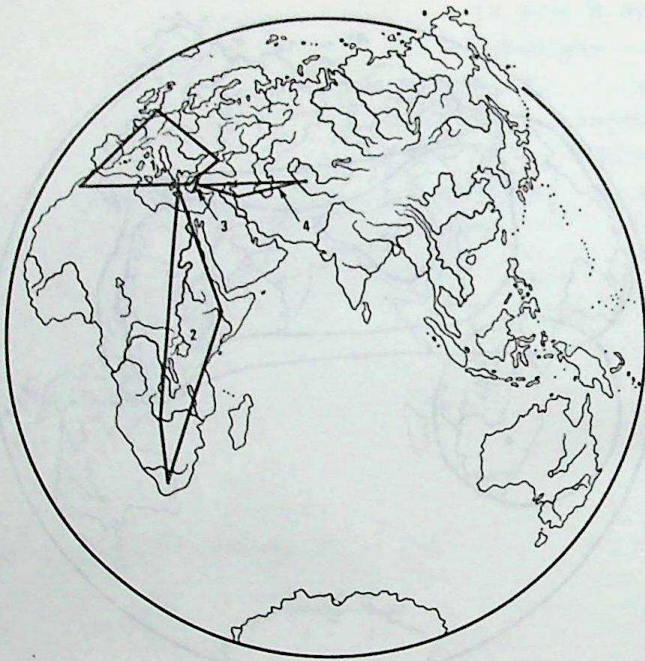
१८. नियंडरथल जाति के चार रूपों के वास-क्षेत्र। 1 – यूरोपीय नियंडरथल, 2 – अफ़्रीकी नियंडरथल, 3 – स्खूल दल के नियंडरथल, 4 – पश्चिमी एशिया के नियंडरथल।
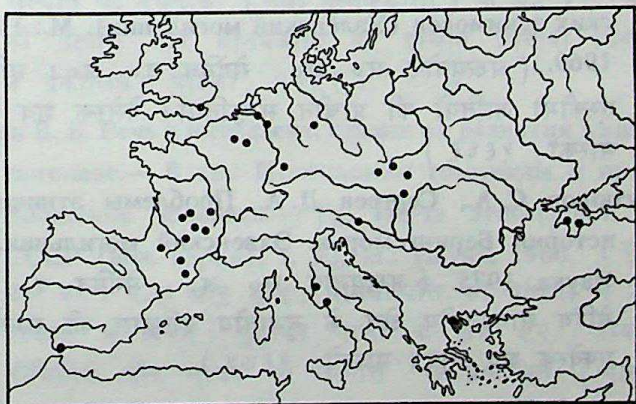
१९. जीवाश्मी होमिनिडों की खोज के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान। 1 – आर्कैंथ्रोपस, 2 – पैलियोऐंथ्रोपस (यूरोप में हुई खोजें)।

संदर्भ सूची

Алексеев В. П. Историческая антропология. М.: Высшая школа, 1979. (अलेक्सेयेव व० प०। ऐतिहासिक मानवविज्ञान। मास्को, १६७६)

Алексеев В. П. Палеоантропология земного шара и формирование человеческих рас. Палеолит. М.: Наука, 1978. (अलेक्सेयेव व० प०। पृथ्वी का पुरामानवविज्ञान तथा मानव नस्लों का गठन। पुरापाषाण काल। मास्को, १६७८)

Арутюнов С. А., Сергеев Д. А. Древние культуры азиатских эскимосов (Уэленский могильник). М.: Наука, 1969. (अरुत्यूनोव स० अ०, सेर्गेयेव द० अ०। एशियाई एस्कीमो जातियों की प्राचीन संस्कृतियां। वेलेंस्क शव स्तूप। मास्को, १६६६)

Арутюнов С. А., Сергеев Д. А. Проблемы этнической истории Берингоморья. Эквенский могильник. М.: Наука, 1975. (अरुत्यूनोव स० अ०, सेर्गेयेव द० अ०। बेरिंग सागरतटीय क्षेत्र के नृजातीय इतिहास की समस्याएं। एक्वेंस्क शव स्तूप। मास्को, १६७५)

Берг Л. С. Труды по истории эволюции. Л.: Наука, 1977. (बेर्ग ल० स०। उद्विकास के इतिहास पर रचनाएं। लेनिनग्राद, १६७७)

Борисковский П. И. Древнейшее прошлое человечества. Л.: Наука, 1979. (बोरिस्कोव्स्की प० इ०। मानवजाति का प्राचीनतम अतीत। लेनिनग्राद, १६७६)

Борисковский П. И. Древний каменный век Южной и Юго-Восточной Азии. Л.: Наука, 1971. (बोरिस्कोव्स्की प० इ०। दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया का पुरापाषाण काल। लेनिनग्राद, १९७१)

Бромлей Ю. В. Современные проблемы этнографии (очерки теории и истории). М.: Наука, 1981. (ब्रोम्लेय यू० व०। नृजातिविज्ञान की आधुनिक समस्याएं। सिद्धांत और इतिहास की रूपरेखाएं। मास्को, १९८१)

Будыко М. И. Глобальная экология. М.: Мысль, 1977. (बुदीको म० इ०। विश्व पारिस्थितिकी। मास्को, १९७७)

Бунак В. В. Происхождение речи по данным антропологии.— В кн.: Происхождение человека и древнее расселение человечества.— Тр. Ин-та этнографии АН СССР (нов. серия), т. XVI, М.: изд. АН СССР, 1951. (बुनाक व० व०। मानवविज्ञान के तथ्यों के आधार पर वाक् की उत्पत्ति। सोवियत विज्ञान अकादमी के नृजातिविज्ञान संस्थान की रचनाओं (नयी पुस्तकमाला) के खंड १६ 'मानव की उत्पत्ति और मानवजाति का प्राचीन आबादी वितरण' में प्रकाशित। मास्को, १९५१)

Бунак В. В. Речь и интеллект, стадии их развития в антропогенезе.— В кн.: Ископаемые гоминиды и происхождение человека.— Тр. Ин-та этнографии АН СССР (нов. серия), т. 92, М.: Наука, 1966. (बुनाक व० व०। वाक् और बुद्धि, मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया में उनके विकास के चरण। पूर्वोक्त माला के खंड ९२ 'जीवाश्मी होमिनिड और मानव की उत्पत्ति' में प्रकाशित (मास्को, १९६६)

Бунак В. В. Род Homo, его возникновение и последующая эволюция. М.: Наука, 1980. (बुनाक व० व०। होमो वंश, उसकी उत्पत्ति और आगे का विकास। मास्को, १९८०)

Бутинов Н. А. Папуасы Новой Гвинеи (хозяйство, об-

щественный строй). М.: Наука, 1968. (बुतीनोव न० अ०। न्यू गिनी के पपुआ लोग। जीवन-यापन, सामाजिक व्यवस्था। मास्को, १९६८)

Вагнер В. А. Биологические основания сравнительной психологии (биопсихология), т. 1-2, СПб. — М., 1910—1913. (वाग्नेर व० अ०। तुलनात्मक मनोविज्ञान के जैविक आधार। जैवमनोविज्ञान। खंड १–२। सेंट पीटर्सबर्ग – मास्को, १९१०–१९१३)

Вагнер В. А. Этюды по сравнительной психологии, вып. 1—9, Л.: Начатки знаний, 1925—1929. (वाग्नेर व० अ०। तुलनात्मक मनोविज्ञान की झांकियां। अंक १–९। लेनिनग्राद, १९२५–१९२९)

Вернадский В. И. Несколько слов о ноосфере.— Успехи современной биологии, т. XVIII, 1944, № 3. (वेर्नाद्स्की व० इ०। बुद्धिमंडल के बारे में कुछ शब्द। 'आधुनिक जीवविज्ञान की सफलताएं', खंड १८, १९४४, अंक ३)

Вернадский В. И. Об условиях появления жизни на земле.— Изв. АН СССР, 7 серия, 1931, № 5. (वेर्नाद्स्की व० इ०। पृथ्वी पर जीवन प्रकट होने की परिस्थितियां। 'सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार', सातवीं माला, १९३१, अंक ५)

Вологдин А. Г. Земля и жизнь. М.: Недра, 1976. (वोलोग्दिन अ० ग०। पृथ्वी और जीवन। मास्को, १९७६)

Выготский Л. С. Мышление и речь. М.: Гос. соц.-эконом. изд., 1934 (2-е изд.: АПН РСФСР, 1956). (विगोत्स्की ल० स०। चिंतन और वाणी। मास्को, १९३४। दूसरा संस्करण १९५६)

Григорьев Г. Н. Начало верхнего палеолита и происхождение Homo sapiens. Л.: Наука, 1968. (ग्रिगोरियेव ग० न०। उत्तर पुरापाषाण काल का आरंभ तथा होमो सेपियन्स की उत्पत्ति। लेनिनग्राद, १९६८)

Давиденков С. Н. Эволюционно-генетические проблемы в невропатологии. Л.: Гос. ин-т усовершенствования врачей, 1947. (दवीदेन्कोव स० न०। न्यूरोपैथोलॉजी में उद्विकासमूलक एवं आनुवंशिक समस्याएं। लेनिनग्राद, १९४७)

Давиташвили Л. Ш. История эволюционной палеонтологии от Дарвина до наших дней. М.—Л.: изд. АН СССР, 1948. (दविताश्विली ल० श०। डार्विन से लेकर आज तक उद्विकासमूलक जीवाश्मिकी का इतिहास। मास्को – लेनिनग्राद, १९४८)

Данилова Е. И. Эволюция руки в связи с вопросами антропогенеза. Киев.: Наукова думка, 1965 (2-е изд.: Вища школа, 1979). (दनीलोवा ये० इ०। मानवोत्पत्ति के प्रश्नों के प्रसंग में हाथ का उद्विकास। कीयेव, १९६५। दूसरा संस्करण १९७९)

Диков Н. Н. Древние культуры Северо-Восточной Азии. Азия на стыке с Америкой в древности. М.: Наука, 1978. (दीकोव न० न०। उत्तर-पूर्वी एशिया की प्राचीन संस्कृतियां। प्राचीन युग में अमरीका के साथ संधि-स्थल पर एशिया। मास्को, १९७८)

Ефимов Ю. И. Философские проблемы антропосоциогенеза. Л.: Наука, 1981. (येफ़िमोव यू० इ०। मानव-समाजोत्पत्ति के दार्शनिक प्रश्न। लेनिनग्राद, १९८१)

Замятнин С. Н. О возникновении локальных различий в культуре палеолитического периода.— В. кн.: Происхождение человека и древнее расселение человечества.— Тр. Ин-та этнографии АН СССР (нов. серия), т. XVI, М.: изд. АН СССР, 1951. (ज़म्यात्निन स० न०। पुरापाषाण काल की संस्कृति में स्थानिक भेदों का उद्भव। नृजातिविज्ञान संस्थान की रचनाओं (नयी पुस्तकमाला) के खंड १६ 'मानव की उत्पत्ति और मानवजाति का प्राचीन आबादी वितरण' में प्रकाशित। मास्को, १९५१)

Золотарев А. М. Родовой строй и первобытная мифология. М.: Наука, 1964. (ज़ोलोतार्योव अ० म०। गोत्र व्यवस्था और आदिम मिथक। मास्को, १९६४)

История и психология. М.: Наука, 1971. (इतिहास और मनोविज्ञान। मास्को, १९७१)

История эволюционных учений в биологии. М.—Л.: Наука, 1966. (जीवविज्ञान में उद्विकास सिद्धांतों का इतिहास। मास्को – लेनिनग्राद, १९६६)

Камшилов М. М. Эволюция биосферы. М.: Наука, 1974 (2-е изд. 1979). (कमशीलोव म० म०। जीवमंडल का उद्विकास। मास्को, १९७४, दूसरा संस्करण १९७९)

Карамян А. И. Методологические основы эволюционной нейрофизиологии. Л.: Наука, 1969. (कराम्यान अ० इ०। उद्विकासमूलक न्यूरोफ़िज़ियोलॉजी के प्रणालीतंत्रीय सिद्धांत। लेनिनग्राद, १९६९)

Кольцов Л. В. Финальный палеолит и мезолит Южной и Восточной Прибалтики. М.: Наука, 1977. (कोल्त्सोव ल० व०। दक्षिणी और पूर्वी बाल्टिक तटीय क्षेत्र में पुरापाषाण काल का अंत और मध्यपाषाण काल। मास्को, १९७७)

Комаров В. Л. Смысл эволюции.— В кн.: Дневник 1-го Всероссийского съезда русских ботаников в Петрограде в 1921 г. П., 1921. (переиздано в кн.: Комаров В. Л. Избр. соч., Т. 1, М.—Л.: изд. АН СССР, 1954). (कोमारोव व० ल०। उद्विकास का अर्थ। '१९२१ में पेत्रोग्राद में हुई रूसी वनस्पतिविज्ञानियों की पहली अखिल रूसी कांग्रेस की डायरी' शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित। पेत्रोग्राद, १९२१। 'कोमारोव व० ल०। संकलित रचनाएं, खंड १। मास्को–लेनिनग्राद, १९५४' में पुनः प्रकाशित)

Коржуев П. А. Эволюция, гравитация, невесомость. М.: Наука, 1971. (कोर्झुयेव प० अ०। उद्विकास, गुरुत्वाकर्षण, भारहीनता। मास्को, १९७१)

Кочеткова В. И. Палеоневрология. М.: изд. МГУ, 1973. (कोचेत्कोवा व० इ०। पैलियोन्यूरोलॉजी। मास्को, १९७३)

Кремянский В. И. Структурные уровни живой материи (теоретические и методологические проблемы). М.: Наука, 1969. (क्रेम्यान्स्की व० इ०। सजीव पदार्थ के संरचनात्मक स्तर। सैद्धांतिक और प्रणालीतंत्रीय समस्याएं। मास्को, १९६९)

Крушинский Л. В. Биологические основы рассудочной деятельности. Эволюционный и физиолого-генетический аспект поведения. М.: изд. МГУ, 1977. (क्रुशीन्स्की ल० व०। बौद्धिक सक्रियता के जैविक आधार। व्यवहार का उद्‌विकास तथा शरीरक्रियात्मक-आनुवंशिक पहलू। मास्को, १९७७)

Ладыгина-Котс Н. Н. Дитя шимпанзе и дитя человека в их инстинктах, эмоциях, играх, привычках и выразительных движениях. М.: изд. Гос. Дарвиновского музея, 1935. (लदीगिना-कोट्स न० न०। चिम्पांज़ी शावक और मानव शिशु – उनकी सहजवृत्तियां, भावनाएं, खेल, आदतें और अभिव्यंजनात्मक गतियां। मास्को, १९३५)

Ладыгина-Котс Н. Н. Приспособительные моторные навыки макака в условиях эксперимента. М.: изд. Гос. Дарвиновского музея, 1928. (लदीगिना-कोट्स न० न०। प्रयोग की परिस्थितियों में मैकाक बंदरों के अनुकूलनमूलक गतिक अभ्यास। मास्को, १९२८)

Леонтьев А. А. Возникновение и первоначальное развитие языка. М.: изд. АН СССР, 1963. (लेओन्त्येव अ० अ०। भाषा की उत्पत्ति और आरंभिक विकास। मास्को, १९६३)

Линь Яо-Хуа, Чебоксаров Н. Н. Хозяйственно-культурные типы Китая.— В кн.: Восточноазиатский этнографический сборник.— Тр. Ин-та этнографии АН СССР (нов. серия), т. XXIII, М.: изд. АН СССР,

1961. (लिन याओ हुआ, चेबोक्सारोव न० न०। चीन के आर्थिक-सांस्कृतिक प्ररूप। सोवियत विज्ञान अकादमी के नृजाति-विज्ञान संस्थान की रचनाओं (नयी पुस्तकमाला) के खंड २३ 'पूर्व एशियाई नृजातिवर्णन संग्रह' में प्रकाशित। मास्को, १९६१)

Лурия А. Р. Основные проблемы нейролингвистики. М.: изд. МГУ, 1975. (लूरिया अ० र०। तंत्रिकाभाषाविज्ञान की मूलभूत समस्याएं। मास्को, १९७५)

Любин В. П. Нижний палеолит Кавказа (история исследования, опорные памятники, местные особенности). — В кн.: Древний Восток и мировая культура. М.: Наука, 1981. (ल्यूबिन व० प०। काकेशिया का पूर्व पुरापाषाण काल। अध्ययन का इतिहास, प्रमुख स्मारक, स्थानीय विशेषताएं। 'प्राचीन पूर्व और विश्व संस्कृति' शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित। मास्को, १९८१)

Малигонов А. А. Избр. труды. М.: Колос, 1968. (मलीगोनोव अ० अ०। संकलित रचनाएं। मास्को, १९६८)

Маркарян О. С. О генезисе человеческой деятельности и культуры. Ереван, 1973. (मर्कार्यान ओ० स०। मानव सक्रियता और संस्कृति की उत्पत्ति। येरेवान, १९७३)

Маркарян О. С. Очерки теории культуры. Ереван, 1969. (मर्कार्यान ओ० स०। संस्कृति के सिद्धांत की रूपरेखा। येरेवान, १९६९)

Мегрелидзе К. Р. Основные проблемы социологии мышления. Тбилиси: Мацниереба, 1965. (मेग्रेलीद्ज़े क० र०। चिंतन के समाजविज्ञान की मूलभूत समस्याएं। त्बिलिसी, १९६५)

Мещанинов И. И. Общее языкознание. К проблеме стадиальности в развитии строя предложения. М.—Л.: изд. АН СССР, 1940 (2-е изд. в кн.: Мещанинов И. И. Проблемы развития языка. Л.: Наука, 1975). (मेश्चानीनोव इ० इ०। सामान्य भाषाविज्ञान। वाक्य-रचना के विकास

में अवस्थाओं की समस्या। मास्को – लेनिनग्राद, १९४०। दूसरा संस्करण: मेश्चानीनोव इ० इ०। भाषा के विकास की समस्याएं। लेनिनग्राद, १९७५)

Монин А. С. История земли. Л.: Наука, 1977. (मोनिन अ० स०। पृथ्वी का इतिहास। लेनिनग्राद, १९७७।)

Общество и природа. Исторические этапы и формы взаимодействия. М.: Наука, 1981. (समाज और प्रकृति। ऐतिहासिक चरण और अन्योन्यक्रिया के रूप। मास्को, १९८१)

Орлов Ю. А. Палеоневрология как один из разделов палеонтологии позвоночных.— В кн.: Памяти академика А. А. Борисяка.— Тр. Палеонтологического ин-та АН СССР, т. XX, М.—Л.: изд. АН СССР, 1949. (ओर्लोव यू० अ०। कशेरुकी जीवों की जीवाश्मिकी की शाखा के नाते पैलियोन्यूरोलॉजी। अकादमीशियन अ० अ० बोरिस्याक स्मृति ग्रंथ। सोवियत विज्ञान अकादमी के जीवाश्मिकी संस्थान की रचनाएं, खंड २०। मास्को – लेनिनग्राद, १९४९)

Охотники, собиратели, рыболовы. Проблемы социально-экономических отношений в доземледельческом обществе. Л.: Наука, 1972. (आखेटक, संग्रहकर्ता, मछेरे। प्राक्कृषि समाज में सामाजिक-आर्थिक संबंधों की समस्याएं। लेनिनग्राद, १९७२)

Первобытный человек и природная среда. М.: Наука, 1974. (आदि मानव और प्राकृतिक पर्यावरण। मास्को, १९७४)

Перельман А. И. Геохимия. М.: Высшая школа, 1979. (पेरेलमान अ० इ०। भूरसायन। मास्को, १९७९)

Першин А. И. К вопросу о «третьем типе» социальной организации первобытности.— Сов. этнография, 1970, № 2. (पेर्शिन अ० इ०। आदिम युग के सामाजिक संगठन के "तीसरे प्ररूप" के प्रश्न पर। 'सोवियत नृजातिविज्ञान', १९७०, अंक २)

Першин А. И. Развитие форм собственности в первобытном обществе как основа периодизации его истории.— Тр. Ин-та этнографии АН СССР (нов. серия), т. IV, М.—Л.: изд. АН СССР, 1960. (पेर्शिन अ० इ०। आदिम समाज में स्वामित्व के रूपों का विकास – उसके इतिहास के काल-निर्धारण का आधार। नृजातिविज्ञान संस्थान की रचनाएं (नयी पुस्तकमाला), खंड ४। मास्को – लेनिनग्राद, १९६०)

Петухов С. В. Биомеханика, бионика и симметрия. М.: Наука, 1981. (पेतुख़ोव स० व०। जैवयांत्रिकी, जैवनिकी और सममिति। मास्को, १९८१)

Поршнев Б. Ф. О начале человеческой истории (проблемы палеопсихологии). М.: Мысль, 1974 (2-е изд. 1976). (पोर्शनेव ब० फ़०। मानव इतिहास का आरंभ। पुरामनोविज्ञान की समस्याएं। मास्को, १९७४। दूसरा संस्करण १९७६)

Поршнев Б. Ф. Социальная психология и история. М.: Наука, 1966. (पोर्शनेव ब० फ़०। सामाजिक मनोविज्ञान और इतिहास। मास्को, १९६६)

Рогинский Я. Я. Проблемы антропогенеза. М.: Высшая школа, 1969 (2-е изд. 1977). (रोगीन्स्की या० या०। मानवोत्पत्ति की समस्याएं। मास्को, १९६९। दूसरा संस्करण १९७७)

Русалов В. М. Биологические основы индивидуально-психических различий. М.: Наука, 1979. (रुसालोव व० म०। व्यक्तिगत-मानसिक भेदों के जैविक आधार। मास्को, १९७९)

Тих Н. А. Предыстория общества (сравнительно-психологическое исследование). Л.: изд. ЛГУ, 1970. (तीख़ न० अ०। समाज का प्रागैतिहास। तुलनात्मक-मनोवैज्ञानिक अध्ययन। लेनिनग्राद, १९७०)

Токарев С. А. Истоки этнографической науки (до середины XIX в.) М.: Наука, 1978. (तोकारेव स० अ०।

नृजातिविज्ञान के उत्स। १६वीं शती के मध्य तक। मास्को, १६७८)

Урсул А. Д. Информация. Методологические аспекты. М.: Наука, 1971. (उर्सुल अ० द०। सूचना। प्रणालीतंत्रीय पहलू। मास्को, १६७१)

Фабри К. Э. О подражании у животных.— Вопросы психологии, 1974, № 2. (फ़ाब्री क० ए०। पशुओं में अनुकरण। 'मनोविज्ञान के प्रश्न', १६७४, अंक २)

Файнберг Л. А. У истоков социогенеза. От стада обезьян к общине древних людей. М.: Наука, 1980. (फ़ाइनबर्ग ल० अ०। समाजोत्पत्ति के उत्स। वानर यूथ से प्राचीन मानव समुदाय तक। मास्को, १६८०)

Фирсов Л. А., Плотников В. Ю. Голосовое поведение антропоидов. Л.: Наука, 1981.(फ़ीर्सोव ल० अ०, प्लोत्निकोव व० यू०। मानवाभों का स्वर-व्यवहार। लेनिनग्राद, १६८१)

Формозов А. А. Проблемы этнокультурной истории каменного века на территории европейской части СССР. М.: Наука, 1977. (फ़ोर्मोज़ोव अ० अ०। सोवियत संघ के यूरोपीय भाग के पाषाणकालीन नृजातीय-सांस्कृतिक इतिहास की समस्याएं। मास्को, १६७७)

Фрадкин Э. Е. Особый вид искусства первобытного человека.— Вестник АН СССР, 1969, № 10. (फ़ाद्किन ए० ये०। आदि मानव की कला का विशिष्ट रूप। 'सोवियत विज्ञान अकादमी दूत', १६६६, अंक १०)

Фролов Б. А. Числа в графике палеолита. Новосибирск: Наука, 1974. (फ़्रोलोव ब० अ०। पुरापाषाण काल की कला में संख्याएं। नोवोसिबीर्स्क, १६७४)

Черныш А. П. Остатки жилища мустьерского времени на Днестре.— Сов. этнография, 1960, № 1. (चेर्निश

अ० प०। द्नेस्त्र तट पर मुस्तारी युग के आवास के अवशेष। 'सोवियत नृजातिविज्ञान', १९६०, अंक १)

Шевченко Ю. Г. Эволюция коры мозга приматов и человека. М.: изд. МГУ, 1971. (शेव्चेन्को यू० ग०। वानरों और मानव के कार्टेक्स का उद्‌विकास। मास्को, १९७१)

Шипунов Ф. Я. Организованность биосферы. М.: Наука, 1980. (शिपुनोव फ़० या०। जीवमंडल का संगठन। मास्को, १९८०)

Шкловский И. С. Вселенная, Жизнь, Разум. М.: Наука, 1976. (श्क्लोव्स्की इ० स०। ब्रह्मांड, जीवन, बुद्धि। मास्को, १९७६)

Шкловский И. С. О возможной уникальности разумной жизни во Вселенной.— Вопросы философии, 1976, № 9. (श्क्लोव्स्की इ० स०। ब्रह्मांड में बुद्धिसंपन्न जीवन की संभाव्य अद्वितीयता। 'दर्शन के प्रश्न', १९७६, अंक ९)

Шмальгаузен И. И. Кибернетические вопросы биологии. Новосибирск, 1968. (श्मालगाउज़ेन इ० इ०। जीवविज्ञान के साइबरनेटिक प्रश्न। नोवोसिबीर्स्क, १९६८)

Шубаев Л. П. Общее землеведение. М.: Высшая школа, 1977. (शुबायेव ल० प०। सामान्य पृथ्वीविज्ञान। मास्को, १९७७)

Эволюционная физиология, ч. I. Л.: Наука, 1979. (उद्‌विकासमूलक शरीरक्रियाविज्ञान, भाग १। लेनिनग्राद, १९७९)

Этнография как источник реконструкции истории первобытного общества. М.: Наука, 1979. (आदिम समाज के इतिहास के पुनर्कल्पन के स्रोत के नाते नृजातिविज्ञान। मास्को, १९७९)

Alexeev V. Gedanken zur Dynamik der Biosphäre und der Evolution der Menschheit.— In: Monsch und Umwelt. Jena: Friedrich Schiller Universität, 1973.

Atlas of Primitive Man in China. Beijing, China, 1980.

Axelrod D., Baily H. Cretaceous Dinaosaur Extinction.— Evolution, vol. 22, 1968, № 3.

Bartstra G. Contribution to the Study of the Palaeolithic Fajitan Culture, Java, Indonesia, part I, London, 1976.

Berg L. Nomogenessis or Evolution by Law. London, 1926.

Bertalanffy von L. General Systems Theory.— In: General Systems, vol. I, 1956.

Biosocial Anthropology. London, 1975.

Bogoras W. Chukchee, vol. I-IV, Leiden-New York, 1904—1910.

Bordes F. The Old Stone Age. New York-Toronto, 1968.

Bourdier F. Préhistoire de la France. Paris, 1967.

Bourguignon E. Psychological Anthropology.— In: Handbook of Social and Cultural Anthropology (ed. by I. Honigmann). Chicago, 1973.

Brain C. Some Principles in the Interpretation of Bone Accumulations Associated with Man.— In: Human Origin. Menlo Park, 1976.

Brown H. Structural Levels in the Schientist's World.— Journal of Philosophy, 1917.

Butzer K. Environment and Archaeology. An Ecological Approach to Prehistory. Chicago-New York, 1971.

Calibration in Hominoid Evolution. Recent Advances in Isotopic and Other Dating Methods Applicable to the Origin of Man. Edinburg, 1972.

Chance M., Jolly C. Social Groups of Monkeys, Apes and Man. New York, 1970.

Conen V. (ed.). Man in Adaptation, vol. I-II, Chicago, 1969.

Conroy G. New Evidence of Middle Pleistocene Hominids From the Afar Desert, Ethiopia. Anthropos, T. 7, 1980.

Coon C. The Origin of Races. London, 1963.

Dart R. The Osteodontokeratic Culture of Australopithecus Prometheus.— Transvaal Museum Memara, № 10, Pretoria, 1957.

Day M., Leakey R., Walker A., Wood B. New Hominids, from East Rudolf, Kenya.— Amer. journal of physical anth. (new series), vol. 42, 1975, № 3.

Dewsbury D. Comparative Animal Behaviour. New York, 1979.

Dobzhanky Th. Evolution, Genetics and Man, New York-London, 1955.

Early Hominids of Africa. London, 1978.

Edinger T. Die fossilen Gehirne.— Ergebnisse der Anatomie und Entwicklungsgeschichte, Bd. 28, 1929.

Feustel R. Adbstammungsgeschichte des Menschen. Jena, 1976.

Fossils in the Making. Vertebrate taxonomy and paleoecology. Chicago-London, 1980.

Geodakian V. Natural Selection of Spermatozoids.— In: Natural Selection. Proceedings of the International Symposium, Liblice, June 5-9, 1978, Praha, 1978.

Gerard R. Higher Levels of Integration.— In: Levels of Integration in Biological and Sociological Systems. Ann Arbor, 1942.

Gregory W., Hellman M. The Dentition of the Extinct South African Man-Ape Australopithecus (Plesianthropus)

Transvaalesis Broom. A comparative and phylogenetic study.— Annals of the Transvaal Museum, vol. XIX, part 4, Cambridge, 1939.

Haldane I. The Origin of Life.— The Rationalist Annual, 1929

Hall E. Proxemics.— Current Anthropology, vol. 9, 1968, № 2-3

Hani J. Evolution of Primate Social Structure.— Journal of Human Evolution, vol. 6, 1977, № 3.

Harcourt A. Strategies of Enigration and Transfer by Primates, with Particular Reference to Gorillas.— Zeitschrift für Tierpsychologie, B. XLVIII, 1978, H. 4.

Haunis D. Agricultural Systems, Ecosystems and the Origins of Agriculture.— In: Ucko J., Dimbleby G. (ed.) The Domestication and Exploration of Plants and Animals. London, 1969.

Holloway R. The Casts of Fossil Hominid Brains.— Scientific American, 1974, July.

Höpp G. Evolution der Sprache und Vernunft. Berlin-Heidelberg-New York, 1970.

Isaac G., Harris J. Archaeology.— In: Koobi Fora Research Project, vol. 1. The Fossil Hominids and an Introduction to Their Context 1968-1974 (ed. by M. Leakey and R. Leakey). Oxford, 1978.

Isaac G. The Food-Gathering Behaviour of Protohuman Hominids.— Schientific American, 1978, April.

Itani, J., Suzuki A. The Social Unit of Chimpanzees.— Primates, vol. 8, 1967, Nos. 3-4.

Kennedy J. Cultural Psychatry.— In: Handbook of Social and Cultural Anthropology (ed. by I. Honingmann). Chicago, 1973.

Kimura M., Ohta T. Theoretical Aspects of Population Genetics. Princeton, 1971.

Kochetkova V. Paleoneurology. Washington, 1978.

Kummer H. Primate Societies. Chicago, 1971.

Laughlin W. Aleuts: Survivors of the Bering Land Bridge. New York-Chicago-San Francisco, 1980.

Leakey L. Olduvai Gorge 1951-1961, vol. I, Cambridge, 1965.

Lee R., De Vore I. (ed.) Man the Hunter. Chicago, 1968.

Lenneberg E. Biological Foundations of Language. New York, 1967.

Lévi-Strauss C. Anthropologie structurale. Paris, 1958.

Leiberman Ph. More on Hominid Evolution, Speech and Language.— Current Anthropology, vol. 18, 1977, № 3.

Lieberman Ph. On the Origins of Language: an Introduction to the Evolution of Human Speech. New York, 1975.

Lieberman Ph. The Speech of Primates. The Hague, 1972.

Lindzey G., Aronson E. The Handbook of Social Psychology. vol. 1-5, London-Ontario, 1954 (2-nd printing: 1968).

Ludwig W. Symmetrieforschung im Tierreich.— Studium generał, B. 2, 1949, № 4-5.

Mania D., Dietzel A. Begegnung mit dem Urmenschen. Die Funde von Bilzingsleben. Leipzig-Jena-Berlin, 1960.

Mann A. Paleodemographic Aspects of the South African Australopithecines.— University of Pennsylvania, publications in anthropology, № 1, Philadelphia, 1975.

Marshack A. Some Implications of the Paleolithic Symbolic Evidence for the Origin of Language.— Current Anthropology, vol. 17, 1976, № 2.

Marshack A. The Roots of Civilisation. New York, 1972.

Matthew W. Climate and Evolution.— Special Publications

of the New York Academy of Sciences, vol. I, New York, 1939.

Mayr E. Taxonomic Categories in Fossil Hominids.— Cold Spring Harbor Symposia on Quantitative Biology, vol. 15, 1950.

Meyen S. Plant Morphology in its Nomothetical Aspects.— Botanical Review, vol. 39, 1973.

Molecular Biology. Genes and Proteins in the Evolutionary Ascent of the Primates. New York-London, 1975.

Mounin G. Language, Communication, Chimpanzee.— Current Anthropology, vol. 17, 1976, № 1.

Movius H. Early Man and Pleistocene Stratigraphy in Southern and Eastern Asia.— Papers of the Peabody Museum of Amer. Archeology and Ethnolog., vol. XIX, Cambridge, Massachusettes, 1944, № 3.

Muller-Karpe H. Handbuch der Vorgeschichte, Bd. I, Altsteinzeit. München, 1966.

Natural Selection. Proceedings of the International Symposium, Liblice, June 5—9, 1978, Praha, 1978.

Oakley K. Grameworks for Dating Fossil Man. Chicago, 1964.

Oakley K., Campbell B., Mollenson Th. (ed.) Catalogue of Fossil Hominids, vol. I-III, London, 1967-1975.

Oparin A. The Origin of Life on Earth. New York, 1957.

Osman Hill W. Primates. Comparative Anatomy and Taxonomy, vol. I-VIII, Edingburgh, 1953-1974.

Rightmere G. Granial Remains of Home Erectus From Beds II and V, Olduvai Gorge, Tanzania,— Amer. Journal of Phys. Anthropology (new series), vol. 51, 1979, № 1.

Rivers W. The Todas. London, 1906.

Sahlins M. The Origin of Society.— Scientific American, vol. 203, 1960, № 3.

Selye H. The Stress of Life. New York, 1956.

Schaller B. The Mountain Gorilla. Ecology and behaviour. Chicago-London, 1963.

Schwidetsky I. Schimpansisch, Urmongolisch, Indogermanisch, Leipzig, 1932.

Sebeck Th. (ed.) How Animals Communicate. Bloomington, Indiana University Press, 1977.

Segal J. Surface Membrances in Coacervates and Celles.— In: Evolutionary Biology. Proceedings of the International Conference, Liblice, June 2-8, 1975, Praha, 1976.

Seligman B. The Problem of Incest and Exogamy.— Amer. Anthropologist, vol. 52, 1950, № 3.

Sellars R. L'hypothèse d'émérgence.— Revue de metaphisique et de morale, t. XL, 1933, № 3.

Sellnow I. Crundprinzipien einer Periodisierung der Urgeschichte. Berlin, 1961.

Simpson G. The Principles of Classification and a Classification of Mammals.— Bulletin of the Amer. Museum of Natural History, vol. 85, New York, 1945.

Socioecology and Psychology of Primates. Paris, 1975.

Stewart T. The Neanderthal Skeletal Remains From Shanidar Cave, Irag a summary of findings to date.— Proceedings of the Amer. Philosophical Society, vol. 121, 1977.

Streinger Ch., Clark Howell F., Melemtis I. The Significance of the Fossil Hominid Skull from Petralona, Greece.— Journal of Archaeological Science, vol. 6, 1979.

Teleki G. The Predatory Behaviour of Wild Chimpanzees. Lewisberg, 1973.

Tobias Ph. The Brain in Hominid Evolution. New York-London, 1971

Tobias Ph. The Cranium and Maxillary Dentition of Australopithecus (Zinjanthropus boisei). Cambridge, 1967.

Trinkaus E. The Shanidar Neanderthals. New York, 1983.

Vallois H. La durée de la vie chez homme fossile.— L'Anthropologie, t. 47, 1937, № 5-6.

Vallois H. The Social Life of Early Man: the Evidence of Skeletons.— In: Social life of early man. New York, 1961.

Verkes R., Learned B. Chimpanzee Intelligence and its Vocal Expressions. Baltimore, 1925.

Vernadsky V. Geochemie in ausgewählten Kapiteln. Leipzig, 1930.

Vernadsky V. La biosphère. Paris, 1929.

Walker A., Leakey R. The Hominids of East Turkana.— Scientific American, 1978, August.

Weidenreich F. The Duration of Life of Fossil Man in China and the Pathological Lesions Found in his Skeleton.— Chinese Medical Journal, vol. 55, 1939.

Wilson E. O. Sociobiology. A New Synthesis. Cambridge, Massachusettes, 1975.

Wind J. Langage articulé chez les Neandertaliens?— In: Les processus de l'homisation. Paris, 1981.

Walberg D. The Hypothesized Osteedentokeratic Culture of the Australopithecines: a Look at the Evidence and Opinions.— Current Anthropology, vol. 11, 1970, № 1.

Wolpoff M. Cranial Remains of Middle Pleistocene European Hominids.— Journal of Human Evolution, vol. 9, 1980.

Wolpoof M. Paleoanthropology. New York, 1980.

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद, विषयवस्तु और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।

सोवियत विज्ञान अकादमी के सहसदस्
अलेक्सेयेव आदिम इतिहास की अनेक
के मर्मज्ञ हैं। 'ऐतिहासिक मानवविज्ञान'
नस्लों का भूगोल', 'पूर्वी यूरोप के ज
मूल', आदि उनके कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं। सोवि
भारत और क्यूबा में तथा अन्य कुछ देशों
पचास से अधिक उत्खनन अभियानों का संचालन
किया है।

उद्विकास के किन चरणों से गुजरते हुए मनुष्य के पूर्वज वानरों का आधुनिक मानव में संक्रमण हुआ, किस प्रकार श्रम करना सीखते हुए मानव मानव बना, भाषा की उत्पत्ति और मानव मानस का विकास कैसे हुआ, आदि मानव के समुदायों में सामाजिक संबंध कैसे बने – मानवोत्पत्ति के इन विभिन्न पहलुओं पर लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में काफ़ी विस्तार और गहराई से विचार किया है।

प्रगति प्रकाशन

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh